

सन्त चरनदास

राधास्वामी सत्संग ब्यास

सन्त चरनदास

जीवन और उपदेश

डॉ. टी. आर. शंगारी

राधास्वामी सत्संग ब्यास

मिटते सँ मत प्रीत करि, रहते सँ करि नेह ।
झूठे कूँ तजि दीजिये, साँचे में करि गेह ॥

सन्त चरनदास

ॐ न्नपूर्ण®
Charitable Trust
WZ-5A/1, Ram Nagar,
Choukhundi Chowk,
New Delhi-110018

विषय-सूची

प्रकाशक की ओर से	9
पाठकों से निवेदन	11
भूमिका	13
जीवन	19
वाणी: कलात्मक पक्ष, शैली और विषय-वस्तु	57
उपदेश	67
मूल सिद्धान्त-1	69
मूल सिद्धान्त-2	88
मूल सिद्धान्त-3	102
परमात्मा की खोज	115
गुरु-भक्ति	125
गुरु की पहचान	137
वक्त्र का गुरु	145
नाम	155
शब्द या नाम की साधना	173
कर्म और फल	197
इन्द्रियों के भोग और मन के विकार	210
करनी का महत्त्व	219
विश्वास और सूरमापन	228
चेतावनी	239
जीवन का लक्ष्य तथा उसकी सिद्धि	253

संकलित वाणी	267
सतगुरु-महिमा	269
सतगुरु-भक्ति	271
महिमा गुरु-सेवा	272
भक्तों की महिमा	273
विरह और प्रेम का अंग	274
इन्द्रियों का अंग	276
आँख	277
कान	277
जिह्वा	277
त्वचा	278
नासिका	279
पाँच विकारों का अंग	279
काम	280
क्रोध	280
मोह	281
लोभ	282
अहंकार	283
सुमिरन का अंग	284
पतिव्रता का अंग	287
सील का अंग	288
चुने हुए दोहे	291
विविध शब्द	299
सन्दर्भ-सूची	338
सन्दर्भ-ग्रन्थ	349
शब्दानुक्रमणिका	351
विषयानुक्रमणिका	354
हमारे प्रकाशन	358

भूमिका

सामग्री

सन्तों-महात्माओं के उपदेश के सम्बन्ध में कुछ लिखते समय अक्सर यह कठिनाई सामने आती है कि उनकी वाणी शुद्ध रूप में नहीं मिलती। उनके जीवन का वृत्तान्त लिखना तो और भी कठिन हो जाता है, क्योंकि उनके जीवन के सम्बन्ध में विश्वसनीय सामग्री नहीं के बराबर होती है। सन्त चरनदास जी के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। आप ऐतिहासिक दृष्टि से हमसे अधिक दूर नहीं हैं। आपकी वाणी *भक्ति-सागर* नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हो चुकी है और उपलब्ध है। यह ग्रन्थ लगभग आठ सौ पृष्ठों का है। इसमें विभिन्न विषयों पर उनकी छोटी-बड़ी कई रचनाएँ सम्मिलित हैं।

सन्त चरनदास जी के जीवन के सम्बन्ध में आपके जीवन-काल में ही चर्चा होने लगी थी। आपके निधन के तुरन्त बाद आपके तीन प्रेमी शिष्यों – श्री रामरूप जी, श्री जोगजीत जी और श्री जसराज जी 'उपकारी' ने अपने सतगुरु के जीवन और उपदेश के सम्बन्ध में *श्री गुरु-भक्ति प्रकाश*, *श्री लीला सागर* और *भक्त बावनी* नामक काव्य-ग्रन्थों की रचना की। इन काव्य-ग्रन्थों में आपके जीवन और उपदेश के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। आपकी शिष्या सहजोबाई ने भी अपने कुछ पदों में अपने गुरुदेव के जन्म-समय, जन्म-स्थान और वंश तथा परिवार के बारे में जानकारी दी है।

सन्त चरनदास जी के बारे में लिखने का कार्य केवल उनके शिष्यों तक ही सीमित नहीं रहा। आपके शिष्यों के शिष्यों ने भी अपने दादा-गुरु के जीवन और उपदेश के सम्बन्ध में अनेक रचनाएँ रची हैं। यह क्रम उन्नीसवीं

शताब्दी के मध्य तक तेजी से और बाद में कुछ मन्द गति से चलता रहा। आपके नाम और उपदेश से जुड़े चरनदासी या शुक सम्प्रदाय* के कवियों की गिनती सैकड़ों में की जाती है और उनकी प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं की गिनती हजारों में बतायी जाती है।

सन्त चरनदास जी के जीवन और उपदेश के विषय में सामग्री एकत्रित करने और उस पर विचार करने का कार्य केवल साम्प्रदायिक और धार्मिक स्तर पर नहीं, विशुद्ध साहित्यिक और ऐतिहासिक स्तर पर भी निरन्तर जारी रहा है। जेम्स हेस्टिंग्स, एच. एच. विल्सन, विलियम क्रुक्स और सर जॉर्ज ग्रियर्सन जैसे पश्चिमी विद्वानों ने इस ओर सबसे पहले कदम उठाया। इस क्षेत्र में काम करने वाले भारतीय विद्वानों में डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित, डॉ. क्षितिमोहन सेन, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थवाल, डॉ. रामकुमार वर्मा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी और डॉ. श्याम सुन्दर शुक्ल प्रमुख हैं। इन सभी ने तथा कुछ अन्य विद्वानों ने, जिनमें प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', बाबू ब्रजरतनदास, पं. गणेश प्रसाद द्विवेदी और डॉ. अवधबिहारी लाल कपूर आदि शामिल हैं, सन्त चरनदास जी पर प्रचुर मात्रा में अच्छे साहित्यिक और आलोचनात्मक स्तर की सामग्री प्रस्तुत की है। अकेले डॉ. श्यामसुन्दर शुक्ल का बारीक टाइप में प्रकाशित 800 पृष्ठों का *चरणदासी सम्प्रदाय और उसका साहित्य* नामक शोध-ग्रन्थ सन्त चरनदास जी के जीवन और उपदेश पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इसमें अपने समय के धार्मिक तथा राजनीतिक वातावरण में चरनदास जी के उपदेश के ऐतिहासिक महत्त्व पर ही नहीं बल्कि उसके अन्य पहलुओं पर भी विस्तार और गहराई के साथ विचार किया गया है। इससे पूर्व डॉ. त्रिलोकी नारायण दीक्षित अपने शोध-ग्रन्थ में आपके जीवन और उपदेश के सम्बन्ध में उच्च स्तर की विद्वत्तापूर्ण सामग्री एकत्रित कर चुके थे। हमारा अभिप्राय आपके जीवन और वाणी के सम्बन्ध में किसी नये स्रोत को ढूँढ़ना या किसी नयी सामग्री को एकत्रित करना नहीं है, बल्कि एक मध्यम आकार की रचना द्वारा सन्त चरनदास जी के जीवन

* चरनदास जी के गुरु श्री शुकदेव जी के नाम पर प्रचलित सम्प्रदाय को शुक सम्प्रदाय कहा जाता है।

के विषय में संक्षिप्त जानकारी देना और उनकी वाणी में उपलब्ध सन्तमत के मूल उपदेश को प्रकाश में लाना है, ताकि सन्तमत के साधारण पाठक और परमार्थ के खोजी इस महात्मा के जीवन, उपदेश और वाणी से सहज रूप में परिचित हो सकें। इस प्रयत्न में हमारी कठिनाई सामग्री की कमी नहीं, बल्कि इसकी अधिकता है, क्योंकि हमारा उद्देश्य अनेक विषयों पर उपलब्ध बहुत-सी सामग्री में से केवल मूल उपदेश को निकालकर उसे सरल रूप में प्रस्तुत करना है।

समय

सन्त चरनदास जी का समय 1703 से 1782 ई. है। धर्म, राजनीति, सदाचार आदि अनेक दृष्टियों से यह पतन का समय था। राजनीतिक दृष्टिकोण से औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही मुगल-शासन की शक्ति और वैभव का सूर्य अस्त होने लगा था। औरंगजेब के बाद उसके बेटों में दिल्ली की गद्दी के लिए खूनी संघर्ष हो गया था। हुकूमत की प्राप्ति के लिए युद्ध एक रिवाज बनता जा रहा था। लगभग पचास वर्ष के थोड़े-से समय में एक के बाद एक सात बादशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठे। इन बादशाहों का अधिकतर समय राज्य प्राप्त करने या राज्य क्रायम रखने के लिए भयानक युद्धों में व्यतीत होता रहा।

राज-दरबार राजनीतिक शक्ति और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए चली जाने वाली भयानक चालों का अखाड़ा बन गया था। वज्जीरों, सिपहसालारों और नवाबों की बात तो दूर रही, बादशाह का अपने बेटों और निकट सम्बन्धियों पर से भी विश्वास उठ गया था। शाही परिवार के लोग वज्जीरों, नवाबों और सिपाहियों-सिपहसालारों से मिलकर अनेक प्रकार के षड्यन्त्रों में उलझे रहते थे। जाट, बुन्देले, राजपूत, मराठे और सिक्ख शाही ताकत को ललकार रहे थे और उससे हर समय युद्ध छेड़े रहते थे। इसके अलावा देश को नादिर शाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों का शिकार होकर भयानक रक्तपात और भीषण लूटमार की असह्य पीड़ा में से भी गुजरना पड़ा। स्वार्थ, विश्वासघात और अवसरवाद ने मार-धाड़, छीना-झपटी और बेचैनी का

वातावरण पैदा कर दिया था। नियमों, मान्यताओं और मर्यादाओं की होली हर ओर जलती दिखाई देती थी। पिता-पुत्र, भाई-भाई और स्वामी-सेवक के सम्बन्धों की पवित्र चादर फटकर चिथड़े-चिथड़े हो गयी थी। व्यक्तिगत आचरण तथा सामाजिक मर्यादा की बुनियादेँ चरमरा गयी थीं। प्रेम, त्याग और सेवा की बात तो दूर रही, सत्य, न्याय और आपसी सहानुभूति भी शायद ही कहीं देखने को मिलती थी।

इस काल के महान सूफी दरवेश साई बुल्लेशाह (1680-1758) ने अपनी एक काफ़ी में इस समय के राजनीतिक उतार-चढ़ाव और सामाजिक तथा नैतिक पतन का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। आप कहते हैं कि कौओं, चिड़ियों, गधों और भिखारियों की पौ-बारह हो रही है और बाजों, घोड़ों और राजाओं की दशा बिगड़ती जा रही है। भाई-भाई, पिता-पुत्र और माँ-बेटी में प्रेम और एकता का अभाव होता जा रहा है, अनेक लोगों के घर उजड़ गये हैं, अनगिनत लोग कंगाल हो गये हैं और अनेक लोग अपने मरे हुए सम्बन्धियों की याद में दरी बिछाये बैठे हैं। सच बोलने वालों को दुत्कारा जा रहा है और झूठों का बोलबाला है:

उलटे होर ज़माने आए, तां मैं भेद सज्जन दे पाए।
कां लगड़ां नूं मारन लग्गे, चिड़ियां जुरे ढाए।
घोड़े चुगण अरूड़ीआं ते, गद्दों खवेद पवाए।
आपणयां विच उलफ़त नाहीं, क्या चाचे क्या ताए।
पिउ पुतरां इतफ़ाक न काई, धीआं नाल न माए।
सच्चयां नूं पए मिलदे धक्के, झूठे कोल बहाए।
अगले हो कंगाले बैठे, पिछलयां फ़रश विछाए।
भूरीआं वाले राजे कीते, राजयां भीख मंगाए।
बुल्लया हुकम हज़ूरो आया, तिस नूं कौण हटाए।'

धार्मिक परिस्थितियाँ भी ठीक नहीं थीं। धर्म का आधार दया और प्रेम है, परन्तु बादशाहों द्वारा पैदा की गयी धार्मिक कट्टरता के उन्माद ने हर ओर निर्दयता, हिंसा और घृणा का विष घोल दिया था। न केवल एक धर्म दूसरे

धर्म का शत्रु बना हुआ था, बल्कि एक ही धर्म के अलग-अलग फ़िरके भी एक-दूसरे के खून के प्यासे हो चुके थे। मौलवियों, पंडों, नाथों, योगियों, सिद्धों और भिक्षुओं की कमी नहीं थी, पर हर ओर दम्भ, भेख और छल का बोलबाला था। तथाकथित धर्मों और धर्म के मानने वालों की भरमार थी, पर सच्चा धर्म और धर्मात्मा कहीं दिखाई नहीं देते थे।

योग का अर्थ है आत्मा को परमात्मा से जोड़ना, और एकमात्र सतगुरु ही आत्मा को परमात्मा से जोड़ सकता है। इसलिए योग का लक्ष्य है सतगुरु की सहायता से अभ्यास द्वारा अपने आप को परमात्मा में लीन करना। उन दिनों सच्चे योगियों का अभाव था और तथाकथित योगी घर-बार को त्यागने, जटा रखने, कान फड़वाने, भभूत रमाने, अनेक प्रकार का भेष धारण करने तथा हठ-कर्मों, चौरासी आसनों और मन्त्र-तन्त्र द्वारा ऋद्धियों-सिद्धियों को प्राप्त करने को ही योग का आदि और अन्त समझने लगे थे।

बौद्धमत तथा जैनमत भी मूर्ति-पूजा आदि बाहरी क्रियाओं में उलझकर रह गये थे। लोग नामदेव, रविदास, कबीर और नानक जैसे सन्तों तथा बख़्तियार काकी, फ़रीद, निज़ामुद्दीन औलिया आदि फ़क़ीरों के बताये हुए प्रभु-भक्ति, सतगुरु-भक्ति और नाम-भक्ति के सीधे-सादे मार्ग को भूलकर अनेक प्रकार के भ्रमों, शंकाओं और बाहरमुखी कर्मकाण्डों की भूल-भुलैयाँ में खो चुके थे। पूर्ण सन्तों और सच्चे दरवेशों के बताये अन्तर्मुख भक्ति के सहज साधन का स्थान मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, पाठ-कीर्तन, दान-पुण्य और अन्य अनेक प्रकार के बाहरमुखी साधनों ने ले लिया था। जिन लोगों का थोड़ा-बहुत झुकाव अन्तर की ओर था, उनका जोर भी प्राणायाम, पिण्ड के छः चक्रों की साधना तथा अन्य कठिन और कष्टदायक युक्तियों पर ही था। सच्ची अन्तर्मुखी आध्यात्मिक साधना न के बराबर थी।

यह वह वातावरण था जिसमें सन्त चरनदास जी को विचरना और कार्य करना पड़ा। ऐसा वातावरण सन्तों के लिए एक विशेष चुनौती का अवसर होता है। अविद्या की अधिकता ही विद्या के प्रकट होने का कारण बनती है। सन्तजन अपार रूहानी शक्ति के मालिक तो होते ही हैं, साथ ही अथाह प्रेम, दया, धैर्य और त्याग के पुंज भी होते हैं। अज्ञान का अन्धकार जितना

अधिक घना होता है, सन्तों के प्रेम और दया का सागर उतना अधिक तरंगित होता है। सन्तजन परिस्थितियों की कठोरता से नहीं घबराते। वे हर प्रकार के वातावरण में धैर्य और विश्वास के साथ जीवों को चिताने और धुर-धाम पहुँचाने का कार्य करते हैं। अपने समय में सन्त चरनदास जी ने भी ऐसा ही किया। अपनी प्रभु-भक्ति और परोपकार-भावना के बल पर आपने सभी कठिनाइयों और विरोधों पर विजय प्राप्त की। मानवता के प्रति प्रेम और निष्काम कल्याण-भावना के सहारे आप अपने कार्य में निरन्तर आगे बढ़ते गये। अन्त में पापों और दुराचारों की भीषण गर्मी से तपते हुए रेगिस्तान में आपके अलौकिक उद्यम से शीतलता प्रदान करनेवाले अमृत की वर्षा होने लगी। आपके अथक प्रयत्नों के कारण सच्ची भक्ति और सच्चे ज्ञान का ऐसा विशाल और निर्मल प्रवाह जारी हो गया कि उसमें स्नान कर अनगिनत लोग अपने चारों ओर फैले हुए विष-भरे वातावरण के प्रभाव से बच गये और आत्मिक निर्मलता के सच्चे मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल बना गये।

मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे मेरे सतगुरु महाराज चरन सिंह जी ने इस सन्त के जीवन और उपदेश के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक लिखने की केवल आज्ञा ही नहीं दी, बल्कि पग-पग पर मेरा मार्ग-दर्शन भी किया। उनके दयामय मार्ग-दर्शन के बिना इस कार्य को पूरा करना सम्भव नहीं था।

लेखक उन सभी विद्वानों एवं लेखकों का आभारी है जिनकी रचनाओं से उसे न केवल बहुत-सी सामग्री प्राप्त हुई है, बल्कि उसके इस प्रयास को एक दिशा भी मिली है।

तिलकराज शंगारी

जीवन

जन्म, माता-पिता और परिवार

सन्त चरनदास जी के जन्म-दिन, जन्म-स्थान, माता-पिता, परिवार आदि के विषय में कोई मतभेद नहीं है। आपने अपनी वाणी में स्वयं अपने पिता और परिवार के बारे में संकेत दिये हैं और अन्य लेखक भी इस सम्बन्ध में पूरी तरह सहमत हैं। आप लिखते हैं:

डहरे में मेरो जनम नाम रणजीत पिछानो।

मुरली को सुत जान जात दूसर पहिचानो।¹

विद्वान इस बात पर एकमत हैं कि इस महापुरुष का जन्म सम्वत् 1760 (1703 ई.) में भादों शुक्ल तृतीया मंगलवार के दिन, गाँव डेहरा में पिता मुरलीधर के घर माता कुंजी देवी की सुलक्षणी कोख से दूसर कुल में हुआ। डेहरा नामक ग्राम राजस्थान के अलवर जिले में है और यह गाँव अलवर शहर से केवल आठ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। सहजोबाई, जो सन्त चरनदास के प्रमुख शिष्यों में से थीं, लिखती हैं:

सखी री आज जन्म लियौ सुखदाई।

दूसर कुल में प्रगट हुए हैं, बाजत अनैद बधाई॥

भादों तीज सुदी दिन मंगल, सात घड़ी दिन आये।

सम्बत सत्रहसाठ हुते तब, सुभ समयो सब पाये॥²

एक अन्य स्थान पर सहजोबाई कहती हैं :

सखी री आज धन धरती धन देसा।
 धन डहरा मेवात मँझारे, हरि आये जन भेसा॥
 धन भादों धन तीज सुदी है, धन दिन मंगलकारी।
 धन दूसर कुल बालक जनम्यौ, फुल्लित भये नर नारी॥
 धन धन माई कुञ्जो रानी, धन मुरलीधर ताता।
 अगले दत्तव अब फल पाये, तिन कै सुत भयौ ज्ञाता॥^{*3}

‘दूसर’ शब्द भार्गव जाति के लिए प्रयुक्त किया जाता है। चरनदास के कुल के लोग पहले दूसी (रेवाड़ी) के निवासी थे और बाद में डेहरा आदि स्थानों पर जाकर बस गये थे, पर कहलाते दूसर ही थे। कुछ विद्वानों ने दूसर या भार्गव के स्थान पर बनिया शब्द का प्रयोग किया है जिसका वास्तविक संकेत परिवार के व्यापारी होने की ओर है। यह एक सम्पन्न परिवार था जिसका समाज में बहुत सम्मान था। विद्वानों ने इस परिवार की आठ पीढ़ियों की वंशावली इस प्रकार दी है :

शोभनदास

|

चतुरदास

|

गिरिधरदास

|

लाहड़दास

|

जगनदास

|

प्रागदास

|

मुरलीधर

|

चरनदास

यह परिवार पीढ़ियों से प्रभु-भक्ति के लिए प्रसिद्ध था। कहा जाता है कि आठ पीढ़ी पहले श्री शोभनदास की तपस्या पर प्रसन्न होकर भगवान ने वर दिया था :

तो कुल मांही भक्ति चलेगी। अठवीं पीढ़ी जाय फलेगी॥

.....
 भवन तिहारे मैं ही आऊँ। कलियुग मांही भक्ति चलाऊँ॥⁴

चरनदास जी के दादा का नाम श्री प्रागदास और दादी का नाम श्रीमती यशोदा था। दादा-दादी और माता-पिता ने बालक का नाम रणजीत रखा। किसी विद्वान ने आपका नाम रणजीतलाल और किसी ने रणजीतसिंह लिखा है। आपने स्वयं अपनी वाणी में कहीं-कहीं अपने आपको ‘रणजीत’ या ‘रणजीता’ कहा है। आगे के पृष्ठों में देखेंगे कि आपके सतगुरु ने दीक्षा देते समय आपका नाम श्याम चरनदास रख दिया, जो चरनदास में बदल गया। आप चरनदास के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। आपने अपनी वाणी में भी प्रायः इसी नाम का प्रयोग किया है।

रणजीत के पिता श्री मुरलीधर के बारे में प्रसिद्ध है कि वे साधु-स्वभाव और त्यागी वृत्ति वाले प्रभु-भक्त थे। वास्तव में घर-गृहस्थी में उनकी कोई रुचि न थी। वे एकान्त-प्रिय थे और आम तौर पर साधना में लीन रहते थे। घर-बार तो क्या, उन्हें अपने शरीर तक की सुध नहीं रहती थी। वे प्रायः जंगल की ओर चले जाते और घण्टों तक ध्यान में मग्न रहते। मुरलीधर के पिता प्रागदास, माता यशोदा और परिवार के अन्य लोगों को सदा उनके बारे में चिन्ता लगी रहती थी। मुरलीधर की रक्षा के लिए एक अंग-रक्षक रखा

* पिछले शुभ कर्मों के फलस्वरूप ज्ञानवान बालक ने जन्म लिया।

गया था, जो दिन-भर समाधि में बैठे मुरलीधर की जंगली जानवरों से रक्षा करता था और सायंकाल उन्हें सही-सलामत घर ले आता था। माता-पिता ने उनका ध्यान घर-गृहस्थी की ओर आकर्षित करने के अनेक उपाय किये पर कोई सफलता न मिली। पुत्र के जन्म लेने के बाद भी पिता मुरलीधर का घर की ओर ध्यान नहीं गया और उनके वैराग्य में कोई कमी नहीं आई। पुत्र रणजीत को भी प्रभु-प्रेम की लगन अपने पिता से ही मिली थी।

रणजीत के पिता सच्चे प्रभु-भक्त थे तो उसकी माता कुंजी देवी* निर्मलता और निश्छलता की मूर्ति थीं। वे सेवा, सहनशीलता और नम्रता की देवी थीं। इन गुणों के कारण न केवल मायके में ही उनका सम्मान था, बल्कि उनके सास-ससुर भी उन्हें बेटी की तरह प्यार करते थे। वचनों की मीठी और मन की उदार कुंजी देवी एक आदर्श पत्नी, आदर्श बहू और आदर्श माता थीं।

बचपन

माता-पिता के सभी गुण पुत्र रणजीत में दिखायी देते थे। लेखकों का कहना है कि रणजीत बचपन से ही अलौकिक गुणों का भण्डार था। छोटी उम्र से ही उसका बर्ताव नम्रता, उदारता और धैर्य आदि गुणों से युक्त था। थोड़ा बोलने वाला, लड़ाई-झगड़े और खेल-तमाशे से दूर रहनेवाला रणजीत शरारत और ज़िद से बिल्कुल अनभिज्ञ था। वह मन का उदार था और स्वार्थ उसके निकट नहीं फटकता था। वह देखने में बच्चा, पर व्यवहार में परिपक्व बुद्धि का था। समकालीन लेखकों के अनुसार पाँच वर्ष की आयु से ही उसकी रसना पर 'राम-नाम' का जाप चढ़ा हुआ था और वह अपने साथियों को भी प्रभु के नाम के सुमिरन की प्रेरणा देता था। कहा जाता है कि पाँच साल की उम्र में एक दिन जब वह राम-नाम के कीर्तन में मस्त था तो उसकी एक वैरागी तपस्वी से भेंट हुई। उस वैरागी ने बालक को अपनी गोद में लेकर प्यार किया और उसे पेड़ों का प्रसाद देते हुए कहा:

* किसी विद्वान ने माता जी का नाम कुंजी देवी लिखा है और किसी ने कुंजो देवी लिखा है।

कृपा प्यार बहुते ही कीये। पुचकारे दो पेड़े दीये ॥
बहुरि कही तोहि सिष हम कीन्हां। हूज्यो संत यही वर दीन्हां ॥
भव सागर को खेवट व्है है। बहु जग जीवन पार लंघै है ॥⁵

अवश्य ही वह कोई कमाई वाला महात्मा था जिसने न केवल रणजीत के हृदय में प्रभु-प्रेम की प्रबल धारा प्रवाहित कर दी, बल्कि आशीर्वाद देकर उसके आगामी जीवन के मार्ग और संसार के उद्धार के लिए उसके द्वारा किये जाने वाले महान् कार्य की ओर भी संकेत कर दिया।

विद्या-प्राप्ति

तत्कालीन रीति के अनुसार छोटे वर्ष में रणजीत को पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा गया। अध्यापक ने पढ़ाई में उसकी रुचि उत्पन्न करने के लिए अनेक प्रयत्न किये, पर कोई लाभ न हुआ। प्रेम-प्यार से काम न चला तो उसने डाँट-डपट की, पर व्यर्थ। अध्यापक का हठ बढ़ता देखकर एक दिन रणजीत ने कहा:

आल जाल तू कहा पढ़ावे। कृष्णनाम लिख क्यों न सिखावे ॥

.....
जो तुम हरि की भक्ति पढ़ाओ। तो मोकू तुम फेर बुलाओ ॥⁶

इन वर्णनों से निष्कर्ष निकलता है कि बालक रणजीत की रुचि प्रभु-नाम के जाप में अधिक और पढ़ाई-लिखाई में कम थी।

पिता का देहान्त

रणजीत जब केवल आठ वर्ष का था, तब वह दुःखदायक घटना घटी जिसने परिवार के वर्तमान और आगामी जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। यह घटना रणजीत के पिता के दुःखदायक बिछोड़े की थी। एक दिन मुरलीधर जंगल के एकान्त में साधना कर रहे थे। थोड़ी दूर बैठे अंग-रक्षक को नींद आ गयी। मुरलीधर अचानक गायब हो गये और किसी को कुछ पता न चला कि वे कब और कहाँ चले गये। उन्हें खोजने के अनेक प्रयत्न किये

गये, पर न वे वापस आये और न ही उनका कोई पता चला। श्री गुरु-भक्ति प्रकाश के लेखक ने लिखा है कि बालक रणजीत ने दस दिन पूर्व ही इस घटना के होने का संकेत दे दिया था, पर किसी ने उसकी बात को नहीं समझा।⁷

दादा-दादी की मृत्यु

मुरलीधर का गायब हो जाना परिवार पर छाये हुए संकट के बादलों का अन्त नहीं, आरम्भ था। इस घटना को मुश्किल से तीन महीने हुए थे कि रणजीत के दादा प्रागदास जी और दादी यशोदा जी का अचानक निधन हो गया। पति के बाद सास-ससुर की छाया सिर से उठ जाने से भोली-भाली, कोमल-चित्त और निश्छल कुंजी के सिर पर जैसे मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ा। उसके सामने अँधेरा ही अँधेरा था। उसे समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे? पिता का वियोग पुत्र रणजीत ने भी अनुभव किया, पर वह माता के दुःखी दिल पर अपने प्रेम के फाहे रखने का प्रयत्न करता रहता था। अब कुंजीदेवी को संसार से बाँधकर रखनेवाली एकमात्र वस्तु पुत्र का मोह था। इस मोह के सहारे उसके जीवन की गाड़ी झकोरे खाती हुई किसी न किसी प्रकार आगे बढ़ती गयी।

दिल्ली की ओर प्रस्थान

प्रागदास जी के दो भाई थे – सुन्दरदास जी और शामदास जी। दोनों सही अर्थों में भले पुरुष थे। वे बहू और पौत्र का पूरा ध्यान रखते और अपनी ओर से उन्हें घर-गृहस्थी की ज़िम्मेदारियों के बोझ से पूरी तरह बचाकर रखते। पर कुंजीदेवी न पुत्र को कुछ कह सकती थी और न ही किसी और को दिल का हाल बता सकती थी। दुःख और मौन के वातावरण से उसका मन ऊब गया। उसके लिए डेहरा में रहना असहनीय हो गया। अन्त में उसने दिल्ली में अपने मायके जाने का निश्चय कर लिया। प्रागदास जी के भाई सुन्दरदास जी ने उसे न केवल इस प्रकार करने की आज्ञा दे दी, बल्कि रणजीत सहित उसके दिल्ली जाने का पूरा प्रबन्ध भी कर दिया। इस प्रकार

रणजीत और उसकी माता दिल्ली की ओर चल पड़े। शेष आयु के लिए दिल्ली ही उनका निवास-स्थान बना रहा।

कोट कासिम में निवास

दिल्ली के मार्ग में रणजीत और उसकी माता कोट कासिम में रुके जहाँ प्रागदास जी की बहन का ससुराल था। रणजीत की दादी बुआ और उसके सारे परिवार ने कुंजीदेवी और रणजीत को बहुत प्यार और सम्मान दिया। रणजीत शीघ्र ही बुआ से घुल-मिल गया और बुआ का रणजीत से गहरा मोह हो गया। बुआ के आग्रह करने पर माता कुंजी रणजीत को बुआ रामा के पास छोड़कर स्वयं दिल्ली पहुँच गयी।

उन दिनों संयुक्त परिवार होते थे। कुंजी के पिता का तो देहान्त हो चुका था, पर उसके चाचा भिखारीदास भी कुंजी को सगी बेटे की भाँति प्यार करते थे। चाचा भिखारीदास और माता अंबिकादेवी ने कुंजी का स्वागत किया। परिवार के अन्य सदस्यों ने भी कुंजी के आने पर प्रसन्नता प्रकट की।

कुंजी के चाचा भिखारीदास शाही दरबार में उच्च पद पर आसीन थे। वे मान-मर्यादा वाले खुशहाल व्यक्ति थे और परिवार को उत्तराधिकार में काफ़ी सम्पत्ति मिली थी। उन्होंने कुंजी की सभी ज़िम्मेदारियाँ अपने सिर पर ले लीं और उसकी हर प्रकार की सहायता करने का विश्वास दिलाया। उन्होंने दस बन्दूकधारी सेवकों के साथ एक रथ डेहरा भेजा। वहाँ से सुन्दरदास जी ने कुंजी का सारा सामान रथ में भिजवा दिया। दिल्ली लौटते समय सेवादार रणजीत की बुआ के पास कोट कासिम गये तो बुआ के घर में सब उदास हो गये। थोड़े समय में ही रणजीत ने सबका मन मोह लिया था। उसके रहन-सहन और विचार-व्यवहार से बुआ और उसके परिवार को विश्वास हो गया था कि यह बालक कोई अलौकिक हस्ती है। बुआ ने न चाहते हुए भी भतीजे को विदा किया। लीला सागर के लेखक ने लिखा है कि रणजीत ने कुछ दिन पहले ही बुआ को सावधान कर दिया था कि उसे दिल्ली ले जाने के लिए शीघ्र ही रथ आनेवाला है।⁸

दिल्ली पहुँचना

दिल्ली पहुँचने पर रणजीत का भी हार्दिक स्वागत हुआ और वह सारे घर का लाडला बन गया। उस समय उसकी आयु आठ वर्ष थी। नाना भिखारीदास क्योंकि राज-दरबार के अधिकारी थे, इसलिए वे चाहते थे कि रणजीत अरबी और फ़ारसी पढ़ें। उन्होंने रणजीत की पढ़ाई के लिए क़ादिर बख़्श नामक मौलवी को नियुक्त किया। कहा जाता है कि मौलवी ने बहुत प्रयत्न किये, पर रणजीत के पहले अध्यापक की भाँति उसे भी सफलता नहीं मिली। श्री गुरु-भक्ति प्रकाश के अनुसार तीन महीने तक और लीला सागर के लेखक के अनुसार आठ महीने तक मौलवी ने रणजीत को पढ़ाया। एक दिन रणजीत ने कहा:

हमें आज से पढ़ना नाँहीं। जिकर न होय फिकर के माँहीं॥*
सुनि मुल्ला हैरत में आया। इस लड़के पर रब की छाया॥⁹

श्री गुरु-भक्ति प्रकाश के लेखक के अनुसार रणजीत ने दलील दी:

साध औलिया पढ़े पढ़ाये। धुर सूँ इल्म लिये ही आये॥
उनकूँ किन दीनी तालीम। कब वे पढ़े अलिफ़ बे जीम॥¹⁰

लीला सागर के लेखक ने यह भी संकेत किया है कि रणजीत ने सांसारिक पढ़ाई की ओर जो थोड़ा-बहुत ध्यान दिया, वह वास्तव में नाना-नानी और माता की खुशी के लिए था:

सोचि सोचि मन माँहीं ठानी। दुखी होंयेगे नाना नानी॥
कैसे मेटूँ उनका कीया। तातें पढ़नें में मन दीया॥¹¹

रणजीत ने अलग-अलग भाषाओं और धर्म-ग्रन्थों का ज्ञान कब और कैसे प्राप्त किया, इस विषय में ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। पर महात्मा चरनदास जी की वाणी से पता चलता है कि आपको राजस्थानी और खड़ी

* जिकर=ज़िक्र, सुमिरन।

बोली का ही नहीं, बल्कि पंजाबी, फ़ारसी और संस्कृत का भी ज्ञान था। आपने न केवल फ़ारसी के शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया है, बल्कि अरबी, फ़ारसी के पारिभाषिक पदों (conceptual terms) का भी पूरी कुशलता से प्रयोग किया है। कुछ ग़ज़लों में उर्दू और फ़ारसी का रंग है और कुछ पदों में पंजाबी के शब्दों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। आपने कुछ उपनिषदों का संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद किया है। आपने श्रीमद्भागवत के कुछ भागों का अनुवाद भी किया है। इससे पता चलता है कि आप न केवल कई भाषाओं के ज्ञाता थे, बल्कि आपने अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के बहुत-से धर्म-ग्रन्थों का भी गहन अध्ययन किया था।

विवाह के लिए ज़ोर

उन दिनों छोटी उम्र में ही विवाह हो जाते थे। धनवान घरों के बच्चों के छोटी आयु में ही रिश्ते आने शुरू हो जाते थे। लड़की वाले वर की आय नहीं, ख़ानदान को देखते थे। रिश्ते करवाने में ब्राह्मण और नाई का विशेष सहयोग होता था। रणजीत की मौलवी से अभी शिक्षा चल ही रही थी कि एक दिन ब्राह्मण और नाई उसकी सगाई के लिए आ गये। नाना, नानी और माता ने रणजीत को विवाह के लिए राज़ी करने के लिए बहुत प्रयत्न किये, पर उसने उनकी एक न मानी। लीला सागर के लेखक ने इस समय रणजीत और उसकी माता तथा रणजीत और उसके नाना के बीच हुए लम्बे संवादों का सविस्तार वर्णन किया है। माता ने प्यार और चाव से वंश को आगे बढ़ाने की इच्छा प्रकट की। नाना ने धर्म-ग्रन्थों के उद्धरणों से गृहस्थ आश्रम की विशेषता सिद्ध करके और शास्त्रों में से वंश को आगे बढ़ाने के धर्म का विवरण देकर रणजीत को विवाह की प्रेरणा देनी चाही। रणजीत ने प्रेम और आदर से दी गयी अपनी दलीलों से दोनों को निरुत्तर कर दिया। उसने संसार की नश्वरता, मनुष्य-जन्म के मूल उद्देश्य आदि का उल्लेख करते हुए बार-बार इस बात पर बल दिया कि मेरा मन प्रभु-भक्ति में इस प्रकार लीन हो चुका है कि मेरे लिए गृहस्थी का धर्म निभा पाना सम्भव न होगा। नाना और नानी दोनों सहमत हो गये, पर माता कुंजी ने पुत्र से यह

वचन ले लिया कि वह त्यागी बनकर घर से बाहर नहीं जायेगा और सदा उसकी आँखों के सामने रहेगा।

श्री गुरु-भक्ति प्रकाश और लीला सागर के लेखकों ने बहुत सुन्दर ढंग से संकेत किया है कि रणजीत के प्रेम, सम्मान और नम्रता का जादू उसकी दलील के जादू से भी अधिक शक्तिशाली था। सच्ची बात तो यह है कि उसके साथ विवाद करनेवाला न केवल उसकी बात से सहमत हो जाता था, बल्कि उसके प्यार की डोरी में भी बँध जाता था। रणजीत के ननिहाल ने इसके बाद भी कई बार रणजीत को गृहस्थ और सांसारिक ज़िम्मेदारियों में फँसाने के प्रयत्न किये, पर रणजीत अपने फ़ैसले पर अटल रहा। इससे पता चलता है कि छोटी आयु से ही रणजीत निर्मल बुद्धि, स्पष्ट चिन्तन और दृढ़ विश्वास का मालिक था। न कोई कष्ट, दुःख, संकट उसे विचलित कर सकता था और न ही कोई लोभ, लालच उसे भ्रम में डाल सकता था। उसके निर्णय सूझ से भरे होते थे और उसमें उन पर अडिग रहने की अथाह शक्ति थी।

प्रभु-भक्ति की उमंग

दस वर्ष की आयु में ही रणजीत के हृदय-सागर में प्रभु-प्रेम की लहरें पूरे जोर से उठने लगीं। रणजीत सदा साधु-सन्तों की संगति और भजन-मण्डलियों में सम्मिलित होने के लिए उत्सुक रहता था। भूखे-प्यासे, गरीब और लाचार लोगों की सेवा-सहायता में उसकी विशेष रुचि थी। उसका सारा ध्यान एक ही बिन्दु पर केन्द्रित था और वह बिन्दु था परमेश्वर। उसकी आँखों से प्रेम के आँसुओं की झड़ी लगी रहती और उसे खाने, पीने, पहनने और सोने तक की सुध न रहती। श्री गुरु-भक्ति प्रकाश के लेखक ने रणजीत की इन दिनों की मनोदशा का उल्लेख इस प्रकार किया है:

भूखा देख दया उपजावैं। घर में से ले दे दे आवैं॥

साधु रूप कूँ शीश नवावैं। भक्ति रीति कछु कही न जावैं॥¹²

आपने रणजीत की बारहवें वर्ष की अवस्था का इस प्रकार वर्णन किया है:

लागा नेह देह सुध नाहीं। खान औ पान सबै बिसराहीं॥

कबहूँ नैनन सों जल धारा। उठै प्रेम नहीं जाय सँभारा॥¹³

इसी प्रकार चार वर्ष और बीत गये और रणजीत सोलह वर्ष का हो गया। जब उसके अपने प्रयत्नों से प्रभु के दर्शनों की तड़प शान्त न हुई, तो हृदय में सतगुरु के मिलाप की लगन जाग उठी। सतगुरु के विरह की पीड़ा इस प्रकार अन्तर में बैठ गयी कि रणजीत हर पल व्याकुल रहने लगा। वह सतगुरु की खोज में दूर तक जाता, कभी नागाओं और उदासियों के पास तो कभी सिद्धों, योगियों और संन्यासियों के पास। वह महीनों जंगलों में भटकता रहा, पर कहीं भी ऐसा सतगुरु न मिला जो तप्त हृदय को ठण्डक पहुँचा सके और अपने चरण-कमलों की शरण द्वारा प्रभु-मिलन की निरन्तर बढ़ती हुई प्यास को शान्त कर सके। 16 वर्ष से 19 वर्ष की आयु तक यही दशा रही। श्री गुरु-भक्ति प्रकाश के लेखक ने इस समय की मनोदशा का उल्लेख इस प्रकार किया है:

ऐसी बिरह अग्नि तन लागी। गई भूख अरु निद्रा भागी॥

सतगुरु कूँ ढूँढ़न ही लागे। ढूँढ़े विरकत तपसी नागे॥

ढूँढ़े योगी अरु सन्यासी। ढूँढ़े सब मत पन्थ उदासी॥

ऐसा दृष्टि न आवई जहां नवावैं माथ।

सतगुरु करि चरणों लगैं शीश धरावैं हाथ॥¹⁴

गुरु से मिलाप

शिष्य गुरु को नहीं खोजता, गुरु शिष्य को खोजता है। जब शिष्य तैयार हो जाता है तो गुरु स्वयं प्रकट हो जाता है। उन्नीस वर्ष की आयु में गुरु की खोज में भटकता, विरह में व्याकुल रणजीत एक दिन गंगा और यमुना के दोआबा में स्थित मोरनातीसा नामक एक स्थान पर पहुँच गया। यह स्थान उत्तर प्रदेश के जिला मुज़फ़्फ़रनगर के शुकतार या शुकताल नामक प्रसिद्ध धार्मिक स्थल के निकट है। शुकतार के विषय में यह जनश्रुति प्रचलित है कि ऋषि वेदव्यास के पुत्र शुकदेव ने द्वापर युग में यहाँ गंगा के किनारे राजा

परीक्षित को श्रीमद्भागवत का उपदेश सुनाया था। इस स्थान से थोड़ी दूरी पर एक टीला था। यहाँ रणजीत को एक तपस्वी के दर्शन हुए, जिसे देखते ही रणजीत के मन में प्रेम, श्रद्धा और शान्ति की ऐसी प्रबल तरंगें उठीं कि उसे अन्तर में प्रतीत हो गया कि उसकी खोज पूरी हो गयी है और जिस पूर्ण पुरुष की उसे खोज थी, वह मिल गया है। रणजीत ने प्रेममय हृदय और आँसुओं से भरी आँखों से सतगुरु के चरण-कमलों पर माथा टेकते हुए अपने आप को उन्हें समर्पित कर दिया।

रणजीत के सतगुरु की खोज में बिताये लम्बे व दुःखदायक वर्षों का वर्णन सुनकर उस महात्मा ने रणजीत के सिर पर अपना कृपापूर्ण हाथ रख कर उसे सांत्वना दी। महात्मा ने उसे याद दिलाया कि जब वह केवल पाँच वर्ष का था तभी उन्होंने उसे वृक्ष के नीचे दर्शन दिये थे। सतगुरु के प्रेममय स्पर्श और उनके वचनों का रणजीत पर गहरा प्रभाव पड़ा। तत्काल उसके हृदय में सतगुरु के प्रति दृढ़ और गहरा विश्वास पैदा हो गया और उसने बिना शर्त स्वयं को पूरी तरह गुरु को अर्पित कर दिया।

इसके पश्चात् गुरु और शिष्य में काफ़ी देर तक प्रेमपूर्ण संवाद चलता रहा। सतगुरु ने रणजीत को प्रभु-भक्ति की युक्ति सिखाई और अष्टांग योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, हठयोग और भक्तियोग के बारे में सविस्तार समझाया। सतगुरु ने उसे वेदों, उपनिषदों, छः दर्शनों और अन्य ग्रन्थ-शास्त्रों के ज्ञान का सार समझाया तथा उसकी हर प्रकार की शंकाओं का समाधान किया। सतगुरु ने उसे विधिवत् दीक्षा दी और उसका नाम श्याम चरनदास रख दिया। इसी नाम के आधार पर रणजीत बाद में चरनदास के नाम से पुकारे गये और यही नाम उन्होंने अपनी वाणी में भी अपने लिए प्रयुक्त किया है। सतगुरु से दीक्षा प्राप्त करना केवल नाम को बदलना नहीं था। इससे रणजीत का सम्पूर्ण जीवन ही बदल गया और वह वास्तव में सतगुरु के चरणों का दास बन गया।

विद्वान लिखते हैं कि शिष्य को ज्ञान और दीक्षा देने का यह कार्य पाँच पहर तक चलता रहा। इसके बाद सतगुरु ने चरनदास को दिल्ली वापस जाकर दीक्षा के अनुसार अभ्यास करने की ताकीद की। श्याम चरनदास

सतगुरु के चरण-कमलों में रहना चाहता था, पर सतगुरु की आज्ञा इसके बिल्कुल विपरीत थी। सतगुरु का हुक्म मानकर चरनदास टूटे दिल से अपनी भावनाओं को ज़बरदस्ती दबाकर चल तो दिया, पर उसकी दशा बहुत दयनीय थी। वह पहले ही सतगुरु की खोज के लम्बे और दुःखदायक वर्षों में से गुज़र चुका था और अब यह वियोग उसके सामने मुँह बाये खड़ा था। श्री गुरु-भक्ति प्रकाश में इस अवस्था का विवरण इस प्रकार आया है :

करि दण्डवत चलन की धारी। चला न जाय भये पग भारी॥
तन कांपै पग परै न आगे। बिरह अग्नि उठ रोवन लागे॥
कण्ठ उसास कहा नहिं जाई। धीरज दृढ़ता सबै गँवाई॥¹⁵

चरनदास की व्याकुलता प्रति पल बढ़ती गयी। उसके लिए पग आगे बढ़ाना कठिन हो गया। भूखे-प्यासे और वियोग में तड़पते दिन व्यतीत हो गया और रोते-रोते रात हो गयी। रात को सतगुरु ने ध्यान में दर्शन देकर ढाढ़स बँधाया :

कहा कि जब जब ध्यान करैहो। ऐसे ही तुम दर्शन पैहो॥
अरु हम तुम कभू जुदे जु नाही। तुम मों मैं मैं तुम्हरे मांही॥¹⁶

इससे पता चलता है कि सतगुरु देह-स्वरूप में शिष्य को गुरु-मन्त्र (दीक्षा) देते समय अपने नूरी या ज्योतिर्मय स्वरूप से उसका सम्बन्ध जोड़ देते हैं। यह स्वरूप शिष्य का साथ कभी नहीं छोड़ता, सदा शिष्य के अंग-संग रहता है। सतगुरु द्वारा सिखाई विधि के अनुसार अभ्यास करने से शिष्य अन्दर सतगुरु का नूरी स्वरूप प्रकट कर ले, तो यह स्वरूप शिष्य की सुरत को अन्तर में मंजिल-दर-मंजिल धुरधाम ले जाता है।

लीला सागर का लेखक लिखता है :

करि जु स्नान आसन बैठीजे। मन को रोक इकांत करीजे॥
पहिले गुरु का कीजे ध्याना। सब ध्यानन में यह परधाना॥
जब गुरु की मूर्ति बनि आवे। माथे मन कर तिलक चढ़ावे॥¹⁷

अन्तर में सतगुरु के दर्शन होने से चरनदास को न केवल अपार शान्ति और आनन्द का आभास हुआ, बल्कि उसके मन में इस पूर्ण भरोसे की ज्योति भी जल उठी कि सतगुरु सचमुच अंग-संग है। इससे उसकी आगामी साधना का मार्ग प्रशस्त हो गया और वह दृढ़ संकल्प, अटूट विश्वास और अपार उत्साह के साथ घर की ओर चल पड़ा।

सतगुरु सुखदेव

विद्वानों के अनुसार महात्मा चरनदास जी के सतगुरु का नाम सुखदेव या शुकदेव था। उन्होंने अपनी वाणी में अपने गुरु को वेदव्यास का पुत्र सुखदेव कहा है। इससे यह शंका पैदा नहीं होनी चाहिए कि महात्मा चरनदास का गुरु उस समय का जीवित देहधारी महात्मा नहीं था। सतगुरु सुखदेव चरनदास से विदा होते समय स्वयं उससे कहते हैं:

मेरे नाहिं कहूँ जो स्थाना। विरक्त रहूँ नाहिं बंधाना॥

वन परवत में बास हमारा। बैठन उठन सहज व्यौहारा॥¹⁸

चरनदास के घर लौटने पर माता उसका सारा विवरण सुनकर प्रसन्नता प्रकट करती हुई कहती हैं: 'रणजीता गुरु तुम किये, व्यास पुत्र औतार।' ¹⁹ ऊपर भी आया है कि चरनदास से विदा होते समय सतगुरु ने उसे समझाया था कि मैं देह-स्वरूप के कारण तुझसे दूर हो सकता हूँ, पर नूरी स्वरूप में सदा तेरे अंग-संग हूँ:

जब तुम चाहो दरश हमारा। धरो ध्यान अप हिये मँझारा॥²⁰

एक बार वृन्दावन की यात्रा के दौरान सतगुरु ने फिर चरनदास को देह-स्वरूप में दर्शन देकर निहाल किया। सन्त चरनदास जी ने अपनी वाणी में अनेक स्थानों पर सतगुरु के दिये नाम के जाप और सतगुरु के स्वरूप के ध्यान की महिमा की है। परमार्थ का अटल नियम है कि ध्यान केवल उसका किया जा सकता है जिसे साक्षात् देह-स्वरूप में देखा गया हो। आगे के पृष्ठों में आयेगा कि सन्त चरनदास ने स्वयं सतगुरु के देह-स्वरूप की बड़ी

महिमा बतायी है।* यहाँ इतना जान लेना आवश्यक है कि सन्त चरनदास को गुरु-मन्त्र देकर चेताने वाला परमपुरुष, जंगलों-पर्वतों में रहनेवाला विरक्त महात्मा उस समय का जीता-जागता देहधारी पूर्ण सन्त था। इसी प्रसंग में यह भी समझ लेना चाहिए कि चाहे चरनदास के सतगुरु स्वयं त्यागी महात्मा थे, पर उन्होंने चरनदास पर ऐसी कोई पाबन्दी नहीं लगायी। आपने चरनदास को संसार में रहने का और संसार का उद्धार करने का हुक्म दिया।

बहुत-से विद्वानों ने चरनदास जी के सतगुरु को उस समय का प्रसिद्ध फ़क़ीर, दरवेश या महात्मा सुखदेव कहा है। श्री रूप माधुरीशरण द्वारा सम्पादित ग्रन्थ *श्री सुक सम्प्रदाय प्रकाश* के पृष्ठ 5-6 पर सर जॉर्ज ग्रियर्सन का उद्धरण दिया गया है जिसमें सुखदेव को उस समय का बाबा सुखदेव कहा गया है। एच. एच. विलसन ने इस महात्मा को उस समय का फ़क़ीर बाबा सुखदेव कहा है।²¹ विलियम क्रुक्स ने भी चरनदास के गुरु को उस समय का करनी वाला फ़क़ीर कहा है।† जेम्स हेस्टिंग्स ने उनके वेदव्यास के पुत्र सुखदेव का अवतार होने की जनश्रुति दोहराई है।‡ उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा के लेखक आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार चरनदास के सतगुरु का एक नाम सुखदेव दास और दूसरा नाम सुखानन्द था और वे शुकतार के निवासी माने जाते थे।²⁴

दिल्ली में अभ्यास

दिल्ली लौटकर चरनदास जी ने तन-मन से सतगुरु की दी रूहानी युक्ति के अनुसार साधना शुरू कर दी। कहा जाता है कि उन्होंने बीरमदे के नाले के पास एक आरामदायक स्थान पर पक्की गुफा बनवाकर उसमें अभ्यास करना शुरू कर दिया। जीवनीकार लिखते हैं कि आप सात पहर अभ्यास में लीन

* देखें: अध्याय प्रेम-भक्ति और गुरु-भक्ति।

† "He became a disciple of Baba Sukhdeva, a religious Faquir of high religious attainment, at the age of nineteen at Shukra Tal near Muzaffar Nagar (U.P.), who gave him the name of Charan Dass."²²

‡ "In his nineteenth year, while thus roaming in ecstasy, he came across a holyman named Sukhdeva Dass...later have identified this person as a re-incarnation of the famous Sukhdeva who is said to have narrated the Puranas."²³

रहते और एक पहर सत्संग करते। आपका आहार सूक्ष्म होता गया और आपकी एकाग्रता में वृद्धि होती गयी। यह क्रम बारह या चौदह* वर्ष तक चलता रहा। धीरे-धीरे आपका ध्यान इतना पक्का हो गया कि आप कई-कई दिन लगातार समाधि में रहने लगे:

जब समाधि पूरी बनि आई। गिनती जहाँ रही नहिं काही ॥²⁵

कहा जाता है कि एक बार आसपास फैली आग गुफा में भी पहुँच गयी, पर ध्यान-मग्न चरनदास उसी प्रकार गुफा में बैठे रहे। लोग यही समझते थे कि चरनदास जलकर राख हो गये होंगे पर जब अभ्यास के बाद चरनदास बाहर आये, तो लोग उन्हें देखकर दंग रह गये। 'जा को राखे साईयां मार सके न कोए'।

परम पद की प्राप्ति

लीला सागर के लेखक लिखते हैं कि बारह वर्ष के लम्बे अभ्यास के बाद चरनदास स्वामी चरनदास बन गये। उन्हें वह अद्भुत गति प्राप्त हो गयी जिसमें अभ्यासी क्षण भर में सुरत को समेटकर आन्तरिक रूहानी मण्डलों में चढ़ जाता है। इसे परमार्थी भाषा में विदेह होने की युक्ति या तन से न्यारा होने की युक्ति कहा जाता है, 'साधा तन सों होना निआरा'²⁶। जोगजीत जी लीला सागर में लिखते हैं: 'दोनों मारग देखिया, बिहंगम और पिपील'²⁷। पिपील का अर्थ चींटी है जिसका परमार्थी भाव अभ्यास द्वारा सूक्ष्म या निर्मल हो चुकी आत्मा से है। केवल अति चेतन और निर्मल हुई सुरत ही आन्तरिक उच्चतम मण्डलों में प्रवेश कर सकती है।† इस मार्ग को साध-भाषा में

* रामरूप जी ने श्री गुरु-भक्ति प्रकाश (पृष्ठ 62) में यह अवधि चौदह वर्ष बताई है जब कि लीला सागर के लेखक ने बारह वर्ष बताई है।

† कबीर का घर सिखर पर, जहाँ सिलहिली गैल।

पाँव न टिके पिपील का, पंडित लादे बैल ॥²⁸

जब सरबजीत नामक एक विद्वान ग्रन्थों-शास्त्रों से भरी बैलगाड़ी लेकर कबीर साहिब से वाद-विवाद करने आया तो कबीर जी की लड़की कमाली ने कहा कि कबीर तो उच्चतम रूहानी मण्डलों के वासी हैं जहाँ चींटी जैसी सूक्ष्म हो चुकी सुरत के पाँव नहीं ठहरते और बाहरमुखी विद्या के अभिमान में फैली वृत्तिवाला पण्डित बैलगाड़ी पर पुस्तकें लादकर उनसे बहस करने आ गया है।

'विहंगम मार्ग' कहा गया है। पक्षी जब चाहे उड़ान भरकर वृक्ष या पर्वत की चोटी पर जा बैठता है और जब चाहे उड़ान भरकर नीचे उतर आता है। यह पूर्ण सन्तों की अवस्था है जो आँखें मूँदते ही सतलोक में पहुँच जाते हैं और आँखें खोलते ही नीचे मर्त्य-लोक में आ जाते हैं। कबीर साहिब ने भी संकेत किया है:

सब्द बिहंगम चाल हमारी, कहैं कबीर सतगुरु दइ तारी।

खुले कपाट सब्द इनकारी, पिंड अंड के पार सो देस हमारा है ॥²⁹

परम पुरुष के दर्शन

लीला सागर में सन्त चरनदास जी के अभ्यास के पूर्ण होने और उन्हें अमर लोक में परमपुरुष के दर्शन प्राप्त होने का वर्णन इस प्रकार किया गया है:

ता पर तेज पुन्ज छबि राशे। मानो सूरज कोटि प्रकाशे ॥

ता पर अमर लोक की शोभा। लखि उपजी परमानंद गोभा ॥

परम पुरुष जहाँ स्वेत सिंहासन। ताहि निरख नाशी भव वासन ॥

ऐसे चरणदास कहलाये। ध्यान माँहिं यों दर्शन पाये ॥

ऐसे भक्तराज महाराजा। किये जु अपने पूरन काजा ॥³⁰

श्री गुरु-भक्ति प्रकाश और लीला सागर के लेखक लिखते हैं कि महात्मा चरनदास को सबसे उच्च रूहानी अवस्था प्राप्त हो जाने पर उनके सतगुरु ने उन्हें ध्यान में हुक्म दिया कि कुछ समय दिल्ली में जीवन व्यतीत करो। सतगुरु के हुक्म के अनुसार आपने फ़तहपुरी में एक आश्रम बनाकर सुख-शान्ति से वहाँ रहना शुरू कर दिया:

ध्यान माहिं गुरु आज्ञा दीनी। को इक दिन रहो भांति नवीनी ॥³¹

भक्तराज ऐसे रहैं, बीते निशि अरु भोर।

ऐसा आनंद वहाँ नहीं, जिनके लाख करोर ॥³²

स्वभाव

इत्र की सुगन्धि अवश्य फैलती है। महात्मा चरनदास जी की महिमा चारों ओर दूर-दूर तक फैलनी शुरू हो गयी। समाज के हर वर्ग और हर धर्म के लोग आपके सत्संग में आने लगे। आप परमार्थ और स्वार्थ दोनों में लोगों की सहायता करते और हर समय ज़रूरतमन्दों की आवश्यकता पूरी करने के लिए तत्पर रहते। एक बार एक गरीब के लड़के की शादी के लिए सोने की चालीस मोहरें दीं और अपने बहुत-से सेवकों को भी उसकी सहायता के लिए भेजा। रात में आश्रम को सुनसान देखकर चोर आ गये। उन्होंने बहुत-से सामान की गाँठें बाँध लीं। मालिक की मौज कि उनको आश्रम से जाने का मार्ग दिखायी न दिया। चोरों को परेशान देखकर चरनदास जी ने स्वयं उठकर उन्हें रास्ता दिखाया और तुरन्त सारा माल ले जाने के लिए कहा। चोर बहुत लज्जित हुए और क्षमा माँगते हुए कहने लगे कि अब हम सूई तक नहीं ले जायेंगे। पर सन्त चरनदास जी ने कहा कि यह तुम्हारी मेहनत का फल है। वे ज़बरदस्ती उनसे गाँठें उठवाकर साथ जाकर उन्हें बाहर छोड़ आये:

तुमने मेहनत बहुतै कीनी। ताते गठरी चारौ दीनी ॥³³

डर दिखलाया और कर जोरे। उनके मन लेने को मोड़े ॥

पाँचों गठरी शिर धरवाई। और कहा तुम मेरे भाई ॥

किती दूर पहुँचावन धाये। फिर अपने अस्थल में आये ॥

ऐसे दयावन्त उपकारी। जैसे तरुवर है फलधारी ॥

अरु सरिता जो मीठे जल की। महाराज अधिके इन बलकी ॥³⁴

इससे पता चलता है कि आपका संसार की किसी वस्तु से लगाव नहीं था और आप दया और क्षमा की मूर्ति थे। दया और क्षमा ही सच्चे प्रभु-भक्तों की सबसे बड़ी निशानी है।

सन्त चरनदास जी को हर घट में परमात्मा के दर्शन होते थे। इसलिए आप सबसे अपार क्षमा, सहनशीलता और नम्रता से पेश आते थे। ईर्ष्या और अज्ञान-वश अनेक लोगों ने आपको कपटी, पाखण्डी, झूठा, जादूगर

और समाज व धर्म का शत्रु तथा लोगों को कुमार्ग पर डालनेवाला अज्ञानी कहकर आपका तिरस्कार किया, पर आपकी अमृतभरी जिह्वा से कभी किसी के विरोध में एक भी कठोर शब्द नहीं निकला। आपने न कभी किसी का बुरा सोचा और न ही किसी को कुछ बुरा कहा। कई मौलवियों एवं पुरोहितों ने आपको कई प्रकार के शारीरिक कष्ट पहुँचाने का प्रयत्न किया। कई तथाकथित योगियों ने ऋद्धि-सिद्धि और करामातों द्वारा आपको हानि पहुँचाने की कोशिश की। सन्त चरनदास जी का कोई शिष्य यदि यह समाचार लाता कि कोई व्यक्ति आपकी निन्दा करता है, तो आप अपने सतगुरु के कहे अनुसार समझाते कि निन्दक शत्रु नहीं, सच्चा मित्र, हितैषी और परोपकारी होता है जो निन्दा के साबुन से हमारा मैल धोता है:

हिन्दू तुर्क सभी जो आवें। ऊँच नीच दर्शन करि जावें ॥

कोउ अस्तुति कोउ गारी भानें। चरणदास दोउ सम कर जानें ॥

तिलक निन्द बहु निन्दा ठानें। चरणदास साबुन पट जानें ॥

निंदा खबर करें शिष आवें। चरणदास तिनको समझावें ॥

वे सतगुरु मोकूँ समझाई। अवगुण देखि कहैं तुम ताँई ॥

निंदक उपकारी जग माँहीं। मोहि सँवारें द्रोही नाँहीं ॥³⁵

लीला सागर के लेखक ने लिखा है कि एक बार जब सन्त चरनदास जी किसी मुगल से वचन-विलास कर रहे थे तो साधु के भेष में आये एक व्यक्ति ने लाठी घुमाते हुए आपको गालियाँ देनी शुरू कर दीं। चरनदास जी ने उठकर उसके चरण पकड़ने चाहे तो वह भाग गया। वह व्यक्ति सात बार उनकी ओर गाली देता हुआ इसी प्रकार आया और सातों बार उन्होंने नम्रतापूर्वक उसके चरण छूने का प्रयत्न किया। ऐसी नम्रता और सहनशीलता देखकर अन्त में वह साधु उनके चरणों पर गिर पड़ा:

फिर गारी देइ आय, चरणदास परणाम करी।

पुनि आवे भग जाय, सात बार ऐसे करी ॥

.....

तब साधू चरणों हि परायो। धन्य धन्य मुख कहि हरषायो ॥³⁶

एक ब्राह्मण सिपाही आपको सदा गालियाँ देता रहता था और दम्भी, धोखेबाज कहकर निन्दा करता रहता था। एक दिन चरनदास जी ने प्रेमपूर्वक उसे पास बिठाकर उसका बहुत सम्मान किया और स्वादिष्ट भोजन खिलाकर पाँच रुपये दक्षिणा में दिये। यह देखकर सिपाही का मन मोम हो गया और वह आपका श्रद्धालु बन गया:

पाँच रुपया कर में दिवाई। कहे प्रभू मो मन की पाई ॥³⁷

एक बार दो ब्राह्मणों ने आप पर गालियों की वर्षा कर दी। एक सिपाही ने उन्हें मारना चाहा तो आपने कहा कि ये मुझे कुछ दे ही रहे हैं, ले तो नहीं रहे। इसके बाद दोनों ब्राह्मणों ने सन्त चरनदास जी को अकेले देखकर उन पर तलवारों से आक्रमण कर दिया। आपने धैर्यपूर्वक अपना सिर उनके आगे झुका दिया। ब्राह्मणों ने शास्त्रों में पढ़ रखा था कि धरती को चाहे खोदें, चाहे भरें तथा वृक्ष को चाहे पानी दें या उसे काटें, वे बुरा नहीं मानते। इसी प्रकार परमात्मा के सच्चे भक्त निन्दा और प्रशंसा, दुःख और सुख, शत्रु और मित्र को समान भाव से देखते हैं। सन्त चरनदास जी में पूर्ण साधु का समदर्शी भाव देखकर ब्राह्मणों ने आपको अपना गुरु धारण कर लिया।³⁸

एक संन्यासी ने आपको दम्भी गुरु समझते हुए अपनी तूँबी में राख और पानी डालकर आप पर गिरा दिया। आपने हँसकर कहा कि आपने मेरे साथ बहुत सुन्दर होली खेली है। आपने संन्यासी की परिक्रमा की और उसे भोजन कराया। संन्यासी आपकी सहज अवस्था और आश्चर्यजनक क्षमा को देखकर समझ गया कि यह अवश्य पूर्ण साधु है। उसने आपकी शरण स्वीकार कर ली।³⁹

आपके परम शिष्य रामरूप जी लिखते हैं कि सन्त चरनदास जी कभी वाद-विवाद में नहीं उलझते थे। आप हर व्यक्ति की वृत्ति के अनुसार उससे व्यवहार करते थे। आप एकान्त-प्रिय थे, केवल सच्चे परमार्थियों से ही वचन-विलास करते थे। अपने आप को विद्वान और ज्ञानवान कहने वाले अभिमानियों के आगे आप माथा टेक देते थे और अपनी हार मान लेते थे:

बादी सों गहें मौन ही, समझे आगे ज्ञान।

संतन सों सन्मुख मिलें, सब को राखें मान ॥⁴⁰

जो कोई बाद लिये ही आवे। कहा कि हारा शीश नवावे ॥

जो कोई मनुष तामसी धावें। महा दीन हों बचन सुनावें ॥

जो कोई होय राजसी भाई। ताको देवें बहुत बड़ाई ॥

कोई सतोगुण संत बिराजें। तासों हिल मिल चरचा साजें ॥⁴¹

एक विवादी पण्डित ने आपसे वाद-विवाद करना चाहा। उसने कड़वे वचन बोले और कहा कि तेरा धर्म झूठा है और तू लोगों को कुमार्ग पर ले जा रहा है। सन्त चरनदास जी ने मिठास के साथ कहा कि आप बुद्धिमान हैं, मैं छोटी बुद्धिवाला हूँ:

महाराज के शीतल बैना। सब जीवन के अति सुख दैना ॥

क्षमा लिये बोले कर जोरी। तुम दीरघ नान्हीं बुधि मोरी ॥

यह कह कर अरु शीश नवाया। भोजन पेड़ों का करवाया ॥⁴²

जीवनी-लेखकों ने सन्त चरनदास जी की नम्रता के अनेक वृत्तान्त दिए हैं। शायद इस नम्रता का सबसे बड़ा प्रमाण आपकी वाणी में अपने लिए प्रयुक्त किए गये 'दास', 'नीच', 'कुकर्मी', 'मूर्ख', 'कुटिल', 'अज्ञानी', 'पापी' आदि पद हैं। धुरधाम पहुँचे हुए होने पर भी आप स्वयं को सदा दासों का दास ही कहते रहे। आप बार-बार कहते हैं कि मैं तो बुरे से बुरा था, पर मेरे सतगुरु सुखदेव ने मुझ पर कृपा करके मेरा बेड़ा पार कर दिया है:

किसू काम के थे नहीं, कोई न कौड़ी देह।

गुरु सुकदेव कृपा करी, भई अमोलक देह ॥⁴³

मोसे पतित दीन कूँ हरि जू तुम हों करो निबेरो।⁴⁴

दिल्ली में निवास

सन्त चरनदास जी ने दिल्ली में कई ठिकाने बदले और कई आश्रम बनाए। आपने 12-14 वर्ष का समय बीरमदे में बनायी गुफा में व्यतीत किया। तब

तक आपकी उम्र 31-32 वर्ष थी। फतहपुरी आश्रम में आप पाँच वर्ष रहे, जिस बीच आप एक वर्ष अज्ञातवास में भी रहे। फतहपुरी में निवास के समय आप एक बार वृन्दावन की यात्रा पर गये। मार्ग में सात ठगों ने आपको घेर लिया। ऐसे प्रभु-भक्त का ठग भला क्या कर सकते थे? वे स्वयं ही आपके प्रेम, नम्रता, दया और क्षमा को देखकर अपना दिल दे बैठे। ये सातों ठग आपके अनन्य भक्त बन गये। आपके 108 प्रमुख शिष्यों में इन सातों के नाम भी शामिल हैं। इससे पता चलता है कि सन्तजन जीवों के कर्म और आचरण को नहीं देखते। वे पापी से पापी जीवों पर भी दया की वर्षा करने के लिए तत्पर रहते हैं।

वृन्दावन यात्रा के दौरान एक दिन सन्त चरनदास को पुनः सतगुरु के देह-स्वरूप के दर्शन हुए। इस बार सतगुरु ने उन्हें भक्ति का प्रवाह चलाने का हुक्म दिया। श्री गुरु-भक्ति प्रकाश में आता है कि उन्हें समाधि की अवस्था में भी अन्तर में यही हुक्म मिला था:

योग ध्यान को छाँड़ कर, नौधा भक्ति सँभार।

यही करो अस्थापना, यही धारना धार॥⁴⁵

वृन्दावन से लौटकर कुछ दिन आप अपने नाना के घर रहे और बाद में घास मण्डी में अपना डेरा बनाया। यहाँ भी आप सात पहर ध्यान में रहते और एक पहर सत्संग करते। आप सत्संग में आनेवालों से बहुत प्रेम और नम्रता का व्यवहार करते थे:

तनकरि मनकरि दे सुख सबहीं। कडुआ बचन न बोलें कबहीं॥

जो जैसी आशा करि आवे। सो निराश कबहूँ नहिं जावे॥⁴⁶

आपके घास मण्डी के निवास-स्थान के चारों ओर दूसर या भार्गव जाति के बहुत-से परिवार रहते थे। इस स्थान पर आप वर्ष भर रहे। कई दूसर परिवार आपके सत्संगी बन गये। यहीं दूसर जाति के नन्ददास ने आपसे गुरु-मन्त्र प्राप्त किया। नन्ददास जी को आपसे विधिपूर्वक नाम लेनेवाला पहला शिष्य माना जाता है।

घास मण्डी से आप परीक्षितपुर आ गये। यहाँ नन्ददास जी के बाबा, हरिदास प्रसाद का एक मकान काफ़ी समय से खाली पड़ा था। यह मकान सन्त चरनदास का डेरा बन गया। यहाँ हरिदास प्रसाद जी अपनी पत्नी, चारों पुत्रों और एकमात्र पुत्री सहजोबाई सहित चरनदास जी के शिष्य बन गये।

सहजोबाई, दयाबाई और नूपीबाई आपकी तीन प्रमुख शिष्याएँ थीं। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्धि सहजोबाई को मिली। उसने अपनी अलंग गद्दी भी चलाई। इससे पता चलता है कि चरनदास जी ने न केवल नारी जाति को परमात्मा की भक्ति का ही अधिकार दिया, बल्कि उसे गुरु-रूप में अन्य जीवों के कल्याण की ज़िम्मेदारी भी सौंपी। इससे यह स्पष्ट होता है कि सन्त चरनदास आदि सन्तों ने अपनी वाणी में नारी से दूर रहने का जो उपदेश दिया है, उसका वास्तविक अर्थ काम की नीच प्रवृत्ति से बचने का है। काम में प्रवृत्त होना पुरुष और स्त्री दोनों के लिए हानिकारक है। कबीर और चरनदास आदि सन्तों ने कई स्थानों पर नारी की आलोचना की है, पर उन्होंने नाम देते समय कभी पुरुष और स्त्री का भेद-भाव नहीं किया। सामाजिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में पूर्ण सन्तों ने नारी को पुरुष के बराबर का दर्जा दिया है। इसलिए नारी की निन्दा का वास्तविक तात्पर्य पुरुष और स्त्री दोनों की काम-भावना की कमजोरी से है जो भक्ति में रुकावट का कारण बनती है। सन्त चरनदास जी की वाणी है:

नर नारी सब चेतियो, दीन्हो प्रकट दिखाय।

परतिरिया परपुरुष हो, भोग नरक को जाय॥

पर नारी कै आपनी, दोनों बुरी बलाय।

घर बाहर की आग ज्यों, देवे हाथ जलाय॥⁴⁷

परीक्षितपुर से सन्त चरनदास जी गद्दनपुर चले गये और यहाँ भी एक आश्रम बनवाया। यहाँ एक मुसलमान फ़कीर मुहम्मद बाकर ने आपकी शरण ग्रहण की। यहीं से आप एक बार पानीपत के दौरे पर गये जहाँ का नवाब शाकर खाँ आपका श्रद्धालु बन गया। पानीपत की इस यात्रा के दौरान एक खतरनाक डाकू भी आपका शिष्य बना। आपने उसका नाम राम धड़ल्लामल रखा।

पानीपत से आप करनाल गये। इन दोनों शहरों में भारी गिनती में जीव आपकी शरण में आये। अब तक आपकी आयु 39-40 वर्ष की हो चुकी थी।

गद्दनपुर से आप फिर घास मण्डी लौट आये और दस साल तक यहीं रहे। यहाँ से आप तेलीवाड़ा चले गये और वर्ष भर वहाँ ठहरे। तेलीवाड़ा से आप नई बस्ती आ गये। यहाँ दिल्ली का बादशाह आलमगीर द्वितीय सन् 1757 ई. में आपके दर्शनों के लिए आया। यहीं आपने राजा के पुत्र अली गौहर को राजा बनने का आशीर्वाद दिया। अहमद शाह दुर्रानी के दिल्ली आक्रमण के समय आपका निवास यहीं था।

माता का देहान्त

इस समय आपके जीवन की एक बड़ी घटना 1757-58 ई. में माता कुंजी का परलोक सिधारना था। माता से आपके सम्बन्धों की कहानी बहुत विचित्र है। आप बचपन से ही माता से बहुत प्यार करते थे और सन्त-गति प्राप्त हो जाने के बाद भी आप अत्यन्त प्रेम और नम्रता से माता का आदर करते और चरणों पर माथा टेकते रहे। आप माता के सुख, आराम का पूरा ध्यान रखते और उनकी सब बातें स्वीकार करते थे। आपने सदा माता के पास रहने के वचन का तन-मन से पालन किया। आप जब भी दिल्ली से बाहर जाते, माता की आज्ञा से ही जाते।

श्री गुरु-भक्ति प्रकाश का लेखक लिखता है कि आप वृन्दावन से वापस आये तो माता के चरणों पर माथा टेका। एक बार माता कुंजी आपके पास बैठी थीं और आप उन्हें पंखा कर रहे थे:

चरणन ऊपर राख्यो शीशा। कुंजो हित कर दई अशीशा ॥⁴⁸

एक दिना बैठे हुते, सुत माता के पास।

करते थे पंखा लिये, जैसे कोऊ दास ॥⁴⁹

एक बार माता ने अपने सन्त पुत्र से गिला किया कि तूने इतने संसार का कल्याण किया है, पर मुझे अन्तर में कुछ नहीं दिखाया। इस पर आपने माता को कहा कि आप आँखें मूँद कर सावधान होकर बैठ जाएँ। जैसे ही

आपने दृष्टि डाली माता की सुरत अन्दर लग गयी। माता कुंजी आन्तरिक जगत् की ओर चेतन होकर रस-विभोर हो गयीं:

सँभल बैठ माता जभी, मूँद लिये दोउ नैन।

खोल कही इक घड़ी में, हरि लख पायो चैन ॥

एक पहर बिस्मय रही, तन जग की सुधि नाहिं।

वा ओरी चेतन भई, अचरज लीला माहिं ॥⁵⁰

माता के परलोक सिधारने पर आपका आखिरी सांसारिक बन्धन भी नहीं रहा और आपने जगह-जगह जाकर बड़े उत्साह के साथ अपने विचारों का प्रचार शुरू कर दिया।

नई बस्ती से आप सुखदेवपुरा आ गये, जिसे उन दिनों नया शहर कहा जाता था। यह स्थान चाँदनी चौक के पास मुहल्ला बल्लीमारां और हौज़ क्राज़ी के मध्य स्थित है। चरनदास जी ने इसका नाम अपने सतगुरु के नाम पर सुखदेवपुरा रखा पर उनकी अपनी प्रसिद्धि के कारण इसका नाम मुहल्ला चरनदास पड़ गया। आज भी यह स्थान इसी नाम से जाना जाता है। इस समय आपकी आयु 61 वर्ष की थी। कहा जाता है कि यहाँ एक बार आपने दस हजार नागा साधुओं को भोजन कराया।

जीवनीकार लिखते हैं कि आपने दिल्ली में दस बार अपना डेरा बदला। आप दिल्ली के अलग-अलग भागों में रहकर सन्तों की शिक्षा का प्रचार करना चाहते थे ताकि अलग-अलग स्थानों पर अधिक से अधिक लोग आपकी संगत और सत्संग का लाभ प्राप्त कर सकें। दिल्ली में निवास के समय आप वृन्दावन, शाहजहानपुर, लखनऊ, पानीपत, करनाल और जयपुर आदि की यात्रा पर भी गये, पर आपका असली कार्य-क्षेत्र दिल्ली और उसके आसपास का क्षेत्र ही रहा। जहाँ भी आप जाते, अनगिनत लोग आपके दर्शन और सत्संग के लिए आते। आपके विशुद्ध आध्यात्मिक विचारों का प्रभाव धीरे-धीरे दूर-दूर तक फैलता गया। आपके जीवन-काल में ही आपके कई शिष्यों ने देश के कोने-कोने में और विदेशों में काबुल, कंधार तक आपके उपदेश को फैलाने का प्रयत्न किया।

करामात

श्री गुरु-भक्ति प्रकाश, लीला सागर और अन्य समकालीन रचनाओं में ही नहीं, बल्कि विशुद्ध साहित्यिक जगत् के प्रसिद्ध विद्वानों की रचनाओं में भी सन्त चरनदास जी के नाम के साथ अनेक करामातें जुड़ गयी हैं, जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। किन्तु करामातों के सम्बन्ध में यहाँ साधारण तौर पर कुछ कह देना उचित होगा।

करामात क्या है? कुदरत के नियमों से ऊपर उठकर घटने वाली, अचम्भे में डाल देनेवाली किसी घटना को करामात कहा जाता है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह है कि हमें कुदरत के सारे प्रकट और गुप्त भेदों का ज्ञान नहीं है। सम्भव है जिसे हम करामात समझते हों, वह वस्तुतः कुदरत के नियमों के अनुकूल घटी साधारण घटना ही हो। अपनी हस्ती परमपिता परमेश्वर में विलीन कर चुका पूर्ण सन्त प्रकृति के सब रहस्य जान लेता है। इसलिए केवल वही जानता है कि असल में करामात क्या है। ऐसा परम पुरुष अपार शक्ति का स्वामी होने पर भी परमात्मा का भक्त बना रहता है और परमात्मा के हुक्म से बाहर नहीं जाना चाहता। परन्तु साधारण व्यक्ति की यह हालत है कि जब तक किसी सन्त के नाम के साथ अनेक प्रकार के चमत्कार न जोड़े जायें, उसे सन्तोष नहीं होता।

हज़रत ईसा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने मृतकों को ज़िन्दा कर दिया, अन्धों को नेत्र प्रदान कर दिये और कोढ़ियों का कोढ़ दूर कर दिया। यदि यह मान भी लिया जाए कि उन्होंने ये सब करामातें दिखाई, तो परमार्थ की दृष्टि से इन करामातों का भला क्या महत्त्व है? वे लोग सदा की तरह आवागमन के चक्कर में पड़े रहे, उन्हें बार-बार मरना पड़ा और वे दोबारा अन्धे और कोढ़ी बन जाने के भय से मुक्त न हो पाये।

मृतकों को जीवन देने का वास्तविक अर्थ तो यह है कि जो लोग सांसारिक दृष्टि से जीवित परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से मृतक थे, उन्हें हज़रत ईसा ने आध्यात्मिक दृष्टि से जीवित होने की युक्ति सिखलाई। गुरु रामदास जी इशारा करते हैं कि वास्तव में मृतक कौन हैं:

सतिगुर की सेव न कीनीआ हरि नामि न लगो पिआरु ॥
मत तुम जाणहु ओइ जीवदे ओइ आपि मारे करतारि ॥⁵¹

सन्तजन ऐसे मृतकों के अन्तर में नाम का संचार करके उन्हें नया जीवन प्रदान करते हैं।

अन्धों को नेत्र देने का भाव यह है कि जो लोग प्रभु की ओर से अन्धे थे, उनको हज़रत ईसा ने ज्ञान के नेत्र दिये जिनसे वे अपने अन्तर में बसे प्रभु के दर्शन करने के योग्य हो गये। गुरु अंगद साहिब भी इशारा करते हैं कि परमार्थी दृष्टि से वह व्यक्ति अन्धा है जिसे अन्तर में बसे और रचना के कण-कण में समाये प्रभु के दर्शन नहीं होते:

अंधे एहि न आखीअनि जिन मुखि लोइण नाहि ॥

अंधे सेई नानका खसमहु घुथे जाहि ॥⁵²

कोढ़ियों का कोढ़ दूर करने से क्या तात्पर्य है? जब से हम परमपिता से बिछड़े हैं, हमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार का कोढ़ हो चुका है। हज़रत ईसा ने शरण में आनेवाले लोगों को प्रभु के नाम का अमृत पिलाया जिससे उनका यह कोढ़ दूर हो गया। उनकी आत्मा पूर्णतया निर्मल हो गयी और वे निर्मल प्रभु में विलीन होने के अधिकारी बन गये। गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं:

नामु विसारि मनि तनि दुखु पाइआ ॥ माइआ मोहु सभु रोगु कमाइआ ॥

बिनु नावै मनु तनु है कुसटी नरके वासा पाइदा ॥

नामि रते तिन निरमल देहा ॥ निरमल हंसा सदा सुखु नेहा ॥

नामु सलाहि सदा सुखु पाइआ निज घरि वासा पाइदा ॥⁵³

हमारे पाँव कट चुके हैं, क्योंकि हम अन्तर में ऊपर नहीं चढ़ सकते और निज-घर नहीं लौट सकते। सन्तजन हमें निज-धाम वापस पहुँचने के लिए आन्तरिक पाँव देते हैं। हम बहरे हो चुके हैं, क्योंकि हमें अन्तर में उठ रही शब्द की मधुर-मनोहर ध्वनियाँ सुनाई नहीं देतीं। सन्तजन हमें वे आन्तरिक

कान देते हैं जिनसे हम शब्द की दिव्य-ध्वनियों को पकड़कर अन्तर के आध्यात्मिक मण्डलों में जा पहुँचते हैं।

परमार्थी दृष्टि से मृतकों को जीवन, अन्धों को नेत्र, बहरों को कान और लंगड़ों को पाँव देना हर पूर्ण सन्त द्वारा किया जानेवाला चमत्कार है। किसी सन्त के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त किसी अन्य चमत्कार की तलाश करना और उसे विश्वास का आधार बनाना अनुचित है। इस प्रसंग में सन्त चरनदास के एक शिष्य की ये दो पंक्तियाँ उद्धृत हैं:

चमत्कार ऋद्धि सिद्धि को, तज दीनो इक बार।
करन लगे उपदेश ही, नवधा भक्ति संभार ॥⁵⁴

इस सम्बन्ध में आपके जीवन की एक घटना प्रसिद्ध है। एक योगी ऋद्धियों-सिद्धियों का स्वामी था और जादूगर के रूप में प्रसिद्ध था। वह लोगों को अपने जादू-टोने से बहुत परेशान करता था। एक बार उसने सन्त चरनदास जी को अपनी ऋद्धियों-सिद्धियों और करामातों से प्रभावित करने का प्रयत्न किया। जब कोई वश न चला तो उसने एक जहरीला पदार्थ खिलाकर उनके प्राण लेने चाहे, पर इसका सन्त चरनदास जी पर कोई प्रभाव न पड़ा। योगी बहुत लज्जित हुआ और उसने आपको अपना गुरु मान लिया। आपके उपदेशानुसार उसने अन्ततः नरकों में ले जानेवाले ऋद्धि-सिद्धि के मार्ग को त्यागकर प्रभु-भक्ति के सीधे मार्ग को अपना लिया:

कृपासिंधु ताको समझायो। नरक जान ये करम तजावो ॥
योगी सभी अकर्म तजाये। हरि की भक्ति सेती मन लाये ॥⁵⁵

सन्त चरनदास जी कहते हैं कि परमात्मा के सच्चे भक्त का हृदय प्रियतम के प्रेम से इस प्रकार परिपूर्ण होता है कि उसमें किसी अन्य वस्तु के समाने की जगह ही नहीं होती। प्रभु-भक्त में न धर्म, अर्थ, काम की चाह होती है, न ही वह मोक्ष का अभिलाषी होता है। ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ उसके पीछे-पीछे चली आती हैं, पर वह उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। उसके अन्दर एकमात्र अपने प्रभु के दर्शनों की अभिलाषा होती है:

प्रभु दरसन बिन और न आसा धर्म काम अरु मोच्छ न चाहे।
आठौ सिद्धि फिरें संग लागी नेक न देखैं नैन उठाये ॥⁵⁶

दिल्ली दरबार की ओर से सम्मान

नादिर शाह के हिन्दुस्तान से चले जाने के बाद बादशाह मुहम्मद शाह सन्त चरनदास जी के आश्रम में आया और कुछ देर उनके सत्संग में भी रहा। इसके बाद शाही दरबार में सन्त चरनदास जी का सदा सम्मान बना रहा। बादशाह, बेगमें, शहजादे, अमीर, वजीर और अहलकार प्रायः उनके दर्शनों के लिए आते रहते थे। मुहम्मद शाह के पुत्र अहमद शाह का 1748 से 1754 ई. तक राज्य रहा। वह भी सन्त चरनदास जी का श्रद्धालु था। उसके बाद आलमगीर द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसने अपना एक मन्त्री सन्त चरनदास जी की सेवा में भेजा और आपके दर्शनों के लिए आने की आज्ञा माँगी। सन्त चरनदास जी ने मन्त्री को यह कहकर लौटा दिया कि बादशाह से मिलने का कोई लाभ नहीं क्योंकि उसकी उम्र केवल दो साल बाकी है:

वाका राज नहीं थिर होना। और सिताबी हवै है गौना ॥
थोड़ी उमर रही जग माहीं। ताते मिलवे कूं चित नाहीं ॥⁵⁷

मन्त्री ने डर के कारण बादशाह को कुछ न बताया और बादशाह अपने आप सत्संग में पहुँच गया। बादशाह ने कुछ धन और पाँच गाँव जागीर में देने की इच्छा प्रकट की, पर सन्त चरनदास जी ने कुछ भी स्वीकार न किया:

पाँच गाँव कुछ रुपये लाये। महाराज की भेंट चढ़ाये ॥
भक्तिराज कहि मैं नहिं लैहूँ। बेग उठा नहिं फेंक चलैहूँ ॥⁵⁸

दो वर्ष बाद बादशाह मन्त्रियों के षड्यन्त्र का शिकार होकर मारा गया। आलमगीर द्वितीय की मौत के बाद बादशाह शाहजहाँ तृतीय गद्दी पर बैठा। उसने आलमगीर द्वितीय के सारे परिवार को कैद कर लिया। केवल उसका पुत्र अली गौहर, जो उस समय पटना की ओर गया हुआ था, बच गया।

आलमगीर की विधवा बेगम ने किसी विश्वसनीय अहलकार के द्वारा दया-मेहर की याचना करते हुए एक पत्र सन्त चरनदास जी को भेजा। चरनदास जी ने उस पत्र के पीछे ही लिखकर भेज दिया कि बेगम चिन्ता न करें, उसका पुत्र अली गौहर दिल्ली का अगला बादशाह बनेगा। कुछ महीनों बाद ही मराठों ने शाहजहाँ तृतीय को गद्दी से उतार दिया और अली गौहर को शाह आलम द्वितीय के नाम से दिल्ली के सिंहासन पर बिठा दिया। बादशाह बनने के बाद वह अपने परिवार सहित चरनदास जी के दर्शनों के लिए आया। उसने भी मोहरें और जागीर भेंट करनी चाही पर आपने ये वस्तुएँ स्वीकार नहीं कीं।

सेवा, भेंट

यह बात ध्यान देने योग्य है कि सन्त चरनदास जी ने न नादिर शाह से कोई भेंट स्वीकार की, न मुहम्मद शाह रंगीले से, न आलमगीर द्वितीय से, न ही शाह आलम द्वितीय या किसी अन्य बादशाह से। आपकी पानीपत की यात्रा के समय वहाँ के नवाब ने आपको जागीर देनी चाही पर आपने क़बूल नहीं की। बाद में जयपुर के राजा सवाई ईश्वर सिंह से भी आपने कोई भेंट स्वीकार नहीं की:

पाँच गाँव अरु साठ हजार। साल पै साल करो भंडारा ॥

चरणदास सो नाहिं रखाये। सो सब उलटे ही भिजवाये ॥⁵⁹

आप किसी सेवक के घर भोजन नहीं करते थे, न किसी से वस्त्र या धन की भेंट लेते थे। इसके विपरीत आप ज़रूरतमन्दों की सहायता करके खुश होते थे, क्योंकि आपको अपनी माता और नाना से काफ़ी धन मिला था और आपकी निजी आवश्यकताएँ नहीं के बराबर थीं:

रहें घास की मन्डी माहीं। पूजा भेंट कछू लें नाहीं ॥

काहू से परसाद न जेवैं। उलटा लोगन को कुछ देवैं ॥

निशि दिन ध्यान करन सों हेता। रहें अकेले तत् के बेता ॥⁶⁰

यह क्रम आपकी साठ साल की उम्र तक चलता रहा:

साठ वर्ष की उमर तक, लई न पूजा भेंट।

कै कोई लावो बादशा, कै कोई लावो सेठ ॥

कै कोई लावो शिष्य ही, कै कोई लावो दास।

बस्तर हू लीना नहीं, रहे सदा निरबास ॥⁶¹

इसके बाद शिष्यों की बढ़ रही गिनती और दूर-निकट से दर्शन और सत्संग के लिए आनेवाले लोगों के भोजन और निवास के लिए आपने सेवा-भेंट लेनी शुरू कर दी। पर इसमें भी आप देनेवाले की कमाई का ध्यान रखकर ही लेते थे तथा इसका अपने लिए कभी उपयोग नहीं करते थे:

जब सों लेने ही लगे, कछू जो राखे कोय।

लेत बिचार बिचार ही, तामें मैल न होय ॥⁶²

सन्त चरनदास जी ने किसी राजा या शासक से न कोई राजनीतिक लाभ उठाने का प्रयत्न किया और न ही किसी प्रकार की आर्थिक सहायता स्वीकार की। न आपको राजाओं से सम्मान प्राप्त करने की चाह थी और न ही धन और माया एकत्रित करने की इच्छा थी। आप प्रभु-भक्ति के धन से माला-माल थे और अमीर-ग़रीब, राजा-रंक सबको एक दृष्टि से देखते थे। राजा और शासक आपके निकट सम्पर्क में थे, पर आप राजनीति से सदा दूर रहे।

जयपुर के राज-घराने में सम्मान

सन्त चरनदास जी का केवल दिल्ली दरबार में ही सम्मान नहीं था। आपके महान् व्यक्तित्व और उच्च निर्मल रूहानी उपदेश की प्रशंसा जयपुर के राजघराने में भी पहुँच चुकी थी। जयपुर के राजा सवाई जय सिंह के दो बेटों में राजगद्दी के लिए संघर्ष चल रहा था। युवराज ईश्वर सिंह को राजा ने कैद कर रखा था। ईश्वर सिंह का एक निकट सेवक सन्त चरनदास जी का श्रद्धालु था। उसने ईश्वर सिंह को सन्त चरनदास जी की दया-मेहर के वृत्तान्त सुनाये तो उसने श्रद्धा और नम्रता से आपको पत्र लिखा।

चरनदास जी ने उसे उत्तर दिया कि तू शीघ्र ही जयपुर का राजा बन जायेगा। दो महीने पश्चात् राजा जय सिंह की मृत्यु हो गयी और ईश्वर सिंह राजा बन गया। वह मुहम्मद शाह से तिलक लगवाने की रस्म पूरी करने के लिए दिल्ली आया तो उसने सन्त चरनदास जी के भी दर्शन करने चाहे। आपने यह कहकर उसे अपने आश्रम में आने से रोक दिया कि हम स्वयं तुमसे मिलने के लिए जयपुर आयेंगे। दो वर्ष बाद आपने राजा और रानी को सपने में दर्शन दिये। बाद में दोनों आपके शिष्य बन गये और सारी उम्र आपका मान-सम्मान करते रहे।

ज्योति-ज्योत समाना

पूर्ण सन्त काल के अधीन नहीं होते, पर काल की नगरी में आवश्यकता से एक पल भी अधिक रहना पसन्द नहीं करते। परमात्मा द्वारा जिन आत्माओं को चिताने का भार उन्हें सौंपा जाता है, उन्हें चिताकर वे शीघ्र निज-धाम लौट जाना चाहते हैं। श्री गुरु-भक्ति प्रकाश के लेखक ने लिखा है कि सतगुरु ने सम्बत् 1828 (1771 ई.) में मुझे बता दिया था कि आप केवल बारह वर्ष और इस मर्त्य-लोक में रहेंगे। सतगुरु ने उसे इस भेद को गुप्त रखने का हुक्म भी दे दिया था:

बारह बरस मैं और हूँ, मृत्यु लोक के माहिं।

फिर जैहों ईश्वर निकट, जग में रहना नाहिं ॥⁶³

कहा जाता है कि आपने परलोक सिधारने से एक वर्ष पहले, तीन महीने पहले और दो दिन पहले भी अपने परम-धाम जाने के समय के बारे में संकेत दिये थे। श्री गुरु-भक्ति प्रकाश के लेखक के अनुसार जब आपका 80वाँ वर्ष शुरू हो गया तो आपने खाना-पीना, चलना-फिरना बहुत कम कर दिया। आप निरन्तर ध्यान में लीन रहते और बोलते भी बहुत कम थे:

अस्सीवां संबत लगा, जब सों यह अस्थाप।

ध्यान माहिं बहुते रहें, थोड़ा बोलें आप ॥⁶⁴

आप इन दिनों फ़तहपुरी के निकट सुखदेवपुरा में स्थित आश्रम में रहते थे। परम-धाम सिधारने से दो दिन पूर्व इसकी सूचना देने के बारे में श्री गुरु-भक्ति प्रकाश में इस प्रकार उल्लेख मिलता है:

दो दिन बीते जायेंगे, परम धाम को तात।

दशम द्वार की गैल हो, चार घड़ी रहे रात ॥⁶⁵

दो दिन बाद आपने 79 वर्ष तीन महीने की उम्र भोगकर सम्बत् 1839 विक्रमी में मार्गशीर्ष सप्तमी को बुधवार के दिन परम-धाम जाने की तैयारी कर ली। आपने चारों ओर बैठे सेवकों को हुक्म दिया कि कोई मेरे निकट न रहे और सब ध्यान में बैठ जायें। जब अन्तर में अनहद शब्द सुनाई दे तो समझ लेना कि मैं संसार का त्याग करके धुर-धाम चला गया हूँ:

सबसों कही मत पास रहावो। शब्द सुनो तब मो ढिंग आवो ॥

.....

चार घड़ी जब रैन रहाई। दशम द्वार फट शब्द कराई ॥

बाजे अनहद बजे घनेरे। सुन सुन साधु जु आये नेरे ॥

जै जै जै जैकार सुनायो। लखि मस्तक लहि देह तजायो ॥⁶⁶

आपने परलोक चले जाने की इच्छा दो दिन पहले प्रकट कर दी थी और यह खबर चारों ओर फैल गयी थी। हजारों लोग दूर-दूर से आपके अन्तिम दर्शनों के लिए पहुँच चुके थे।

सन्त चरनदास जी ने लोगों को धर्म, जाति, ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष के भेद-भाव को छोड़कर एक परमात्मा की भक्ति का मार्ग दिखलाया था। अब एक अपार भीड़ हर प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक झगड़े और पक्षपात छोड़कर इस परम पुरुष के प्रति अपना प्यार और सम्मान प्रकट करने के लिए उमड़ आई थी। बादशाह ने हाथी, पलटन, बैड-बाजे और झण्डे भिजवाये थे, छोटे-बड़े अनेक अधिकारी अन्तिम यात्रा में शामिल होने के लिए उपस्थित थे:

योगी सन्यासी वैरागी। सुन सुन आये बहु अनुरागी॥
 पातशा बहुत पठाये साजा। गज निशाण पल्टन सह बाजा॥
 छोटे बड़े मुसद्दी आये। महाराज के नेह पगाये॥
 शेख सइयद मुल्लाने केते। आये लिये मुहब्बत हेते॥
 माल पहिराय फूल बरसावें। अतर गुलाब सुगन्ध छिरकावें॥⁶⁷

जीवनी-लेखक लिखते हैं कि सन्त चरनदास जी की अन्तिम यात्रा उनकी जीवन-यात्रा से भी अधिक आश्चर्यजनक थी। इतनी भीड़ कभी जीवन-काल में उनके चारों ओर नहीं थी जितनी अन्तिम दर्शनों के लिए मौजूद थी। दिल्ली के सुल्तान शाह आलम द्वितीय ने भी रास्ते में सलेमगढ़ के ऊपर से आपके दर्शन किये:

जीवत न सो उन ठाठ निहारे। चरणदास जो मरती बारे॥
 लाखों नर दर्शन को आये। वे जीवत किन्हि ना यों ध्याये॥

 भीर को कोउ अन्त न पारा। कोठन पर और मध्य बजारा॥

 चढ़ सलेम गढ़ ऊपर आये। बादशाह कर दर्श सिधाये॥
 बादशाह के लोग जु धये। दूर दूर दल लोग कराये॥⁶⁸

अपने परलोक सिधारने की पूर्व-सूचना देने के बावजूद सन्त चरनदास जी ने किसी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त नहीं किया। श्री जसराम उपकारी ने भक्ति बावनी में लिखा है कि परलोक सिधारते समय आपके शिष्यों और प्रशिष्यों की गिनती 5000 हो चुकी थी। आपके बावन शिष्यों ने अलग-अलग गद्दियाँ चला ली थीं। इनको बड़ी गद्दी या बड़ा स्तम्भ कहा जाता था। इसके अलावा छप्पन छोटी गद्दियाँ थीं। इन 108 गद्दियों में से तीन गद्दियाँ प्रमुख मानी जाती थीं - रामरूप जी की गद्दी, सहजोबाई की गद्दी और जुगतानन्द जी की गद्दी।

धीरे-धीरे इन विभिन्न गद्दियों ने चरनदासी सम्प्रदाय या चरनदास जी के सतगुरु शुकदेव जी के नाम से शुक सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया।

इन गद्दियों पर समय-समय पर आनेवाले महापुरुषों ने अपनी-अपनी रूहानी प्राप्ति के अनुसार सन्त चरनदास जी द्वारा चलाई विशुद्ध परमार्थी धारा को देश के भिन्न-भिन्न कोनों में पहुँचाने की कोशिश की। जब तक अन्तर्मुख कमाई वाले साधु इन गद्दियों पर विराजमान रहे, इनमें अन्तर्मुख रूहानियत पर जोर रहा। इस प्रकार आपके ज्योति-ज्योत समा जाने के बाद भी काफ़ी समय तक आप द्वारा चलाये गये परमार्थी ज्ञान-दीपक का प्रकाश दूर-दूर तक उजियारा फैलाता रहा।

महान् देन

सन्त चरनदास जी का समय धार्मिक संकीर्णता, कट्टरता, वैर-विरोध और इनसे उत्पन्न क्लेशों का युग था। आपने धार्मिक उन्माद और पक्षपात के उस अन्धकारमय युग में प्रभु-प्रेम और मानव-प्रेम की ज्योति प्रज्वलित की।

सन्त चरनदास जी भली-भाँति जानते थे कि धार्मिक उन्माद का वास्तविक कारण अज्ञान और बाहरमुखी कर्मकाण्ड के प्रति अन्ध-भक्ति है। इसलिए आपने अपने उपदेश को हर प्रकार के भेष और कर्मकाण्ड से मुक्त रखा और बाहरमुखी कर्मकाण्ड के स्थान पर अन्तर्मुख रूहानी अभ्यास पर जोर दिया तथा आचरण की निर्मलता और व्यवहार की पवित्रता को प्रमुख रखा।

सन्त चरनदास जी ने सब धर्मों की तह में रहनेवाली सर्वमान्य रूहानियत को प्रकट किया और सभी धर्मों के लोगों को प्रभु-भक्ति का एकमात्र सरल, सहज साधन सिखाया। आपकी कृपा का द्वार सभी धर्मों और जातियों के लोगों के लिए समान रूप से खुला था। हिन्दू और मुसलमान, अमीर और गरीब, स्त्री और पुरुष, गृहस्थी और त्यागी आपसे बिना किसी भेदभाव के एक जैसी दया-मेहर और सेवा-सहायता प्राप्त करते थे। इतिहासकारों ने लिखा है कि आपके सेवकों और सत्संगियों में चारों वर्णों के लोग शामिल थे। सैकड़ों मुसलमान आपके सत्संग में आते थे और इनमें से कई ने आपसे विधिपूर्वक प्रभु-भक्ति की अन्तर्मुख युक्ति भी ग्रहण की थी। केवल साधारण नर-नारी, राजा-महाराजा, अमीर-वज़ीर आदि ही नहीं, बल्कि अनेक सम्प्रदायों के योगी, महन्त, फ़क़ीर, सूफ़ी और संन्यासी भी चरनदास

जी का सम्मान करते थे और प्रायः आपके दर्शनों के लिए आया करते थे। इनमें नाथपंथी बाबा मस्तान (भोर, जिला रोहतक) और गुमानीदास (टुवाल, जिला रोहतक), बेनामी सम्प्रदाय के साधु सीतलदास (अलवर), वृन्दावन के साधु नारायण स्वामी और सूफी फ़ख़रुद्दीन (दिल्ली), शाह वली अल्ला मुहद्दस (दिल्ली) और हज़रत मुहम्मद यूनीस (तिजारा, अलवर) के नाम प्रमुख हैं। इनके अलावा ग़रीबदास सम्प्रदाय के संस्थापक सन्त ग़रीबदास जी (1717-1778) से भी आपके निकट के और सम्माननीय सम्बन्ध थे। ये दोनों सन्त एक-दूसरे से बहुत प्रेम करते थे।

सन्त चरनदास जी अपने सत्संग में बहुत सरल ढंग से यह बात समझाया करते थे कि सबके अन्तर में एक परमात्मा का नूर समाया हुआ है। इसलिए हर धर्म, जाति, रंग-रूप और नस्ल के लोग एक जैसे प्यार और सम्मान के अधिकारी हैं।

आपने सत्संग में इस बात पर बहुत जोर दिया कि हर एक के अन्तर में रहनेवाले सर्वव्यापक परमात्मा से अपने अन्तर में जाकर ही मिलाप किया जा सकता है, परमात्मा से मिलाप के लिए किसी बाहरी भेष या कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता केवल लिव को अन्तर में परमात्मा के शब्द से जोड़ने की है।

समय बीतने पर आपके नाम से चल रहे चरनदासी सम्प्रदाय में जाति-पाँति, मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, विभिन्न कर्मकाण्ड का पालन करने, पीले वस्त्र पहनने, हाथ में तुलसी की माला रखने, माथे पर लम्बा टीका लगाने आदि का रिवाज आ गया। पर स्वयं सन्त चरनदास जी ने अपने सत्संग और वाणी में केवल अन्तर्मुख रूहानी साधना और आचरण की निर्मलता का ही प्रचार किया है।* अपने एक शब्द में बाहरमुखी भेष और कर्मकाण्ड को त्यागकर सुरत-शब्द के अभ्यास पर जोर देते हुए आप कहते हैं:

* "Belief in the Vedas & Puranas, image worship, obedience to caste rules, pilgrimages and other outward religious observances, although to a certain degree effectual, are when compared with Bhakti towards the Guru or with meditation on the name are of no value as means of Salvation."⁶⁹

माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिम दौरा।

नाभि कैवल कस्तूरि हिरन जंगल भो बौरा ॥

.....

चरन दास लख दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।

निरखि परखि ले निकट हीं कहन सुनन कूँ दूर है ॥⁷⁰

तीरथ बर्त्त सभी फल देवैं, राम नाम तुल नाहिं।⁷¹

सन्त चरनदास जी ने स्वयं विवाह नहीं किया था, पर आपने गृहस्थ को प्रभु-प्राप्ति के लिए बाधक नहीं माना। आपके सेवकों और शिष्यों में गृहस्थ और त्यागी दोनों शामिल थे और आप इस विषय में कोई शंका नहीं रहने देते थे कि परमात्मा की प्राप्ति गृहस्थ या त्याग पर नहीं, प्रभु-भक्ति पर निर्भर है। सन्त चरनदास जी अपनी शरण में आनेवाले सेवकों को हक्र-हलाल की कमाई करने और पराये धन के ज़हर से बचने का उपदेश देते थे। आप चरित्र की पवित्रता पर बल देते थे और परायी स्त्री और पराये पुरुष के त्याग को रूहानी तरक्की का मूल आधार मानते थे।

आप हर प्रकार की हिंसा के विरुद्ध थे। आप निन्दा और कठोर वचनों द्वारा किसी का दिल दुखाने को भी हिंसा ही समझते थे। स्वाभाविक तौर पर आप जीव-हत्या, जीव-बलि और मांस के प्रयोग को घोर पाप मानते थे। यही कारण है कि चरनदासी सम्प्रदाय में प्रारम्भ से ही मांस, मछली और शराब आदि नशे के प्रयोग की मनाही रही है और जीव-दया पर विशेष जोर दिया गया है:

चोरी जारी अरु हिंसा है। इन पापन सों भारी भय है ॥⁷²

तीजे हिंसा त्यागहिं कीजै। दया राखि जीवन सुख दीजै ॥

दया बराबर तप नहिं कोई। आतम पूजा ता सों होई ॥⁷³

सन्त चरनदास जी ने परमेश्वर द्वारा अपनी भक्ति के लिए स्वयं स्थापित किए गये और अनन्त काल से चले आ रहे सन्त-मार्ग का प्रचार किया।

आपने प्रभु-प्रेम और लोक-प्रेम में इस प्रकार मेल मिला दिया कि प्रभु-प्रेम लोक-प्रेम का आधार बन गया।

आपने अपने असल और मूल से टूटे जीवों को असल और मूल से जोड़ा। आपने सतगुरु-भक्ति, नाम-भक्ति और निष्काम सेवा का वह मार्ग प्रशस्त किया जो उनके समय में ही नहीं, बल्कि अनादि काल से मंजिल पर पहुँचाने वाला एकमात्र मार्ग है।

सन्त चरनदास जी की अलौकिक प्रतिभा, रूहानी रसाई और अद्भुत परोपकार को देखते हुए उनके अनेक शिष्य और प्रशिष्यों ने आपकी बहुत महिमा की है। आपके परम शिष्यों – रामरूप जी, जोगजीत जी, सरस माधुरी शरण, सहजोबाई और दयाबाई – ने अपनी रचनाओं में बार-बार गुरुदेव का यश गाया है। सहजोबाई और दयाबाई का शायद ही कोई पद हो जिसमें उनके गुरु चरनदास की महिमा न हो। इन शिष्यों ने अपने गुरुदेव को अज्ञान का अन्धकार दूर करनेवाला सूर्य और शीतलता प्रदान करनेवाला चन्द्रमा कहा है। उन्होंने गुरुदेव को लोहे को सोना बना देनेवाला पारस और बेकार वृक्षों को अपनी सुगन्धि से सुगन्धित कर देनेवाला चन्दन कहा है। सतगुरु के प्रेम में मगन सहजोबाई ने तो सतगुरु को हरि से भी ऊँचा दर्जा दिया है:

चरनदास पर तन मन वारूँ। गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ॥⁷⁴

आपकी शिष्य-परम्परा से सम्बन्धित एक साधु मलूकदास ने आपके जीवन और रूहानी उपकार के सार का इस प्रकार वर्णन किया है:

चरनदास चेतन पुरुष, बहुत चिताये जीव।
जनम जनम के बीछड़े, आनि मिलाये पीव॥
आनि मिलाये पीव, राह भूली दिखलाई।
ज्ञान ध्यान दे भक्ति, जोग की राह सिखाई॥
ब्रह्म सँ हो अवतार, उन किया भक्ति परकास।
बहुत जीव मुक्ता किये, ऐसे श्री चरणदास॥⁷⁵

वाणी: कलात्मक पक्ष, शैली और विषय-वस्तु

सन्त चरनदास जी ने केवल अपनी संगत और सत्संग द्वारा ही लोगों का कल्याण नहीं किया, बल्कि आप भारी मात्रा में ऐसी अलौकिक वाणी का भण्डार भी विरासत में छोड़ गये हैं जो परमार्थी ज्ञान के जगमगाते प्रकाश-स्तम्भ की भाँति सदा मनुष्य-जाति का मार्ग प्रकाशित करता रहेगा। आपने बहुत-सी वाणी की रचना की जिसे साहित्यिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से विद्वानों और भक्तों से एक जैसा सम्मान मिला है।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि सन्त चरनदास जी खड़ी बोली या हिन्दी के ही नहीं, बल्कि राजस्थानी, पंजाबी, फ़ारसी और संस्कृत के भी ज्ञाता थे। आपको अमीर खुसरो और जायसी आदि कवियों की कोटि में रखा जा सकता है, जिन्होंने उत्तरी भारत की कई भाषाओं में फ़ारसी की मिलावट से उत्पन्न होनेवाली हिन्दुस्तानी भाषा के विकास में योगदान दिया है। आपकी एक ग़ज़ल नीचे दी जाती है जिससे पता चलता है कि आपकी भाषा सरल किन्तु कलात्मक और प्रभावशाली है:

मुझे कृष्ण के मिलने की आरजू है।
शबो-रोज़ दिल में यही जुस्तजू है॥
नहीं भाती हैं मुझको बातें किसी की।
सुनी जब से उस यार की गुफ्तगू है॥
नहीं मुझको मतलब जहाँ में किसी से।
चुभा जब से दिल में सनम खूबरू है॥
जो आशिक है उसका नहीं उससे गाफिल।

तड़फता अज़ल से खड़ा रूबरू है ॥
 शराबे मुहब्बत पिई जिसने यारो ।
 हुआ दो जहाँ में वो ही सुखरू है ॥
 सभी आशिकों पै किया करम तूने ।
 मु आसी पै तेरा नहीं दिल रजू है ॥
 जहाँ देखे रनजीत वहीं है वो हाज़िर ।
 हर एक गुल में उसकी मिली मुश्कबू है ॥¹

आपकी पंजाबी शब्दों से ओत-प्रोत एक रचना इस प्रकार है :

लटकरी चाल पै मैं वारी वारी जाँदियां ।
 रैन दिना सानू ध्यान तुसाडो, मन वच हूँदी बाँदियां ॥
 कुण्डल कान मुकुट शिर सोहै, शोभा अधिक सुहाँदियां ।
 अलबेली छवि बाँके नैना, निरखत नैन लुभाँदियां ॥
 जब बाजी प्यारे तेंडी बंशी, खान पान बिसराँदियां ।
 भूल गई घर काज साज सब, लाज छाँड उठ आँदियां ॥
 चरणदास हम भई तिहारी, फूली अंग न समाँदियां ।
 राखि शरण शुक्रदेव पियारे, चरणकमल लिपटाँदियां ॥²

इस प्रकार के कई अन्य शब्द मिलते हैं ।

आपकी भाषा सरल और आसान है, और इसमें गहरे से गहरे और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को पूरी शक्ति और बारीकी से प्रकट करने का सामर्थ्य है । आपके पास योग-मार्गी, ज्ञान-मार्गी, कर्म-मार्गी और भक्ति-मार्गी शब्दावली का अथाह भण्डार है । जिस धारा के विचार प्रस्तुत करने होते हैं, उस धारा से सम्बन्धित शब्दों को आपने सहज भाव से प्रयुक्त किया है । आपकी वाणी जितनी गूढ़ है, उतनी ही सुखदायक भी है और आपके भावों में आकाश को छू लेने वाली बुलन्दी है और साथ ही धरती को स्पर्श करनेवाली सरलता भी । परमार्थ के गूढ़तम भेदों को आपने साधारण बोलचाल की भाषा में सफलतापूर्वक व्यक्त किया है । कहीं-कहीं संस्कृत के शब्दों का अधिक

प्रयोग है, पर मुख्य तौर पर आपने ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसे भारत के बहुत-से भागों में सभी धर्मों और जातियों के लोग बिना किसी कठिनाई के समझ सकें । आपने परमात्मा के प्रेम के अनुभव को प्रकट करने के लिए ऐसी सर्वसाँझी भाषा का प्रयोग किया है जो संसार के उच्चतम परमार्थी ज्ञान को सरल ढंग से जन-जन तक पहुँचाने में समर्थ है ।

अलंकार, छन्द और संगीत की दृष्टि से आपकी वाणी को रंग-बिरंगे चित्रों की विशाल चित्रशाला, विविध फूलों से लदे पौधों की सुन्दर फुलवारी और अनेक राग-रागिनियों का सुरीला संगम कहा जा सकता है । आपने कई छन्दों का निपुणता से प्रयोग किया है, वाणी को राग-रागिनियों के अनुसार ढाला है । निश्चय ही यह साहित्यिक और कलात्मक गुणों का भण्डार है ।

भाव की दृष्टि से भी आपकी वाणी पर कुछ नज़र डाल लेते हैं । आठ सौ पृष्ठों के *भक्ति-सागर* नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित आपकी निम्नलिखित इक्कीस रचनाओं से पता चलता है कि अलग-अलग रचनाएँ अलग-अलग विषयों से सम्बन्धित हैं और इन विषयों का क्षेत्र काफी विशाल है :

- | | |
|-------------------------------|-----------------------------|
| 1. ब्रज चरित्र वर्णन | 2. अमर लोक अखण्ड धाम |
| 3. धर्म जहाज़ वर्णन | 4. अष्टांग योग वर्णन |
| 5. योग सन्देश सागर | 6. ज्ञान स्वरोदय |
| 7. अथर्ववेदीय पंचोपनिषद् भाषा | 8. भक्ति-पदार्थ |
| 9. भक्ति-सागर | 10. मन विरक्त करण गुटका सार |
| 11. जागरण महात्म्य | 12. दान लीला |
| 13. माखन चोरी लीला | 14. काली नथन लीला |
| 15. मटकी लीला | 16. श्रीधर ब्राह्मण लीला |
| 17. कुरुक्षेत्र लीला | 18. नासकेत लीला |
| 19. ब्रह्म ज्ञान सागर | 20. शब्द |
| 21. कवित्त वर्णन | |

उपर्युक्त रचनाओं में से *नासकेत लीला* और *अथर्ववेदीय पंचोपनिषद्* संस्कृत से हिन्दी में अनुवादित हैं । आपने जन-साधारण को कर्म और फल

के सिद्धान्त की जानकारी देने का यत्न *नासकेत लीला* में किया है। इसमें अलग-अलग कर्मों से नरकों और स्वर्गों में मिलनेवाले अलग-अलग प्रकार के फल का उल्लेख है।

पाँच उपनिषदों के अनुवाद द्वारा आपने प्राचीन ऋषि-मुनियों के संस्कृत में प्रकट किये गये विचारों को साधारण लोगों के लिए सुलभ बना दिया है जो आपकी उदारता और परोपकार की भावना का परिचायक है। हो सकता है कि ये रचनाएँ आपके प्रारम्भिक प्रयत्न हों। सम्भव है, आप लोगों को यह बताना चाहते हों कि परमार्थ की बुनियादी समस्याओं के बारे में अलग-अलग समय में हुए महात्माओं के विचारों में पूर्ण समानता है।

आपकी रचना *अष्टांग योग वर्णन* के आधार पर आपको योग-मार्गी तथा *ज्ञान स्वरोदय* आदि के आधार पर ज्ञानमार्गी सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है जो उचित नहीं है। आप *अष्टांग योग वर्णन* के विषय में लिखते हैं:

गुप्त महा यह जान कठिन है साधना। कोटिन में कोई एक करे आराधना ॥
देखा देखी बहुत मनुष याकूँ लगैं। कोई चढ़ै परमान घने मग में थकैं ॥³

आपने *ज्ञान स्वरोदय* के अन्त में यह निष्कर्ष दिया है कि मैंने योग को भक्ति का अंग बनाकर आत्मा की पहचान द्वारा परमात्मा की पहचान की। इस कार्य में सफलता अजपा-जाप अर्थात् शब्द या नाम की सहायता से मिली। जब मैंने मन को शब्द या नाम रूपी अजपा-जाप में लीन कर दिया तो मन और आत्मा की गाँठ खुल गयी और मन के पंजे से आजाद हुई आत्मा परमात्मा में समा गयी:

योगयुक्ति हरिभक्ति कर ब्रह्मज्ञान दृढ़ कर गह्यो।
आतम तत्त्व बिचारि कै अजपा में सनि मन रह्यो ॥⁴

वृन्दावन में गुरु सुखदेव चरनदास को समझाते हैं:

भक्ति बिना करे योग ही, ताही तपस्या जान।
चाहे फल अरु कामना, सो वह मूढ़ अयान ॥
.....

रानी भक्ति शिरोमणी, सब धर्मन शिरमोर।
पुरुष ओर सम्मुख करे, जगसों लावे मोर ॥⁵

अर्थात्, भक्ति-रहित योग को कठिन तपस्या समझना चाहिए। जो लोग फल की इच्छा रखकर और अपनी कामना की पूर्ति के लिए इसमें लगते हैं, वे सचमुच मूर्ख और अज्ञानी हैं। भक्ति को सभी साधनों का शिरोमणि और सभी धर्मों का सिरमौर समझना चाहिए जो संसार से मोड़कर हमें सत्पुरुष या परमात्मा का साक्षात्कार करा देती है:

आठो सिद्धि नवो निधि डारो। केवल भक्ति वताओ धारो ॥⁶

योग ध्यान को छाड़ कर, नौधा भक्ति सँभार।
यही करो अस्थापना, यही धारना धार ॥⁷

स्पष्ट है कि आपकी रचनाओं में अष्टांग-योग और ज्ञान-योग का वर्णन अवश्य है और आपने निजी जीवन में इनकी सिद्धि भी की थी, पर बाद में आपने भक्ति-योग या सुरत-शब्द-योग को धारण किया और जन-साधारण को भी इसी का उपदेश दिया। आपकी रचनाएँ *भक्ति-सागर*, *भक्ति-पदार्थ वर्णन* और अनेक फुटकल शब्द प्रेम-भक्ति, नाम-भक्ति या सुरत-शब्द-योग के उपदेश से भरी पड़ी हैं।

आपकी रचनाएँ *माखन चोरी लीला*, *काली नथन लीला*, *श्रीधर ब्राह्मण लीला*, *कुरुक्षेत्र लीला*, *पांडव यज्ञ लीला* आदि में भगवान कृष्ण की महिमा की गयी है। इन रचनाओं में वैष्णव भक्ति का रंग है। कुछ स्थानों पर कृष्ण और राधा की लीला का वर्णन है। इसके अलावा आपकी रचनाओं में श्याम, घनश्याम, केशव, मुरारी, गिरधारी आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह सबकुछ देखते हुए कुछ विद्वानों ने आपको श्री कृष्ण का उपासक सिद्ध करने और आपको वैष्णव भक्तों की श्रेणी में खड़ा करने का प्रयत्न किया है। हो सकता है कि सन्त चरनदास जी की ये रचनाएँ उनके जीवन के प्रारम्भिक काल की हों परन्तु भक्ति में प्रौढ़ता प्राप्त करने के बाद आपने स्पष्ट रूप से निर्गुण-धारा को अपना लिया। यह भी सम्भव है कि सन्त चरनदास जी

ने अपने समय की काव्य-परम्परा के अनुसार कृष्ण-भक्ति के पद रचे हों क्योंकि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में इस प्रकार के काव्य को बहुत मान्यता प्राप्त थी पर ऐसे पदों में भी निर्गुणधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले सन्त चरनदास की रचना *ब्रज चरित्र* में से निम्नलिखित प्रसंग देखें:

निज धामा की कहियत शोभा। वृन्दावन में रहैं अलोपा ॥
दिव्य दृष्टि बिन दृष्टि न आवै। सकल पुराण वेद यों गावै ॥⁸

वृन्दावन सोइ देखि हैं, जिन देखो हरि रूप।
दुर्लभ देवन को भयो, महागुप सों गुप ॥
वृन्दावन सेवन करै, अमरलोक को जाय।
इन्द्री जीतै हरि भजै, प्रेम प्रीति के भाय ॥⁹

जिन माहीं हरि वेणु बजावैं। मधुर मधुर बाँके सुर गावैं ॥
चौथे पद को है वह स्वामी। सब जीवन को अन्तरयामी ॥¹⁰

वन उपवन अब कहत हों, मथुरा मण्डल माहिं।
बिना भक्ति ब्रजनाथ की, क्योंहूँ दीखत नाहिं ॥¹¹

स्पष्ट है कि जिस मथुरा या ब्रज-मण्डल की ओर आप संकेत कर रहे हैं वह सूक्ष्म से सूक्ष्म, गुप्त से गुप्त है। वह देवताओं तक की दृष्टि से परे है। वह परम धाम केवल प्रभु-भक्ति द्वारा मन-इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने और अन्तर में दिव्य-दृष्टि पैदा करने पर दिखायी देता है। इसी प्रकार जिस कृष्ण की आप महिमा करते हैं, वह चौथे लोक या सतलोक का स्वामी है और अनहद शब्द की बाँसुरी बजाता है।

आपने अपनी रचना *अमर लोक अखण्ड धाम* में बहुत विस्तारपूर्वक समझाया है:

अनन्त भानु को सो उजियारो। वा मण्डल को रूप विचारो ॥
.....
आदि अनादि पुरातन धामा। जैसे आदि पुरुष घनश्यामा ॥

श्वेत रूप स्वरूप सुगन्धा। सहज महक जहँ उठत सुगन्धा ॥
चार द्वार बहु बाजन बाजैं। अनहद शब्द महाध्वनि गाजैं ॥
.....
निज वृन्दावन है वह ठाहीं। सदा बसो मेरे मन माहीं ॥
अखण्ड धाम लीला अमर, नित वृन्दावन रास।
नित विहार जहँ होत है, चरणदास को वास ॥¹²

सन्तों की वाणी का अध्ययन करते समय यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि उन्होंने परमपिता परमेश्वर के लिए सर्वसाधारण में प्रचलित राम, राजा राम, कृष्ण, केशव, मुरारी, गिरिधर आदि अनेक नामों और अनेक प्रचलित कथाओं और दृष्टान्तों का प्रयोग किया है पर उन्होंने महिमा निर्गुण, निराकार की ही की है। सन्त-कवि लोक-मानस और लोक-भावना से लाभ उठाना चाहते थे ताकि जिस मुहावरे में लोग कोई बात समझने के आदी हैं, उसी के द्वारा बात समझाई जाये। सन्त नामदेव जी पहले मूर्ति-पूजा करते थे, पर सतगुरु विसोबा खेचर से मिलने के बाद आप निर्गुण परमेश्वर के भक्त बन गये। आपकी वाणी में अनेक शब्द और दृष्टान्त सगुणधारा से आये हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में भगवान राम की जीवन-लीला को आधार बनाकर निर्गुणधारा के सन्तों की गुरु-भक्ति और नाम-भक्ति के सिद्धान्तों और उपदेशों को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। सन्तों में कट्टरता नाममात्र भी नहीं होती। वे उस भाषा और मुहावरे में बातें कहते हैं जिसे लोग आसानी से समझ सकें।

सन्त चरनदास जी के जीवन, वाणी, उपदेश और उनके नाम से चल रहे सम्प्रदाय सम्बन्धी सबसे अधिक और विस्तारपूर्ण खोज करनेवाले और दूसरे विद्वानों के विपरीत उन्हें वैष्णव भक्तों में शामिल करनेवाले विद्वान डॉ. श्यामसुन्दर शुक्ल को भी अपनी खोज का निष्कर्ष देते हुए यह मानना पड़ा है: “उन्होंने (सन्त चरनदास जी ने) जिस राधा और कृष्ण युगल की लीलाओं का गान किया है, वे बरसाने और गोकुल के गोपाल परिवार में उत्पन्न राधा-कृष्ण नहीं हैं। वे तो पुरुषोत्तम रूप पारब्रह्म के मानवी नाम हैं।”¹³

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा में लिखा है कि सन्त चरनदास जी ने भक्ति-योग के सम्बन्ध में जो मथुरा, वृन्दावन और गोवर्धन के वर्णन किये हैं, वे सब किसी अलौकिक धाम के वर्णन हैं। वे (चरनदास जी) कहते हैं कि वह मथुरा-मण्डल हमारी चमड़े की आँखों से दिखायी नहीं देता, वह तो दिव्य दृष्टि के बिना किसी को दिखायी नहीं दे सकता। उनके अमर-लोक के वर्णन से प्रतीत होता है कि वे इसे कोई भौतिक रूप नहीं देना चाहते। यह सन्तों की वह अवर्णनीय अवस्था है जिसका उन्होंने कई दूसरे नामों से भी वर्णन किया है। उसके भौतिक रूप का जो भी वर्णन दरबारी दृश्यों की तरह किया गया है, वह विशुद्ध काव्यमय है। उसका महत्त्व जन-साधारण की स्थूल बुद्धि को खींच पाने की दृष्टि से ही हो सकता है।¹⁴

यही कारण है कि अधिकतर विद्वानों ने आपको सगुणधारा के सन्तों में नहीं बल्कि कबीर, गुरु नानक, दादू, पलटू आदि निर्गुणधारा के सन्तों में सम्मिलित किया है।

सन्त चरनदास जी की विचारधारा को सही रूप में समझने के लिए दो तथ्यों को यदि सम्मुख रखा जाये तो किसी प्रकार की भी शंका नहीं रह जाती। एक तथ्य इस वाणी में मौजूद गुरु-भक्ति का रंग है। आपकी ऐसी कोई रचना नहीं है जिसमें गुरु-भक्ति का रंग न हो। आपने सतगुरु को परमात्मा का रूप माना है और सतगुरु-भक्ति को प्रभु-भक्ति का दर्जा दिया है:

गुरु समान तिहुँ लोक में, और न दीखै कोय।
नाम लिये पातक नसै, ध्यान किये हरि होय ॥¹⁵

गुरु को पूरण जान जु ईश्वर रूप ही।
सब कुछ गुरु को जान ये बात अनूप ही ॥¹⁶

दूसरा तथ्य यह है कि आपने आत्मा को अन्दर आँखों के पीछे लाकर अनहद शब्द से जोड़ने को ही सच्ची प्रभु-भक्ति माना है। आप निम्नलिखित

शब्द में संकेत करते हैं कि सुरत को अन्तर में अनहद शब्द में लीन करने से ही मन, इन्द्रियाँ और पाँच विकार वश में आते हैं, इससे ही आशा-तृष्णा का नाश होता है, इस साधना द्वारा ही कर्म, भ्रम, माया, ममता, दुबिधा और अहं के बीज जलते हैं और इस अभ्यास द्वारा ही आत्मा परम पद में पहुँचकर परम आनन्द की प्राप्ति करती है:

जब से अनहद घोर सुनी।

इन्द्री थकित गलित मन हूवा आसा सकल भुनी ॥

धूमत नैन सिथिल भइ काया अमल जु सुरत सनी।

रोम रोम आनन्द उपज करि आलस सहज भनी ॥

मतवारे ज्यों शब्द समाये अन्तर भीज कनी।

करम भ्रम के बन्धन छूटे दुबिधा बिपति हनी ॥

आपा बिसरि जक्त कूँ बिसरो कित रहि पाँच जनी।

लोक भोग सुधि रही न कोई भूले ज्ञानि गुनी ॥

हो तहँ लीन चरनहीं दासा कहै सुकदेव मुनी।

ऐसा ध्यान भाग सँ पैये चढ़ि रहै सिखर अनी ॥¹⁷

आप एक अन्य पद में कहते हैं कि जब सतगुरु की समझाई हुई युक्ति के अनुसार हम आत्मा को शरीर के नौ द्वारों से समेटकर अन्दर दसवें घर में एकाग्र और स्थिर कर लेते हैं तो यह अनहद शब्द के सहारे आन्तरिक रूहानी मण्डलों में चढ़ जाती है। जैसे-जैसे यह अन्दर शब्द के अमृत को पीती है, यह निर्मल होती जाती है। शब्द की ध्वनि और शब्द के प्रकाश के सहारे आत्मा पहले रूहानी मण्डल सहँसदल कैवल को पार करके दूसरे मण्डल में पहुँच जाती है। यहाँ पहुँचकर मन अपने स्रोत में लीन हो जाता है और आत्मा माया और काल के मण्डल पार करके परमात्मा में समाकर परमात्मा का रूप हो जाती है। इस प्रकार जीव अपने जीवन के उद्देश्य की सिद्धि में सफल हो जाता है। वह आवागमन के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है और निर्भय पद का स्वामी बन जाता है:

गुरु दया जोग यहि बिधि कमायो ॥ टेक ॥
 मूल कूँ सोधि संकोच करि संखिनी, खैंचि आपान उलटो चलायो ॥
 बंध पर बंध जब बंध तीनों लगैं, पवन भइ थकित नभ गर्जि आयो ॥
 द्वादसा पलट करि सुरति दो दल धरी, दसो परकार अनहद बजायो ॥
 रोक जब नवन कूँ द्वार दसवें चढ़ी, सून्य के तख्त अनंद बढ़ायो ॥
 सहस दल कमल को रूप अद्भुत महा, अमी रस उमंग आ झरि लगायो ॥
 तेज अति पुंज पर लोक जहँ जगमगे, कोटि छबि भानु परकास लायो ॥
 उनमुनी और चित हेत करि बसि रहो, देखि निज रूप मनुवाँ मिलायो ॥
 काल अरु ज्वाल जग ब्याधि सब मिटि गई, जीव सँ ब्रह्म गति बेगि पायो ॥
 चरनदास रनजीत सुकदेव की दया सँ, अभय पद परसि अवगति समायो ॥¹⁸

गुरु-भक्ति और शब्द-भक्ति द्वारा आत्मा को अन्दर परमपिता परमेश्वर में लीन करना ही निर्गुणधारा के सन्तों की साधना का सार है। इस दृष्टि से सन्त चरनदास जी की शिक्षा सन्त कबीर, गुरु नानक, सन्त नामदेव, गुरु रविदास, मीराबाई, हाथरस के सन्त तुलसी साहिब और आगरा के सन्त स्वामी जी महाराज आदि सभी निर्गुणधारा के सन्त-सतगुरुओं की शिक्षा से पूरी तरह मिलती है।

आगे के पृष्ठों में आपकी वाणी में व्यक्त सन्तमत के मूल सिद्धान्तों पर गहराई और विस्तार के साथ विचार करने का प्रयत्न किया जायेगा।

उपदेश

मूल सिद्धान्त-1

सत्य और असत्य

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख और शान्ति की खोज में है, पर अज्ञानवश उसे यह पता नहीं है कि सच्चे सुख और स्थायी शान्ति की प्राप्ति कहाँ और कैसे हो सकती है। पूर्ण सुख और अमर शान्ति को प्राप्त करना ही मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य है।

मनुष्य को सृष्टि का सर्वोच्च प्राणी कहा गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि उसमें ठीक और गलत, सत्य और असत्य, भले और बुरे में भेद करने की शक्ति है और गलत, असत्य और बुरे को त्यागकर ठीक, सत्य और भले को ग्रहण करने का सामर्थ्य भी है। मनुष्य की एक विशेषता यह है कि उसे अपनी हालत को सुधारने की योग्यता प्राप्त है। मनुष्य की मनुष्यता ठीक, सत्य और भले को अपनाकर परम सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होने में है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे पशु से बेहतर नहीं माना जा सकता।

हम सब सोचते हैं कि किसी वस्तु की कमी हमें दुःखी करती है और उस कमी की पूर्ति हमें सुखी बना सकती है। निर्धन धन की कमी पूरी करना चाहता है, पुत्रहीन स्त्री बालक की कमी को पूरा करना चाहती है, बेरोजगार काम-काज की तलाश करता है। इस प्रकार संसार का प्रत्येक प्राणी शीघ्र से शीघ्र हर प्रकार की आवश्यकताओं या कमियों को पूरा कर लेना चाहता है ताकि वह जल्दी से जल्दी और अधिक से अधिक सुखी हो जाये।

सुख-शान्ति के लिए बेचैन मनुष्य के मन रूपी सागर में आशा और तृष्णा की अनन्त तरंगें उठती हैं। उसके मन में अनेक इच्छाएँ और संकल्प

पैदा होते हैं। मन अनेक प्रकार के सपने उसके सामने खड़े करता है और उसे अनेक प्रकार के उद्यम के लिए प्रेरित करता है।

विभिन्न प्रकार की आकर्षक शक्तों, पदार्थों का विशाल संसार मनुष्य के सामने फैला हुआ है। संसार और इसकी वस्तुओं को सुख-शान्ति का स्रोत समझकर मनुष्य इनसे लिपटने का प्रयत्न करता है। वह संसार को अपना बना लेना चाहता है ताकि वह ज्यादा से ज्यादा सुख का स्वामी बन जाये। लोग सोने-चाँदी, हीरे-जवाहरात, धन-दौलत और हाट-हवेलियों की ओर भागते हैं। वे बेटे-बेटियों, मित्रों-सम्बन्धियों को अपना बनाने का प्रयत्न करते हैं। वे प्रशंसा, इन्द्रियों के भोगों, शराबों-कबाबों की लज्जतों, राग-रंग की महफ़िलों की ओर भागते हैं। संसार में आभूषणों, कपड़ों, महलों की प्राप्ति के लिए होड़ लगी हुई है। लोग उच्च पदों और हुकूमत को सुख का स्रोत समझकर उन्हें पाने के लिए खून-पसीना एक कर देते हैं।

सन्त-महात्मा सावधान करते हैं कि मनुष्य का इच्छाओं की पूर्ति और सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति को सुख का साधन समझना अविद्या या अज्ञानता की निशानी है। पहली बात यह है कि प्रत्येक इच्छा का पूरा होना असम्भव है। दूसरी बात यह है कि केवल अपूर्ण इच्छा ही बेचैनी, परेशानी, निराशा और दुःख का कारण नहीं बनती। इच्छा की पूर्ति के लिए भी लम्बे दुःखदायक संघर्ष से गुजरना पड़ता है और पूरी हुई इच्छा भी अक्सर सुख का स्रोत सिद्ध नहीं होती। सुख की प्राप्ति के लिए दुःखपूर्ण संघर्ष करना पड़ता है, सुख के प्राप्त होने पर उसे सँजोये रखने का कष्ट उठाना पड़ता है और उसके छिन जाने का भय उस सुख को चिन्ता की आग में बदल देता है जो दिल के अन्दर सदा सुलगती रहती है। चिन्ता से बड़ा कोई दुःख नहीं है।

बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। 'जां कुआरी ता चाउ वीवाही तां मामले ॥' जब तक कोई वस्तु मिलती नहीं, वह मन को अच्छी लगती है। जब वह मिल जाती है तो कई प्रकार के संकटों और दुःखों का कारण बन जाती है। निर्धन को धन लाने की चिन्ता है तो धनवान को धन सँभालने की। जिनके सन्तान नहीं, वे सन्तान के लिए तड़प रहे हैं और जिनके सन्तान है, उन्हें सन्तान के कारण अनेक प्रकार के दुःख झेलने पड़ रहे हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि जीव को यह ज्ञान नहीं कि संसार अधूरा और नश्वर है। संसार की शक्तें और इसके पदार्थ अधूरे और अस्थायी हैं। अधूरे और नश्वर जगत् के सुख अधूरे और नश्वर ही होंगे। अस्थायी और अधूरी वस्तुओं से केवल अधूरा और अस्थायी सुख ही मिल सकता है। सांसारिक वस्तुओं से सच्चे सुख की आशा रखना निपट मूर्खता है। केवल पूर्ण और अविनाशी पदार्थ ही पूर्ण, सच्ची और स्थायी शान्ति का स्रोत बन सकता है। कोयले की दुकान से हीरे-जवाहरात नहीं मिल सकते, आग से ठण्डक प्राप्त नहीं हो सकती और रेत से तेल नहीं निकल सकता। आग घी डालने से नहीं बुझती, केवल पानी से बुझती है। पानी से बिछड़ी मछली की तड़प केवल पानी मिलने पर ही शान्त होती है। मनुष्य का दुःख से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करना और सुख की प्राप्ति के लिए उद्यम करना स्वाभाविक है, पर जब तक वह सही स्थान पर और सही साधनों द्वारा सुख की खोज नहीं करता, तब तक न उसके दुःख का अन्त हो सकता है और न उसे सुख मिल सकता है।

साधारण मनुष्य दुःख से छुटकारा पाने के लिए कभी इच्छाओं को बदलता है और कभी लक्ष्यों और सहारों को। वह प्रतिदिन नई योजनाएँ बनाता है, नई मंजिलों की ओर अग्रसर होता है और सदा नये सहारे ढूँढ़ता है। परन्तु न नयी कामना सुख का साधन बनती है और न ही नये सहारे उसे दुःखों से छुड़ाकर सुखों की घाटी में पहुँचाते हैं। न उसे सच्ची मंजिल और सच्चे लक्ष्य का ज्ञान होता है, और न ही उसे ऐसे व्यक्ति का सहारा मिलता है, जो स्वयं परम सुख की मंजिल पर पहुँच चुका हो और दूसरों को उस मंजिल पर पहुँचाने की सामर्थ्य रखता हो। परिणाम यह होता है कि मनुष्य एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की ओर, एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर तथा एक लक्ष्य से दूसरे लक्ष्य की दिशा में भटकता फिरता है, पर उसे सच्चे और स्थायी सुख की प्राप्ति नहीं होती।

पूर्ण ज्ञानवान् का सिद्धान्त भी पूर्ण होता है, उसकी युक्ति भी पूर्ण होती है। वह वक्त्र की मसलों के वक्त्र हील नहीं बयान करता, वह मनुष्य के सम्मुख अनादि काल से खड़े संकटों के सच्चे और स्थायी हल प्रस्तुत करता

है। वह स्वयं पूर्णता प्राप्त कर चुका होता है और दूसरों को भी पूर्णता का मार्ग दिखलाने में पूरी तरह समर्थ होता है। इसलिए केवल वही दुःखों की चक्की में पिस रहे जीवों को सहारा दे सकता है। सन्त चरनदास जी ऐसे ही पूर्ण पुरुष थे। आप परम ज्ञानी थे। आप स्वयं परम आनन्द में लीन होकर आनन्द-रूप हो चुके थे और दूसरों को भी सुख-शान्ति के धाम तक पहुँचाने में समर्थ थे। आप दया की मूर्ति थे, लोगों के सच्चे हितैषी थे। इसलिए आपने दुःखों की आग में जल रहे और सुखों के लिए तड़प रहे जीवों को विशुद्ध परोपकार की भावना से सच्चे सुख और स्थायी शान्ति के साधन और मार्ग का ज्ञान दिया।

अन्य पूर्ण सन्त-महात्माओं की भाँति सन्त चरनदास जी ने स्पष्ट रूप से यह समझाने की चेष्टा की है कि सच्चे, स्थायी और पूर्ण सुख की प्राप्ति के लिए मनुष्य को किसी सच्चे, स्थायी और पूर्ण पदार्थ की खोज करनी पड़ेगी। सन्त चरनदास जी की वाणी के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि आपने कई तरह से मनुष्य को सत्य और असत्य, नश्वर और अविनाशी, क्षणभंगुर और स्थायी का अन्तर समझाने की कोशिश की है और उसे बार-बार सच्चे अविनाशी पदार्थ की प्राप्ति की प्रेरणा दी है। आप बहुत संक्षिप्त पर भावमय शब्दों में कहते हैं कि असत्य या नश्वर को त्यागकर सच्चे या अविनाशी को अपनाने से ही हम पूर्ण सुख और सच्ची शान्ति प्राप्त कर सकते हैं:

मिटते सँ मत प्रीत करि, रहते सँ करि नेह।

झूठे कूँ तजि दीजिये, साँचे में करि गेह॥²

पूर्ण सन्तों ने 'सच' (सत्य) पद का एक विशेष अर्थ में प्रयोग किया है। जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य पर निर्भर नहीं और अपना आधार स्वयं है, केवल वही सत्य है। जो सदा एक-रंग, एक-रस और एक-रूप रहता है, वह सत्य है; जो पल-पल, क्षण-क्षण बदलता रहता है, वह असत्य है। जिसका कभी नाश नहीं होता, वह सत्य है; जो नाशवान है, वह असत्य है। जो काल का ग्रास है, वह असत्य है, जो अकाल है, जिसका अस्तित्व आदि-युगादि से क्रायम है और जो सदा क्रायम रहेगा, वह सत्य है।

ऐसा एकमात्र सत्य वह परमपिता परमेश्वर है। केवल वही जन्म-मरण और परिवर्तन से मुक्त है, सदा एक-रंग, एक-रूप और एक-रस है तथा सर्वकालीन और सर्वदेशीय है। केवल उस परम सत्य को अपना बनाकर ही मनुष्य पूर्ण, सच्चा और अविनाशी सुख प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य का सबसे बड़ा संकट यह है कि इसे इस बात का ज्ञान नहीं है कि यह दृश्यमान संसार आत्मनिर्भर न होकर किसी अन्य शक्ति पर निर्भर है। यह वास्तव में एक अदृष्ट कर्ता की रचना या खेल है। जन्म-जन्मान्तरों से दिखायी दे रहे संसार में लिप्त रहने के कारण और इसके कर्ता के दिखायी न देने के कारण मनुष्य संसार तथा इसकी शक्तों, पदार्थों को सच्चा और पूर्ण समझने लगा है। संसार में रहते-रहते वह संसार का हो गया है, संसारी बन गया है, और उसके लिए यह सुनना, समझना और विश्वास करना असम्भव-सा हो गया है कि संसार और इसके शक्तों-पदार्थों का असल में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह यह बात नहीं समझ पाता कि यह दृश्यमान संसार अदृष्ट कर्ता का खेल है और यह रचना नश्वर है, केवल इसकी रचना करनेवाला ही अटल, अमर और अविनाशी है। सन्त चरनदास जी बार-बार मनुष्य को झकझोरते हुए यह बताने की चेष्टा करते हैं कि इस नश्वर प्रपंच के पीछे छिपी अदृष्ट, अविनाशी वास्तविकता को पहचानना आवश्यक है, क्योंकि नश्वर रचना का मोह त्यागकर इसके अमर, अविनाशी कर्ता से प्रेम करने पर ही हम सच्चे सुख के अधिकारी बन सकते हैं।

पूर्ण सन्तों और दुनियादारों की सूझबूझ में मूल अन्तर यही है कि दुनियादार दुनिया को पूर्ण, सच्चा और अमर मानते हैं जब कि सन्तजन जगत् को झूठा, अधूरा और नश्वर तथा जगतकर्ता को पूर्ण, सच्चा और अमर मानते हैं। भौतिकता और आध्यात्मिकता के चिन्तन में भी मूल अन्तर यही है कि भौतिकवादी पदार्थ को सच्चा, आत्म-निर्भर, पूर्ण और अनादि मानकर चलते हैं जब कि अध्यात्मवादी पदार्थ को झूठा, बनावटी, अधूरा, नश्वर और क्षणभंगुर मानते हैं और वे केवल कर्तापुरुष परमेश्वर को सच्चा, पूर्ण, आत्म-निर्भर और अमर स्वीकार करते हैं। इस बुनियादी भेद में से ही शेष सभी प्रकार के भेद पैदा होते हैं।

भौतिकवादी पदार्थ को पूर्ण और अन्तिम सत्य मानने के कारण संसार में अधिक से अधिक पदार्थ और इन्द्रियों के सुख के साधन पैदा करने का प्रयत्न करते हैं। अनादि काल से भौतिक सुखों को प्राप्त करना, हमेशा ही मनुष्य की इच्छा रही है। प्रत्येक राज-सत्ता भी लोगों के लिए भौतिक सुख के साधन जुटाने की कोशिश करती है, ताकि मनुष्य अधिक वैभवशाली बन सके। संसार में समय-समय पर पैदा हुए शासकों और राजनीतिज्ञों का एकमात्र आदर्श संसार को भौतिक सुखों का भण्डार बनाना रहा है। प्रत्येक राज-सत्ता संसार में अधिक से अधिक भोग-पदार्थ पैदा करने का प्रयत्न करती है ताकि मनुष्य को वैभवशाली और सुखी बनाया जा सके। इसके विपरीत अध्यात्मवादी यह मानकर चलते हैं कि संसार के प्रत्येक प्राणी को राजा-महाराजा और सभी प्रकार के ऐश्वर्य तथा आराम का स्वामी बना दिये जाने पर भी उसे पूर्ण और स्थायी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि न केवल प्रत्येक सुख नक़ली और अधूरा है, बल्कि अस्थायी और नश्वर भी है। नक़ली, अधूरे, अस्थायी और नश्वर संसार में से सच्चे, पूर्ण, स्थिर और अविनाशी सुख की प्राप्ति असम्भव है। संसार न कभी सच्ची शान्ति की नगरी बना है, न बन ही सकता है। पूर्ण, स्थिर और अमर शान्ति केवल पूर्ण और अमर पदार्थ से ही मिल सकती है। वह पूर्ण और अमर पदार्थ एकमात्र परमपिता परमेश्वर है। यही कारण है कि भौतिकता का आदर्श भौतिक सुख और इन्द्रिय-भोग हैं, जब कि आध्यात्मिकता का आदर्श आध्यात्मिक उन्नति और आत्मिक शान्ति है।

अध्यात्मवादी भौतिक सुखों का विरोधी नहीं है, पर जगत् और जगतकर्ता दोनों की असलियत और मूल्य का ज्ञाता होने के कारण उसका वास्तविक लक्ष्य आध्यात्मिक और आत्मिक सुख होता है। वह भौतिक सुखों को अन्तिम सत्य कभी स्वीकार नहीं करता। यही कारण है कि सन्त-महात्मा जीवात्मा को संसार और उसके पदार्थों की मूल प्रकृति और वास्तविकता का बोध करवाने का प्रयत्न करते हैं। वे जानते हैं कि जब तक अज्ञानी जीव को भौतिक पदार्थों और परमात्मा दोनों के अलग-अलग महत्त्व का ज्ञान नहीं होता, वह अपने सामने सही आदर्श स्थापित नहीं कर सकता। जब तक आदर्श सही

न हो, उद्यम की दिशा सही नहीं हो सकती और जब तक उद्यम की दिशा सही न हो, सही मंज़िल की प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवात्मा को जगत् या उसके पदार्थ के मोह से छुड़ाकर जगतकर्ता के प्रेम में तल्लीन करना सन्तों का मूल उद्देश्य होता है। इसलिए वे सबसे अधिक प्रयत्न संसार रूपी असत्य और परमात्मा रूपी सत्य पर प्रकाश डालने का करते हैं।

सन्त चरनदास जी ने अपनी वाणी में 'मिटते' और 'रहते' का परस्पर विरोध प्रस्तुत किया है। आप निम्नलिखित प्रसंग में असार और सार का भेद प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि संसार, मित्र-सम्बन्धी, कोठियाँ-बँगले और धन-दौलत असार हैं। ये आते-जाते हैं, बनते और ढहते रहते हैं। असार संसार की असार वस्तुएँ न आते समय साथ आती हैं, न जाते समय साथ जाती हैं। सारभूत वस्तु केवल एक हरि या नाम है। दुःख वास्तव में प्रभु रूपी सारभूत पदार्थ के वियोग का होना चाहिए, संसार के असार पदार्थों के छिन जाने का नहीं। राम रूपी अमर, अविनाशी और सार-वस्तु को भुलाकर झूठी और असार वस्तुओं से मोह करनेवाला प्राणी जीवन की बाज़ी हार जाता है और उसे अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है :

जग को आवन जान, हेली या को सोक न कीजे।

यह संसार असार है, हेली हरि सँ करि पहिचान ॥

कुटुंब संग आयो नहीं, हेली ना कोई संग को जाय।

ह्याँई मिलैं हियाँई बीछुरैं, ता को झुरै बलाय ॥

महल द्रब्य किस काम के, हेली चलैं न काहू साथ।

राम तजे इन सों पगे, हारो अपने हाथ ॥³

जीव सत्य को भूलकर धन-दौलत, हाट हवेली और स्त्री आदि के प्रेम में फँसा रहता है। परिणाम यह होता है कि वह परम सत्य से बिछुड़कर संसार-चक्र में भटकता फिरता है और सदा देह के दुःखदायक बन्धनों में जकड़ा रहता है :

राम बिसारो आदि सँ, लियो द्रब्य अरु नार।

याही तें भरमत फिरो, तन धरि बारम्बार ॥⁴

आप सावधान करते हैं कि संसार देखने में सत्य लगता है, पर वास्तव में यह निरा भ्रम, धोखा या छल है। आप कई उदाहरणों द्वारा समझाते हैं कि संसार को सत्य समझना पर्वत पर मछलियों, समुद्र में हिरनों और आकाश में खेतों का अस्तित्व मानने के समान है। संसार पानी की पोटली, धुएँ के किले, खरगोश के सींग और नदी का भ्रम डालनेवाले रेगिस्तान के समान है। सपने में मिले राज्य और सपने में मिली धन-सम्पत्ति का भला क्या लाभ? संसार को सत्य मानना इसी प्रकार है जिस प्रकार वेश्या के चरित्रवान होने, भूतों के नाच करने, अमावस की रात में चन्द्रमा के उदय होने और रात्रि में सूर्य के निकलने को सत्य मान लिया जाये। कहने को तो यह भी कह सकते हैं कि चींटी हाथी को उठाकर ले गयी, पर इसको मानेगा कौन? ज्ञानवान् पुरुष जानते हैं कि जगत् झूठा है, केवल परमात्मा सच्चा है। इसलिए सतगुरु का सहारा लेकर झूठे की ओर से मुँह मोड़कर उस सच्चे प्रभु से मिलने का प्रयत्न करना चाहिए:

साधो भाई यह जग यों सत नाही।

मीन पहार समुद बिच मिरगा खेत अकासे माहीं ॥

जल की पोट कोट धूवाँ कौ अखिल ब्रह्म को तीरं।

बाँझ को पूत सींग सस्सा को मृग तृस्ना को नीरं ॥

स्वप्न को भूप द्रव्य स्वपने को अरु जंगल को द्वारं।

गनिका सील नाच भूतन को नारि सों ब्याहत नारं ॥

मावस को ससि रैन को सूरज दूध नरन की छाती।

यह सब कहनि कहावनि देखी चींटी ले भागी हाथी ॥

ऐसोहि झूठ जगत सच नाही भेद बिचारो पायो।

चरनदास सुकदेव दया सँ साँचहि साँच मिलायो ॥⁵

ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा और धर्म-ग्रन्थ चिरकाल से ढिंढोरा पीटते आ रहे हैं कि दृश्यमान संसार की कोई वास्तविकता नहीं है। संसार मरुस्थल है पर इसमें पानी के प्रवाह का भ्रम होता है। यह सीपों का ढेर है, पर चमकता चाँदी की तरह है। यह दिखता लाल है, पर वास्तव में पत्थर पर थूकी पान

की पीक है। इस झूठे और नश्वर संसार का मोह त्यागकर उस सच्चे परमात्मा से प्रेम करना चाहिए। उस अविनाशी प्रभु की भक्ति द्वारा उसके निज-धाम, चौथे लोक में पहुँचने के लिए कोशिश करनी चाहिये ताकि आवागमन के दुःखदायक चक्कर से सदा के लिए मुक्ति मिल जाये:

गुरुमुख यह जग झूठ लखाया।

साध संत अरु बेद कहत हैं और पुरानन गाया ॥

मृग तृस्ना के नीर लोभाना सीपी रूपा जाना।

फटिक सिला पर पीक परी है मूरख लाल लोभाना ॥

सुपने में सब ठाठ ठटो है कुल नाते परिवारा।

दृष्टि खुली जब सब हीं नासे रहो नहीं आकारा ॥

ताते चेत भजन करि हरि को यहाँ मत मन को पागो।

वा घर गये बहुरि नहीं आवो आवा गवन न लागो ॥

या सुपने में लाभ यही है चरनदास मुख भाखो।

जोगेस्वर जा पद मिलि रहिया तुरिया हित चित राखो ॥⁶

संसार में लोग कर्मों के वश इकट्ठे अवश्य होते हैं, पर किसी से किसी का स्थायी साथ और सम्बन्ध नहीं होता। सब अपने-अपने समय पर अपने-अपने मार्ग पर चले जाते हैं। संसार एक मेले के समान है। इसमें इकट्ठे हुए लोग घड़ी, दो घड़ी के लिए मौज उड़ाकर अलग-अलग दिशाओं को चल देते हैं। नाव के यात्रियों की तरह अच्छे-बुरे, अमीर-गरीब, अपने-पराये सब पार पहुँचकर, किनारे पर पाँव रखते ही अपने-अपने रास्ते पर चल देते हैं। संसार एक बाग के समान है जिसमें रंग-बिरंगे फूल थोड़ी देर के लिए खिलकर अपनी सुगन्ध और सुन्दरता प्रकट करते हैं और फिर मुरझाकर बिखर जाते हैं। पुत्र, मित्र, सम्बन्धी, धन-दौलत, महल-बाँगले, ज़मीन-जायदाद, पद-प्रतिष्ठा आदि मोतियों के समान चमकने वाले ओस-बिन्दुओं जैसे हैं जो कुछ ही समय में सूखकर गायब हो जाते हैं। जीवात्मा का सच्चा मित्र, सम्बन्धी और हितैषी एकमात्र परमात्मा है। इसलिए अस्थायी और नश्वर सम्बन्धों के मोह को त्यागकर सच्चे और अविनाशी परमात्मा से

प्यार करना चाहिए। पूर्ण सन्तों की संगति का लाभ उठाकर सच्चे परमात्मा का नाम जपना चाहिए ताकि अस्थायी और नश्वर रिश्तों के मोह से मुक्त होकर हम अमर, अविनाशी परमात्मा के प्रेम में लीन हो जायें:

घरी दो में मेला बिछुरै साधो, देखि तमासा चलना।
जो ह्याँ आकर हुए इकट्ठे, तिन सँ बहुरि न मिलना॥
जैसे नाव नदी के ऊपर, बाट बटाऊ आवैं।
मिल मिल जुदे होयँ पल माहीं, आप आप को जावैं॥
या बारी बिच फूल घनेरे, रंग सुगन्ध सुहावैं।
लागैं खिलैं फेरि कुम्हिलावैं, झरैं टूटि बिनसावैं॥
दारा सुत सम्पत्ति को सुख, ज्यों मोती ओस बिलावैं।
ह्याँई मिलैं और ह्याँ नासैं, ताको क्यों पछितावैं॥
दै कुछ लै कुछ करि ले करनी, रहनी गहनी भारी।
हरि सँ नेह लगाव आपनो, सो तेरो हितकारी॥
सत संगति को लाभ बड़ो है, साध भक्त समझावैं।
चरनदास ही राम सुमिर ले, गुरु सुकदेव बतावैं॥⁷

माया, अविद्या, भ्रम

आकाश में बादल होते हैं जिनका रूप क्षण-क्षण बदलता रहता है। कभी उनका आकार हाथी-घोड़े जैसा दिखायी पड़ता है तो कभी महलों और पर्वतों जैसा। बादलों के लुप्त होते ही ये बनावटी हाथी-घोड़े और महल-अटारियाँ क्षण भर में गायब हो जाती हैं। पानी में बुलबुले उठते और तुरन्त फट जाते हैं। जादूगर अपने जादू की पिटारी में से अनेक वस्तुएँ निकालकर दिखाता है। पर वह केवल हमारी आँखों का धोखा होता है। हमें सपने में अनेक प्रकार के दृश्य दिखायी देते हैं पर आँखें खुलने पर उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता। इसी प्रकार संसार में परमात्मा की एक ऐसी शक्ति काम कर रही है, जो असत्य के सत्य होने, कच्चे के पक्के होने और नश्वर के अनश्वर होने का भ्रम पैदा करती है। सन्तों-महात्माओं ने इसे माया, अविद्या या भ्रम कहा है। यह शक्ति भी कुल-

मालिक परमात्मा की ही रचना है और उसी के द्वारा निर्धारित कार्य को निभा रही है। परमात्मा नहीं चाहता कि संसार रूपी जादू का खेल समाप्त हो जाये। यदि संसार के प्रत्येक प्राणी को यह ज्ञान हो जाये कि संसार सचमुच एक खेल, भ्रम, छलावा या सपना है, तो यह खेल नीरस और निर्जीव बनकर रह जायेगा। जब तक संसार का कर्ता संसार रूपी नाटक को जारी रखना चाहता है, इसके सत्य होने का भ्रम क्रायम रखना आवश्यक है। यह काम माया करती है।

संसार में माया दो प्रकार से कार्य करती है। एक तो परमात्मा रूपी एकमात्र सत्य पर पर्दा डालती है और दूसरे, जगत् रूपी असत्य के सत्य होने का भ्रम पैदा करती है। सूर्य के सामने बादल आ जायें तो सूर्य दिखायी नहीं देता। हम दिखायी दे रहे बादलों को सत्य समझने लगते हैं और न दिखायी देने वाले सूर्य के प्रति बेखबर हो जाते हैं। जो दिखायी कुछ दे पर वास्तव में हो कुछ और, वह माया है। जो दृश्यमान भौतिक जगत् के सत्य होने का और अदृष्ट कर्ता और उसके धाम के अस्तित्व न होने का भ्रम उत्पन्न करे, वह माया, अविद्या या अज्ञान है।

सन्त चरनदास जी जीवात्मा को चेतावनी देते हैं कि संसार एक बहुत बड़ा सपना है और यह मनुष्य-जीवन इस सपने का एक छोटा-सा अंश है। सपने में यदि हमें लगे कि हम जाग रहे हैं तो वह जागना भी एक सपना ही होगा।

आप जीव को झकझोरते हुए कहते हैं कि ऐ भलेमानस! तू संसार की बाहरी तड़क-भड़क और सज-धज देखकर न भूल, तू इसकी आन्तरिक असलियत को समझने का प्रयत्न कर। तू निश्चित रूप से समझ ले कि जो जगत् तुझे मनमोहक और सुखदायी लगता है और जिस जगत् में खोकर तू उसका रूप बन चुका है, वह वास्तव में माया द्वारा रचा हुआ भ्रम, छल, नाटक या सपना है। जब पाँचों तत्त्व नश्वर हैं तो इनसे बनी रचना और वस्तुओं की क्या असलियत हो सकती है? कहने का भाव यह है कि सपने की तरह झूठे, अस्थिर और नश्वर राज-पाट, महल-बैंगले, मान-सम्मान, क्रौम-मज़हब, मुल्क, बेटे-बेटियाँ, परिवार आदि सच्चे और स्थायी सुख का आधार नहीं बन सकते। इनका सुख वास्तव में बनावटी है, झूठा है, एक छलावा है। चलते समय जब संसार रूपी सपने का पता चलता है और जगत्

की कोई वस्तु साथ नहीं जाती, तो लज्जा और दुःख की घोर परेशानी में पड़ा जीव सिर धुनता और पछताता है। मायामय संसार न कभी किसी का बना है, न बन ही सकता है। ऐसे संसार से मोह बढ़ाना और इसके लिए अथक परिश्रम करना अज्ञानता नहीं तो और क्या है ?

चेतौ रे नर करो बिचार। छल रूपी है यह संसार ॥
 सुपना मात पिता सुत बंधू। सुपना है सबहीं संबंधू ॥
 देखै कहै सुनै सो सुपना। या जग में नाहीं कोइ अपना ॥
 सुपना धरती और अकासा। सुपना चंद सूर परकासा ॥
 सुपना जल थल पावक पौन। सुपना जोग भोग अरु मौन ॥
 सुपना माया को ब्यौहार। सुपना कुल नाता परिवार ॥
 सुपना देस नाम अरु भेस। सुपना उत्पति परलय सेस ॥
 सुपना राजा राना राव। सुपनै बानिक बन्यौ बनाव ॥
 सुपनै लरै मरै अरु भागै। सुपनै सोवै सुपनै जागै ॥
 सुपना है यह सबहीं ठाठ। उठी पैठ जब मुद गइ हाट ॥⁸

आप एक अन्य शब्द में समझाते हैं :

जानै कोइ संत सुजान यह जग सुपना है ॥
 सुपन कुटुंबी आपा मानै सुपन बैरागी लय।
 सुपनै लेना सुपनै देना सुपनै निर्भय भय ॥
 सुपनै राजा राज करत है सुपनै जोगी जोग।
 सुपनै दुखिया दुख बहु पावै सुपनै भोगी भोग ॥
 सुपनै सूर रन में जूझै सुपनै दाता दान।
 सुपनै पिय संग पावक जरिया सुपन मान अपमान ॥⁹

आप शब्द के अन्त में कहते हैं कि माया या अविद्या के जाल में उलझे अज्ञानी जीव सदा सपने में खोये रहते हैं, पर ज्ञानी, सन्त-सतगुरु के ज्ञान से चेतन होकर सपने के जादू को तोड़ देते हैं। वे सतगुरु की दया से अपने मूल अर्थात् अगम, अगाध, अनादि परमात्मा को पहचान लेते हैं। इस प्रकार

वे जगत् रूपी सपने या असत्य से मुक्त होकर परमात्मा रूपी सत्य में लीन हो जाते हैं :

सुपनै ज्ञानी गुरु गम जागै अपना रूप निहारि।
 अज्ञानी सोवत सुपने में डसे अबिद्या नारि ॥
 चरनदास सुकदेव चिताव सुपना सो सब झूठ।
 अचरज समझ अगाध पुरानी मौन गहौ यहि मूठ ॥¹⁰

माया के दो रूप हैं - जड़ और चेतन, निर्जीव और सजीव - जिन्हें सन्तजन कनक और कामिनी कहकर पुकारते हैं। सन्त चरनदास जी सावधान करते हैं कि कनक और कामिनी माया रूपी ठगनी के धोखे हैं जिनके द्वारा वह जीवों को झूठे संसार के भ्रम में फँसाये रखती है। कनक से सन्तों का अभिप्राय केवल स्वर्ण से नहीं, बल्कि धन, सम्पत्ति तथा सांसारिक पदार्थों से है जिनकी प्राप्ति के लिए जीव दिन-रात उद्यम करते रहते हैं। इसी प्रकार कामिनी से उनका अभिप्राय स्त्री-जाति से नहीं, बल्कि इन्द्रियों के भोगों, वासना-पूर्ति के साधनों और काम-वृत्ति से है जो पुरुष और स्त्री दोनों ही को निरन्तर अपनी ओर खींचते रहते हैं।

सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि माया का खेल इतना सूक्ष्म, प्रबल, छल-पूर्ण और भयंकर है कि साधारण जीव तो क्या, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, अवतार और देवी-देवता भी इसके जाल में फँस जाते हैं। माया ने रावण जैसे विद्वान तथा बलवान और श्रृंगी ऋषि जैसे महातपस्वी को भी छल लिया। आप बताते हैं कि माया संसार की शक्तों और पदार्थों में रूप-रस का धतूरा घोलकर जीवों को मोह के नशे में डाल देती है और उन्हें बेहोश या मतिहीन कर देती है। यह स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री रूप बनकर मोह लेती है तथा सोने या धन-दौलत का रूप धारणकर उन्हें इनके लोभ में जकड़ लेती है। माया के नशे में अपने आप को खोकर जीव हँसते-हँसते इसके फन्दे में अपना गला डाल देते हैं। देवी-देवता तक माया के प्रलोभनों का सामना नहीं कर सकते। माया के छल और चालों से केवल प्रभु-भक्त और उनके सेवक ही बच पाते हैं। इसलिए जीव का बचाव प्रभु की भक्ति और प्रभु के भक्तों की संगति में ही है :

छले सब कनक कामिनि रूप।
 सुर असुर अरु जच्छ गंधर्व, इन्द्र आदिक भूप॥
 सावित्री बस कियो ब्रह्मा, पारबती त्रिपुरारि।
 करन लीला संग लछमी, हरि लियो औतार॥
 रावन से अति बली मारे, मौत जिन बस कीन।
 पसु नरन की को चलावै, ये तौ अति आधीन॥
 रूप रस में दे धतूरा, मोह फाँसी डार।
 तप की पूँजी छीनि कै कियो, सृङ्गि रिषि कूँ ख्वार॥
 माया ठगनी ठगे सबहीं, बचे गुरु सुकदेव।
 रनजीता कोइ ऊबरो, निजदास चरनन सेव॥¹¹

प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य किस वस्तु से प्यार करे और किसे अपना बनाने का प्रयत्न करे? आप समझाते हैं कि हमें सदा एक-रंग, एक-रस, एक-रूप रहनेवाले सच्चे परमात्मा को पहचानना चाहिए: 'सदा एक रस ब्रह्म पिछान।' उस अचल, अखण्ड प्रभु का निज-धाम भी निश्चल, अमर और अविनाशी है। उस सच्चे, निश्चल परमात्मा का नाम भी सच्चा है। उस सच्चे परमात्मा की भक्ति भी सच्ची है: 'साचौ हरि हरि हरि हरि जपना।' आप संकेत करते हैं कि एकमात्र परमात्मा ही सर्वदेशीय, सर्वकालिक, सर्वव्यापी परम सत्य है। 'जो कोइ खोजै सोई पावै।' जो कोई उस परम सत्य की खोज करता है, वही उसे पाता है। वह उसके साथ अभेद होकर उसका रूप हो जाता है। जो माया के सपने में मस्त रहता है, वह सदा जन्म-मरण के दुःखों की घानी में पिसता रहता है:

जो कछु है सो सबहीं सुपना। साँचा हरि हरि हरि हरि जपना॥
 क्यों भूला मूरख मस्तान। अजहूँ समुझि लेहि गुरु ज्ञान॥
 गफलत छाँड़ि भजौ हरि नाम। जो चाहै तू निश्चल धाम॥
 ज्यों सोवत सुपनो दरसाय। आँखि खुलै जबहीं मिटि जाय॥
 ऐसे ही सब सुपना जान। अचल अखण्ड रहै भगवान॥
 सब ठाँ ब्रह्म रह्यो भर पूर। ना अति निकट नहीं बहु दूर॥

जो कोइ खोजै सोई पावै। तत दरसी यह भेद बतावै॥
 गुरु सुकदेव पुकारि चितावै। झूठ साँच को न्याव चुकावै॥
 चरनदास सब सुपना जान। सदा एक रस ब्रह्म पिछान॥¹²

गुरु अमरदास जी चेतावनी देते हैं कि माया रूपी ठगनी हरि रूपी सत्य पर पर्दा डाल देती है और जीव के अन्दर झूठे और पराये जगत् का मोह पैदा करके इसे जगत् से बाँधे रखती है:

एह माइआ जितु हरि विसरै मोहु उपजै भाउ दूजा लाइआ॥¹³

गुरु तेग बहादुर साहिब कहते हैं:

जिउ सुपना अरु पेखना ऐसे जग कउ जानि॥
 इन मै कछु साचो नही नानक बिनु भगवान॥¹⁴

जैसे जल ते बुदबुदा उपजै बिनसै नीत॥
 जग रचना तैसे रची कहु नानक सुनि मीत॥¹⁵

सन्तों-महात्माओं ने संसार को भ्रम, मृगतृष्णा, धुएँ का महल, रेत की दीवार, पानी का बुलबुला आदि कहा है, क्योंकि यह देखने में सत्य दिखता है पर वास्तव में निरा छलावा है। कुछ महात्माओं ने इसे गैर या दूसरा कहा है, क्योंकि हमारा अपना केवल एक परमात्मा है। वह परमात्मा अपना है और अपना बन सकता है। संसार न अपना है और न ही अपना बन सकता है। इसलिए पराये या गैर संसार का मोह त्यागकर अपने परमेश्वर से प्रेम करके ही हम वास्तव में सुखी हो सकते हैं।

काल

संसार न केवल माया का खेल है, इस पर काल का हुक्म भी चलता है। काल का एक अर्थ मृत्यु है जिसके अधीन हर वस्तु समय पाकर नष्ट हो जाती है। दूसरा अर्थ समय और स्थान है जो हर वस्तु को एक निश्चित अवधि और स्थान की सीमा में बाँधे रखते हैं। हम आगे देखेंगे कि सन्त चरनदास जी

ने आत्मा को परमात्मा रूपी सागर की बूँद कहा है। भाव यह है कि निर्मल आत्मा परमात्मा की भाँति शक्ति, ज्ञान और आनन्द का रूप है पर माया और काल की नगरी में क्रैद जीवात्मा सर्वज्ञ से अल्पज्ञ, सबल से निर्बल बन जाती है। आत्मा परमात्मा की भाँति त्रिकालदर्शी है, पर माया और काल में घिरी जीवात्मा समय और स्थान में क्रैद है। यह आखों वाले की तरह नहीं बल्कि अन्धे की तरह टटोलते हुए इस अन्धकारमय संसार में भटकती फिरती है।

काल ने जीवात्मा को संसार में क्रैद रखने के लिए यहाँ कर्म और फल का क्रानून बना रखा है। निर्मल आत्मा अजन्मा और निहकर्मो है, पर काल की नगरी में यह कर्म करने और किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिए मजबूर है। अनेक ऐसे कर्म हैं जिनका उसी जन्म में फल नहीं भोगा जा सकता। जिसे मैंने आज क्रतल किया है, वह आज ही उठकर मुझसे बदला नहीं ले सकता। एक जन्म के सभी कर्मों का फल एक ही जन्म में भोग लेना भी सम्भव नहीं होता क्योंकि उनका अनेक व्यक्तियों, स्थानों और परिस्थितियों से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। इस प्रकार जीवात्मा कर्मों का फल भोगने के लिए आवागमन के चक्र में पड़ जाती है। कर्मों का हिसाब रखनेवाला और इनका फल देनेवाला काल का कारिन्दा धर्मराज काल का ही रूप है। वह प्रत्येक कर्म का फल देता है जिसके कारण जीव सदा चौरासी और नरकों-स्वर्गों में भटकता रहता है।

सन्त चरनदास जी कहते हैं कि मनुष्य यह समझने का प्रयत्न नहीं करता कि संसार और इसके शक्तियों और पदार्थों से उसका जो भी सम्बन्ध है, शरीर के कारण है। जब शरीर ही कच्चे घड़े की भाँति क्षण भर में नष्ट हो जानेवाला है, तो संसार और इसके भोगों पर विश्वास निरी मूर्खता नहीं तो क्या है? जब धरती-आकाश, चन्द्र-सूर्य, राजा-महाराजा, पीर-फ़कीर, औलिया और अवतार तक काल के ग्रास बन गये तो साधारण नर-नारी यहाँ सदा टिके रहने की आशा कैसे रख सकते हैं? माया का भरमाया जीव संसार को अपना समझकर इसके पदार्थों और भोगों से लिपटता है। वह भूल जाता है कि यमदूतों का पक्का पहरा सिर पर है और काल रूपी शिकारी सदा हाथ में तीर-कमान लिए तैयार खड़ा है। पता नहीं किस जीव को किस समय

काल का निशाना बनना है। गाफ़िल जीव अहंकार किस बात का करता है? साँस निकल जाने पर शरीर को चिता में जला दिया जाता है और फिर जीव को नरकों की अग्नि में जलना पड़ता है। जीव को चाहिए कि बुद्धिमानी से काम ले। उसे जीते-जी उस अमर लोक की खोज कर लेनी चाहिए, जो अकाल परमात्मा का निज-धाम है ताकि उसका काल द्वारा रची चौरासी से सदा के लिए छुटकारा हो जाये:

ठाढ़ा घात करै सिर पै जम, ताने तीर कमाना रे।

पलक पैंड़ पै तकि तकि मारै, काल अचानक बाना रे॥

स्वाँस निकसि चढ़ि आँखि जाहिं जब, काया जरै निदाना रे।

तोक्कूँ बाँधि नरक लै जैहँ, करि हँ अग्नि तपाना रे॥

अजहूँ चेत सीख ले गुरु की, करि ले ठौर ठिकाना रे।

अमर नगर पहिचान सिदौसी, तब नहिं आवन जाना रे॥*

हरि की भक्ति साधु की संगति, यह मति बेद पुराना रे।

चरनदास सुकदेव कहत हैं, परम पुरातन ज्ञाना रे॥¹⁶

अज्ञानी जीव

सन्त चरनदास जी मोह-माया में लिप्त और काल से बेपरवाह प्राणी को 'अज्ञानी', 'गँवार', 'मतवाला' और 'मूर्ख' कहते हैं। आप सावधान करते हैं कि जीव को काल की नगरी की मायामय चटक-मटक को देखकर गुमराह नहीं होना चाहिए और न ही उसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार का शिकार होना चाहिए। उसे अहंकार, कुटिलता और लापरवाही को छोड़कर तथा माया और मोह से उत्पन्न मन की दुःखदायक चंचलता को दूर करके परमात्मा के सुखदायक भजन में अपने आप को लीन करना चाहिए:

तेरी छिन छिन छीजत आयु, समझ अजहूँ भाई॥

दिन दो का जीवन जानि, छाँड़ दे गुमराई॥

* सिदौसी=जल्दी, शीघ्रतापूर्वक।

सुन मूरख नर अज्ञान, चेत करु कोउ न रही ॥
 कह फूला फिरत गँवार, जगत झूठे माहीं ॥
 कियौ काम क्रोध सँ नेह, गही है अकड़ाई ॥
 मतवारा माया माहिं, करत है कुटिलाई ॥
 तेरो संगी कोई नाहिं, गहै जब जम बाहीं ॥
 सुकदेव चितावैं तोहिं, त्याग रे मचलाई ॥
 चरनदास कहैं भजु राम, यही है सुखदाई ॥¹⁷

दुःख और चिन्ता

महात्मा चरनदास जी कहते हैं: 'चारि बरन में कोउ न देखो जाकूँ चिन्ता नाहीं।' आप सारे संसार की ओर देखकर कहते हैं कि राजा-प्रजा, अमीर-गरीब, दाता-भिखारी, गृहस्थी-त्यागी सभी बुरी तरह से आशा-तृष्णा, जन्म-मरण और सुख-दुःख से उत्पन्न चिन्ता में पिस रहे हैं। संसार में कोई ऐसा जीव नहीं जिसे चिन्ता का रोग न लगा हो। आप दावे के साथ कहते हैं कि परमात्मा की भक्ति के बिना संसार की कोई वस्तु जीव को काल और माया के पैदा किये जन्म-मरण, आशा-तृष्णा, चिन्ता और भय के दुःखों से मुक्त नहीं कर सकती। जीवात्मा को पूर्ण और स्थायी सुख केवल परमात्मा की भक्ति और परमात्मा की प्राप्ति द्वारा ही मिल सकता है:

साधो राम भजे ते सुखिया।
 राजा परजा नेमी दाता सबहीं देखे दुखिया ॥
 जो कोई धनवन्त जगत में राखत लाख हजार।
 उनकूँ तौ संसय है निस दिन घटत बढ़त ब्यौहारा ॥
 जिनके बहु सुत नाती कहिये और कुटुंब परिवारा।
 वे तौ जीवन मरन के काजै भरत रहैं दुख भारा ॥
 नेमी नेम करत दुख पावै कर अस्नान सबेरा।
 दाता कूँ देबे का दुख है जब मँगतौं ने घेरा ॥
 चारि बरन में कोउ न देखो जाकूँ चिन्ता नाहीं।

हरि की भक्ति बिना सब दुख है समझ देख मन माहीं ॥
 सत संगति अरु हरि सुमिरन करि सुकदेवा गुरु कहिया।
 चरनदास बिपता सब तजि कै आनंद में नित रहिया ॥¹⁸

गुरु नानक साहिब भी कहते हैं:

नानक दुखीआ सभु संसारु ॥¹⁹

बाबा फ़रीद का यह वचन है:

फरीदा मै जानिआ दुखु मुझ कू दुखु सबाइऐ जगि ॥
 ऊचे चड़ि कै देखिआ तां घरि घरि एहा अगि ॥²⁰

स्वामी जी महाराज कहते हैं:

या जग में कोइ सुखी न देखो। गहो गुरु के बचननियाँ ॥²¹

मूल सिद्धान्त-2

परमात्मा और आत्मा

सन्त चरनदास जी ने माया और काल के झूठे और नश्वर प्रसार तथा परमात्मा रूपी सत्य में अन्तर बतलाते हुए परमात्मा के अनेक गुणों का उल्लेख किया है। साथ ही आपने आत्मा और परमात्मा के आपसी सम्बन्ध पर प्रकाश डाला है जिससे जीवात्मा को अपनी, संसार की और परमात्मा की असलियत समझ आ जाये और इसके अन्दर परमात्मा का प्रेम जाग उठे।

आपने अपने एक शब्द (शब्द 68) में 108 नामों से परमात्मा की महिमा की है और कई अन्य शब्दों में परमात्मा को दूसरे कई नामों से भी याद किया है। आपने परमात्मा को अलख, अगम, अनन्त, अविगत कहा है। उसकी आदि पुरुष, नित्यपुरुष, पुरुष पुरातन, पारब्रह्म, पुरुषोत्तम कहकर प्रशंसा की है। आपने परमात्मा को जगपति, जगदीश, सकल सृष्टि का साई, स्वामी, सृजनकार, जग का करतार, जगत-गुरु कहकर उसकी बड़ाई की है; परमात्मा को चेतन, सर्वज्ञ, आनन्द-स्वरूप, परमानन्द कहकर आदर दिया है। आपने परमात्मा को निर्भय, निर्वैर और समदर्शी कहा है और करुणामय, दया-सिन्धु, भक्त-वत्सल, पतित-पावन आदि कहकर भी उसका गुणगान किया है। आप कहते हैं:

आरति आदि पुरुष की कीजै। साधो अगम अपार अचल मनदीजै ॥¹

रूप न रेख न सूरति मूरति, ताके बलि बलि जइये।

अचल अजर अविनाशी सोई, सन्मुख दरशन पइये ॥²

आपका तात्पर्य है कि माया और काल के दायरे के अन्दर बन्द कोई वस्तु हमारे प्रेम का आधार नहीं बन सकती। वह अलख, अगम व अविनाशी पुरुष ही आत्मा की पूजा, भक्ति, आराधना या आरती के योग्य है और वही उसका एकमात्र इष्ट है।

परमात्मा शक्ति और चेतना का अगम, अथाह सागर है। तीन गुणों, काल और माया से परे परमात्मा अपने जैसा केवल आप ही है। कोई दूसरा उसका सानी नहीं, कोई दूसरा उसका मुकाबला नहीं कर सकता। वह निर्भय, अचिन्त और बेपरवाह है। ऐसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, निश्चल और निर्भय परमेश्वर के अलावा हमारा सच्चा इष्ट कौन हो सकता है?

सिंधु अथाह अगाध अचल है जा को वार न पारा।

वा की लहरि मिटत वाही में कौन तै को तारा ॥

त्रेगुन रहित सदा हीं चेतन ना काहू उनहारा।

.....

काल जाल भय भूती नहीं तहाँ नहीं भ्रम भारा ॥³

परमात्मा अपना आधार आप है, अपना प्रकाश आप है। संसार की प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व के लिए किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर है। जो अपने अस्तित्व के लिए दूसरे पर निर्भर है, वह कभी स्वतन्त्र, निर्भय और निश्चिन्त नहीं हो सकता। आत्म-निर्भरता के बिना निश्चिन्तता असम्भव है। एकमात्र परमात्मा ही आत्म-निर्भर है। वही एकमात्र सर्वकालिक, सर्वदेशीय, स्वतः प्रकाश्य और सत्य है। वह सबका आदि है, सबका अन्त है, पर स्वयं आदि अन्त से परे है। जब कुछ नहीं था तो परमात्मा था, जब कुछ नहीं होगा तो परमात्मा होगा:

निराकार आकार न कोई निर्मल अति निर्धारा ॥⁴

अपने ही परकास में आप रहा परकास।⁵

चेतन आनँद नित निरधारा।⁶

गुरु नानक साहिब की भी वाणी है :

थापिआ न जाइ कीता न होइ ॥ आपे आपि निरंजनु सोइ ॥⁷

वे फिर कहते हैं :

है भी होसी जाइ न जासी रचना जिनि रचाई ॥⁸

सबकुछ परमात्मा से है, पर परमात्मा स्वयं अपने आप से है। न उसकी सत्ता किसी दूसरे पर निर्भर है और न ही कभी उसका अस्तित्व समाप्त हो सकता है। यही कारण है कि केवल परमात्मा निर्भय और निर्वैर है। ऐसे अनादि, अविनाशी, स्वप्रकाशित, निर्भय, निर्वैर परम सत्य में लीन होकर ही जीवात्मा हर प्रकार के भय, वैर-विरोध और चिन्ता से मुक्त हो सकती है।

सन्त चरनदास जी इस विचार को दूसरे प्रकार से बयान करते हुए कहते हैं कि संसार की कोई वस्तु एक ही समय में गुप्त और प्रकट, अन्दर और बाहर, निकट और दूर नहीं हो सकती। यह गुण केवल परमात्मा में है। संसार की प्रत्येक वस्तु घटती-बढ़ती, बनती-बिगड़ती तथा उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, पर परमात्मा इन दोषों से मुक्त है। संसार की प्रत्येक वस्तु को अपनी सत्ता के नष्ट हो जाने का भय लगा रहता है, पर परमात्मा इस भय से सदा मुक्त है। क्यों ? इसलिए कि उस परम तत्त्व को पानी गला नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, हवा सुखा नहीं सकती, शस्त्र काट नहीं सकता। वह इन्द्रियों के स्तर पर अगम, अगोचर है पर वास्तव में सर्वव्यापक है। वह सृष्टि के कण-कण में समाया हुआ है। उसके समान और कोई भी दिखायी नहीं देता : 'ता पटतर कोइ दृष्टि न आवै'। उसकी इस विलक्षणता को बताते हुए चरनदास जी कहते हैं :

साधो समुझो अलख अरूपा।

गुप्त सों गुप्त प्रकट सों परगट, ऐसो है निजरूपा ॥

भीजै नहीं नीर सों वह तत, ताहि शस्त्र नहिं काटै।

छोटा मोटा होय न कबहुँ, नहीं घटै नहिं बाढ़ै ॥

पवन कभी नहिं सोखै ताको, पावक तेज न जारै।

शीत उष्ण दुख सुख नहिं पहुँचै, ना वह मरै न मारै ॥

इकरस चेतन अचरज दरशै, जा सम तुल नहिं कोई।

ता पटतर कोइ दृष्टि न आवै, वही वही पुनि वोई ॥

भीतर बाहर पूरि रह्यो है, अण्ड पिण्ड सों न्यारा।

शुकदेवा गुरु भेद बतायो, चरणहिदासा वारा ॥⁹

आप उपदेश करते हैं कि पूजा और आराधना सर्वव्यापक और घट-घट में रमे हुए राम की करनी चाहिए। उसकी खोज के लिए बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं। जीवात्मा अपने अन्दर ही सर्वव्यापक राम से लिव जोड़कर परम सुख की अधिकारी बन सकती है :

आरती रमता राम की कीजै। अन्तरध्यान निरखि सुख लीजै ॥¹⁰

सन्त चरनदास जी के अनुसार वह परमात्मा शक्ति और ज्ञान का ही नहीं बल्कि अनन्त आनन्द का भी अथाह सागर है। उसका आदि, मध्य और अन्त आनन्द ही आनन्द है। वह आनन्द की साक्षात् मूर्ति है। उसका आनन्द गिनती और नाम से बाहर है। संसार के सभी प्राणी सुख-दुःख के प्रहार के अधीन हैं। अपने आनन्द में सदैव स्थिर और अडोल रहनेवाला परमानन्द परमेश्वर ही मनुष्य का इष्ट और आदर्श बन सकता है :

आदिहुँ आनंद, अन्तहुँ आनंद, मध्यहुँ आनंद, ऐसे हिं जानौ ॥¹¹

पाल बिन सिद्धि अरु निरा आनन्द है ॥¹²

हरि पीव कूँ पाइया सखि पूरन मेरे भाग।

सुख सागर आनंद में मैं नित उठि खेलूँ फाग ॥¹³

सत चेतन आनंद सदा ही निरभय ताल बजैये ॥¹⁴

पहले कहा जा चुका है कि सन्त चरनदास जी ने परमात्मा को दया का सागर (दया-सिन्धु), परम दयालु (करुणामय), भक्त-वत्सल और पतित-

उद्धारक कहा है। आपने परमात्मा को 'दीनदयाल', 'कृपालु बिसंभर' कहकर उसकी प्रशंसा की है। आप उसे पापियों का पाप बख्शने वाला रहमान या कृपालु कहकर उसकी बड़ाई करते हैं :

तुम साहब करतार हो हम बंदे तेरे।
रोम रोम गुनेगार हैं बखसो हरि मेरे ॥
.....
रहम करो रहमान सँ यह दास तिहारो।
भक्ति पदारथ दीजिये आवा गवन निवारो ॥¹⁵

वह प्रभु गरीबों, बेसहारों को सहारा देनेवाला और पापियों को भवसागर से पार उतारनेवाला कृपालु पिता है। वह अपने भक्तों का सब कार्य पूरा करनेवाला तथा दया और क्षमा का पुंज है। इसलिए चरनदास जी उससे इस प्रकार विनती करते हैं :

राखो जी लाज गरीब निवाज।
तुम बिन हमरे कौन सँवारै सबहीं बिगारै काज ॥
भक्तबछल हरि नाम कहावो पतित उधारनहार।
करो मनोरथ पूरन जन को सीतल दृष्टि निहार ॥¹⁶

वह परमपिता अनन्त गुणों का भण्डार है परन्तु उसका कृपासिन्धु और क्षमाशील होना सबसे अधिक लाभकारी है। वह दयालु है, इसलिए अपने अपार सामर्थ्य और ज्ञान को हमारे भले के लिए प्रयोग में लाता है। परमात्मा कृपा-पुंज है। क्षमा का अथाह सागर है। अनगिनत पापों, अपराधों और दुर्बलताओं से भरी जीवात्मा के लिए यदि आशा का कोई स्रोत है तो वह दयालु प्रभु ही है। आप परमात्मा को आत्मा का ऐसा सच्चा मित्र और हितैषी बताते हैं जो जीवन-काल में उसकी रक्षा करता है और मौत के बाद उसे मुक्ति की दात बख्शाता है। लोक और परलोक सुधारने वाले हरि के बिना मनुष्य का दूसरा मित्र कौन हो सकता है ?

समझि सँभारो रामजी हेली और न मीता कोय।
जीवत की रच्छा करै मुए मुक्ति करै तोय ॥¹⁷

आप दूसरे प्रसंग में कहते हैं कि वह दयालु दाता दया करके जीव को अनन्त पदार्थ बख्शाता है। उसकी दया से ही उसे सुन्दर काया, अनेक प्रकार के भोजन और हार-शृंगार प्राप्त होते हैं। उस प्रभु की कृपा से ही राज-पाट, हाट-हवेलियाँ और अनेक सुख-सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। वह प्रभु जीव को संसार में भेजकर निश्चिन्त नहीं हो जाता। वह माता से भी बढ़कर हर पल, हर क्षण उसकी रक्षा, प्रतिपालन और सँभाल करता है। सन्त चरनदास जी ऐसे जीवों को नमकहरामी और कृतघ्न कहते हैं जो दातों के मोह में फँसकर दाता को ही भुला देते हैं। उन्हें सदा दाता का सुमिरन करने और उसकी भक्ति के रंग में रँग जाने का उपदेश देते हुए वे कहते हैं :

रे नर हरि प्रताप न जाना।
तुव कारन सब कुछ नित कीन्हा सो करता न पिछाना ॥
जेहिं प्रताप तेरि सुन्दर काया हाथ पाँव मुख नासा।
नैन दिये जा सों सब सूझै होय रहा परकासा ॥
जेहिं प्रताप नाना बिधि भोजन बस्तर भूषन धारै।
वा का नाहिं निहोरा मानै ताको नाहिं सँभारै ॥
जेहिं प्रताप तू भूप भयो है भोग करै मन मानै।
सुख लै वा को भूलि गयो है करि करि बहु अभिमानै ॥
अधिकी प्यार करै माता सँ पल पल में सुधि लेवै।
तू तौ पीठि दिये ही नितहीं सुमिरन सुरति न देवै ॥
कृत्यघनी औ नूनहरामी न्याय ईसाफ न तेरे।
चरनदास सुकदेव कहत हैं अजहूँ चेतु सबेरे ॥¹⁸

सन्त चरनदास जी ने परमात्मा को जगत् का कर्ता कहा है और संसार को परमात्मा की रचना माना है। आपने परमात्मा को बाजीगर और संसार को उसकी बाजी कहा है। आपने उस परमात्मा को रचना के रंग-बिरंगे कपड़े

रँगनेवाला रंगरेज, भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़े छापनेवाला छीपी, नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करनेवाला कारीगर और रचना रूपी बाग में सुन्दर फल, फूल और पौधे उगानेवाला माली कहा है :

बाजीगर बाजी रची, सब गति पूरन साज।
किये तमासे बहुत हीं, तोहिं दिखावन काज ॥¹⁹

वैसा तौ रंगरेज ना, वैसा छीपी नाहिं।
वैसा कारीगर नहीं, या दुनिया के माहिं ॥
अजब अजब अचरज किये, अद्भुत अधिक अपार।
जल थल पवन अकास में, देखो दृष्टि उधार ॥
सृष्टि बाग माली रची, भाँति भाँति गुलजार।
रीझि रीझि सिर दीजिये, ए ही निरखि बहार ॥²⁰

आप उपदेश करते हैं कि ध्यान रचना की रंगीनी की ओर नहीं, बल्कि उसके कर्ता तथा उसकी कला की ओर होना चाहिए। सुख, आनन्द का स्रोत रचना नहीं, उसका मूल वह पारब्रह्म परमेश्वर है :

देखि होय परसन्न हीं, तू वा कूँ गुन मान।
चरनदास जो बुद्धि है, अधिक सुघरता जान ॥²¹

चरनदास सुकदेव कहत हैं, निज करि मूल गहीजै।
पार ब्रह्म जिन सृष्टि उपाई, ताहि ओरि चित दीजै ॥²²

सन्त चरनदास जी कहते हैं कि वह परमात्मा ही जगत् का सृजनहार या करतार है, वही इसका रक्षक और प्रतिपालक है और वही इसका आदि, मध्य और अन्त है। सम्पूर्ण त्रिलोकी उस परमात्मा की ही मौज का विस्तार है। वही अपनी इच्छा से एक से अनेक होकर सृष्टि के कण-कण में समा जाता है और वही अपनी मौज से सारी सृष्टि को पुनः अपने में समेटकर अनेक से एक हो जाता है। अवतार-पैगम्बर, देव-दानव, भले-बुरे, उच्च-नीच

सब उसी प्रभु से प्रकट हुए हैं। जल, थल, आकाश और प्रत्येक घट में उस एक परमात्मा का ही प्रकाश है :

हे जग के करतार, तेरी कहा अस्तुति कीजै।
तूही एक अनेक भयो है अपनी इच्छाधार ॥
तूही सिरजै तूही पालै तूही करै सँहार।
जित देखूँ तित तूही तूहै तेरा रूप अपार ॥
तूही राम नारायण तूही तूही कृष्णमुरार।
साधों की रक्षा के कारण युग युग ले औतार ॥
तूही आदि अरु मध्य तुही है अन्त तेरा उजियार।
दानव देव तुही सँ प्रकटे तीन लोक विस्तार ॥
जल थल में व्यापक है तूही घटघट बोलनहार।
तो बिन और कौन है ऐसो जासों करों पुकार ॥
तूही चतुर शिरोमणि है प्रभु तूही पतित उधार।
चरणदास शुक्रदेव तुही है जीवन प्राणअधार ॥²³

आप एक अन्य शब्द में कहते हैं :

अलख निरंजन रूपा। तूही एक अनेक स्वरूपा ॥
तेरी ज्योति सकल जग छाई। तू घटघट रहो समाई ॥
.....
बहुबिधि के भेष बनावै। सिरजै पालै बिनशावै ॥
.....
तूही है देवन को देवा। सनकादिक लहै न भेवा ॥
चाहै सो करै पल माहीं। तूही व्यापक है सब ठाहीं ॥²⁴

ऐसे वर्णन यह भाव प्रकट करते हैं कि संसार में दिखायी दे रही आश्चर्यजनक अनेकता और विभिन्नता उस कर्तापुरुष का खेल है। यह अनेकता और द्वैत दिखावे मात्र हैं, इनके पीछे वास्तव में पूर्ण एकता काम कर रही है। स्त्री-पुरुष, बच्चे-बूढ़े, अमीर-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित, मूर्ख-

विद्वान्, काले-गोरे, हिन्दू-मुसलमान, देशी-विदेशी के रूप में दिखायी दे रही भिन्नता के आधार पर ही नहीं, बल्कि अच्छे-बुरे, भले-मन्दे के आधार पर भी मनुष्य-मनुष्य में कोई अन्तर नहीं करना चाहिए। प्रत्येक घट में एक ही परमात्मा का प्रकाश है क्योंकि आत्मा परमात्मा की अंश है। परमात्मा सागर है और आत्मा बूँद है। परमात्मा सूर्य है और आत्मा किरण है। जो सागर और सूर्य की असलियत है वही बूँद और किरण की भी असलियत है। यदि सागर और सूर्य की कोई जाति नहीं तो फिर बूँद या किरण की भला क्या जाति हो सकती है ?

संसार के सब पूर्ण सन्तों और पीरों-फ़क़ीरों ने बार-बार यह सन्देश दोहराया है कि क्षणभंगुर, नश्वर और दिखावे की अनेकता का पर्दा चीरकर परमात्मा की एकता और सर्वव्यापकता की पहचान करने में जीव का कल्याण है। जीवात्मा परमात्मा रूपी पूर्ण एकता में समाकर ही दृश्यमान, द्वैत और अनेकता के भ्रम का पर्दा उठा सकती है। कबीर साहिब कहते हैं :

अवलि अलह नूर उपाइआ कुदरति के सभ बंदे।

एक नूर ते सभु जगु उपजिआ कउन भले को मंदे।²⁵

गुरु नानक साहिब ने कहा था :

सभ महि जोति जोति है सोइ ॥

तिस दै चानणि सभ महि चानणु होइ ॥²⁶

सन्त नामदेव जी कहते हैं :

सभु गोबिंदु है सभु गोबिंदु है गोबिंद बिनु नही कोई ॥

सूतु एकु मणि सत सहंस जैसे ओति पोति प्रभु सोई ॥²⁷

सूफ़ी फ़क़ीरों ने इसे 'हमाओस्त' का सिद्धान्त कहा है अर्थात् जो कुछ है उस एक परमात्मा से है और जो कुछ है उसमें वही एक समाया हुआ है :

फरीदा खालकु खलक महि खलक वसै रब माहि ॥

मंदा किस नो आखीऐ जां तिसु बिनु कोई नाहि ॥²⁸

साई बुल्लेशाह कहते हैं कि एक ही प्रभु अनेक रूप धारण करके नाना प्रकार की लीला दिखा रहा है। इसलिए किसी को बुरा समझना उचित नहीं है :

पाया है कुछ पाया है, सतगुरु ने अलख लखाया है।

कहूं वैर पड़ा कहूं बेली है, कहूं मजनूं है कहूं लेली है।

कहूं आप गुरु कहूं चेली है, सभ अपना राह दिखाया है।

कहूं मसजद का वरतारा है, कहूं बणया ठाकुर द्वारा है।

कहूं बैरागी जप धारा है, कहूं शेखन बण बण आया है।

कहूं तुरक किताबां पढ़ते हो, कहूं भगत हिंदू जप करते हो।

कहूं घोर गुफा में पड़ते हो, हर घर घर लाड लड़ाया है।

बुल्ला शहु का मैं मोहताज होआ, महाराज मिले मेरा काज होआ।

दर्शन पिया दा मेरा इलाज होआ, लग्गा इश्क तां एह गुण गाया है।²⁹

उक्त काफ़ी की अन्तिम दो पंक्तियाँ विशेष रूप से विचार करने योग्य हैं। आप संकेत करते हैं कि जब सतगुरु की सहायता से परमात्मा की भक्ति का मार्ग अपनाया तो अन्तर में परमात्मा से मिलाप हो गया। इससे द्वैत और अनेकता का रोग मिट गया और हर ओर एक ही परमात्मा का नूर दिखायी देने लगा। परमात्मा के प्रेम के बिना परमात्मा से मिलाप नहीं हो सकता और परमात्मा से मिलाप के बिना द्वैत का पर्दा नहीं हट सकता।

परमात्मा से आत्मा का सम्बन्ध

परमात्मा शक्ति, ज्ञान, आनन्द और दया का सागर है तो आत्मा इस सागर की लहर या बूँद है। जिस प्रकार ओला पानी में मिलकर पानी हो जाता है और बूँद या लहर सागर में समाकर सागर का रूप हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा में समाकर परमात्मा का रूप हो जाती है :

अचल समाधि अंत नहिं ता को गुरु सुकदेव बताई।
चरनदास की खोज न पैये सागर लहरि समाई ॥³⁰

ओला नीर बिचारो जैसे यों आपा बिसरैये ॥
चरनदास बासना तजि कै सागर बुंद समैये ॥³¹

भाव यह है कि मनुष्य के अस्तित्व का आधार शरीर, मन और इन्द्रियाँ नहीं, आत्मा है। परमात्मा की अंश होने के कारण आत्मा भी परमात्मा की भाँति शक्ति-रूप, ज्ञान-रूप, प्रेम-रूप और आनन्द-रूप है। अपने मूल से बिछुड़ी होने के कारण इसके ये स्वाभाविक गुण दब गये हैं। जब तक यह परमात्मा से अभेद होकर अपने खोये हुए गुणों को पुनः प्राप्त नहीं करती, अनन्त युगों से चली आ रही इसके दुःखों की कहानी समाप्त नहीं हो सकती। अंश अंशी में समाने का सामर्थ्य रखता है और अंशी में समा जाने पर ही अंश को पूर्णता प्राप्त होती है। इसलिए जीवात्मा का एकमात्र धर्म और उद्देश्य अपने मूल में समाना है और जीवात्मा में केवल इसके लिए ही तड़प होनी चाहिए।

समुद्री जहाज का कौआ जितनी मर्जी उड़ान भर ले, उसे उस जहाज के अलावा कहीं और ठिकाना नहीं मिल सकता। आत्मा संसार में जितने मर्जी हाथ-पैर मार ले, परमात्मा की शरण के बिना उसके लिए विश्राम या शान्ति का कोई और ठिकाना नहीं है:

तुम जहाज मैं काग तिहारो तुम तजि अंत न जाउँ।
जो तुम हरि जू मारि निकासो और ठौर नहिं पाउँ ॥³²

आप दूसरे प्रसंग में कहते हैं:

प्रभु जू सरन तिहारी आयो।

.....

औरन के मन देवी देवा मेरे मन तुहि भायो।

जब सों सुरति सम्हारी जग में और न सीस नवायो ॥³³

सन्त चरनदास जी ने आत्मा और परमात्मा के आपसी प्रेम के रिश्ते के आधार पर परमात्मा को आत्मा का बालम, पिया या पति कहकर भी पुकारा है:

टुक निर्गुन छैला सँ, कि नेह लगाव री।
जा को अजर अमर है देस, महल बेगमपुर री ॥
जहँ सदा सोहागिन होय, पिया सँ मिलि रहु री ॥³⁴

हिल मिल होरी खेलि लई हो बालमा घर पाइया ॥³⁵

पति से बिछुड़ी पत्नी को न सुन्दर हार-शृंगार अच्छे लगते हैं, न महलों के सुख। न उसे नौकरों-चाकरों की सेवा प्रसन्न कर सकती है, न संसार का मान-सम्मान। वह तो हर पल पति से मिलाप के लिए तड़पती है। इसी प्रकार परमात्मा रूपी प्रियतम के वियोग में तड़प रही आत्मा न स्वर्गों-बैकुण्ठों के सुखों की कामना करती है और न ही मुक्ति की माँग। वह केवल प्रियतम से मिलाप, प्रियतम के दीदार और प्रियतम के प्रेम की याचना करती है। दूसरी कोई वस्तु उसकी प्यास को शान्त नहीं कर सकती। वह किसी भय या लोभ के कारण नहीं, प्रियतम के लिए प्रियतम से प्रेम करती है क्योंकि बिना प्रियतम से अभेद हुए उसे सच्ची शान्ति नहीं मिल सकती:

मो कूँ कछु न चहिये राम।
तुम बिन सबहीं फीके लागैं, नाना सुख धन धाम ॥
आठ सिद्धि नौ निद्धि आपनी, और जनन को दीजै ॥
मैं तो चेरो जन्म जन्म को, निज करि अपनो कीजै ॥
स्वर्ग फलन की मोहिं न आसा, ना बैकुंठ न मोच्छहिं चाहूँ।
चरन कमल के राखौ पासा, यहि उर माहिं उमाहूँ ॥
भक्ति न छोड़ूँ मुक्ति न माँगूँ, सुन सुकदेव मुरारी।
चरनदास की यही टेक है, तजूँ न गैल तुम्हारी ॥³⁶

राबिया बसरी ने कहा था: हे प्रभु, अगर मैं तुझे नरकों की आग से डरते हुए प्यार करती हूँ तो तू मुझे नरकों की आग में जला। अगर मैंने तुझे स्वर्गों के सुखों के लोभ के कारण प्यार किया है तो मुझे इन सुखों से खाली रख। पर अगर मैंने तुझे तेरे लिए प्यार किया है तो मुझे अपने दीदार से वंचित मत रखना। राबिया फिर कहती है, 'हे प्रभु! तू दुनिया के जो सुख मुझे देना चाहता है, मेरे शत्रुओं को दे दे, जो स्वर्गों के सुख मुझे देना चाहता है, मेरे दोस्तों को दे दे, मेरे लिए तो तू ही काफी है।'।

सन्त चरनदास जी संकेत करते हैं कि प्रियतम का वियोग प्रियतमा के तन-मन को घुन की भाँति खोखला करता जाता है। उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी रहती है और वियोग की आग हर पल उसके हृदय को जलाती रहती है। उसका सबकुछ जाता रहता है तथा वह निढाल और बेहाल हो जाती है। वह हर पल यही विनती करती है कि प्रियतम से मेरा मिलाप शीघ्र हो। तभी उसके दुःखों का अन्त हो सकता है और वह सदा के लिए प्रियतम से मिलाप का सहज सुख प्राप्त कर सकती है:

मो बिरहिन की बात हेली बिरहिन हो सोइ जानि है।

नैन बिछोहा जानती री हेली बिरहै कीन्हो घात ॥

या तन कूँ बिरहा लगो री हेली ज्यों घुन लागो काठ।

निस दिन खाये जातु है देखूँ हरि का बाट ॥

हिरदे में पावक जैरै री हेली तपि नैना भये लाल।

आँसू पर आँसू गिरैं यही हमारी हाल ॥

प्रीतम बिन कल ना परै री हेली कलकल सब अकुलाहि।

डिगी परूँ सत ना रहो कब पिय पकरैं बाँहिं ॥

गुरु सुकदेव दया करैं री हेली मोहिं मिलावैं लाल।

चरनदास दुख सब भजैं सदा रहूँ पति नाल ॥³⁷

आप जीवात्मा के परमात्मा से मिलाप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह हरि में समाकर हरि-रूप हो जाती है। इस प्रकार वह मन, माया और काल की पैदा की हुई द्वैत की हर प्रकार की बाधाओं से मुक्त होकर परमात्मा

की ही भाँति शक्ति-रूप, ज्ञान-रूप, प्रेम-रूप और आनन्द-रूप हो जाती है। इसलिए आप जीवात्मा के सामने एकमात्र आदर्श परमात्मा में समाकर एकाकार हो जाने का रखते हैं:

हरि पाये फल देख, हेली पावत ही खोई गई।

जात अटक कुल खोय गये, हेली खोये बरन अरु भेस ॥

जन्म मरन सब खो गये, हेली बंध मुक्ति गये खोय।

ज्ञान अज्ञान न पाइये, नेम धर्म नहिं होय ॥

लाज गई अरु भय गये, हेली साथहिं गई उपाध।

आसा अरु करनी गई, खोये बाद बिबाद ॥

मैं नाहीं हरि ही रहे, तू दौरत हरि ओट।

पावैगी जब जानि है, हरि पावन की खोट ॥³⁸

मूल सिद्धान्त-3

प्रभु-मिलाप का साधन: केवल प्रेम

परमात्मा पूर्ण सुख और स्थायी शान्ति का स्रोत और भण्डार है। इसलिए सच्चे सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिए परमात्मा से मिलाप करना आवश्यक है। पर उससे मिलाप कैसे किया जाये? इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कौन-सा धर्म अपनाया जाये? जप-तप, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, तीर्थ-व्रत आदि साधनों से क्या परमात्मा मिल सकता है? क्या परमात्मा से मिलाप करने के लिए दुनिया और इसकी शक्तों और पदार्थों को त्यागकर जंगलों-पहाड़ों में जाना ठीक होगा? आखिर मनुष्य किस साधन, किस युक्ति के सहारे उस परमपिता परमेश्वर से मिलाप कर सकता है?

सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि परमात्मा से मिलाप करने के लिए ऐसे किसी प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है तो केवल अपने अन्दर परमात्मा का प्रेम, इश्क या प्यार पैदा करने की।

हम वहाँ होते हैं जहाँ हमारा मन होता है। हम उस वस्तु से बाँधे होते हैं जिसे हम प्यार करते हैं। संसार का प्रेम जीवात्मा को संसार से बाँधता है और परमात्मा का प्रेम इसे परमात्मा से मिलाता है।

प्रेम करना मानव मन का स्वभाव है। आवश्यकता केवल जगत् के प्रेम को जगदीश के प्रेम में बदलने की है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए यह परमात्मा द्वारा स्वयं रचा गया सबका साँझा साधन है। संसार में अनेक क्रौमें, मजहब, मुल्क और जातियाँ हैं पर अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष, शिक्षित-

अशिक्षित, उच्च-नीच सभी एक ही तरह परमात्मा से प्रेम करने के अधिकारी और उसके लिए समर्थ हैं।

प्रेम क्या है? फूलों की सुगन्ध की तरह प्रेम का केवल अनुभव किया जा सकता है, वर्णन नहीं। हमें किसी हद तक यह तो पता चलता है कि प्रेम कौन-सी बातों से पुष्ट होता है, फलता-फूलता है, किन्तु उसके स्वरूप को शब्दों का रूप दे सकना असम्भव है। समझने-समझाने के लिए हम कह सकते हैं कि प्रेम का सीधा-सादा अर्थ आकर्षण, चाह, लालसा या तड़प है। किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति प्रबल चाह उठने पर अपने आप को ही नहीं, बल्कि सारे संसार को उसके आगे तुच्छ समझना और उस वस्तु, व्यक्ति या सत्ता के खयाल में खो जाना तथा उसके लिए अपने आप को मिटा देना प्रेम कहलाता है। उस वस्तु या व्यक्ति के लिए अपने आप को और संसार को न्योछावर कर देना प्रेम है।

जिस व्यक्ति से हमें प्रेम होता है उसकी प्राप्ति के लिए हम तन, मन और धन न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं। हम अपना अस्तित्व, अपनी सत्ता, अपना सर्वस्व उसके अधीन कर देते हैं। हम अपनी नहीं, बल्कि उसकी प्रसन्नता का खयाल रखते हैं। हमारा सम्पूर्ण जीवन उसके चारों ओर घूमता है। हम प्रत्येक साधन से उसे अपना बनाना चाहते हैं और स्वयं उसका बन जाना चाहते हैं।

जिसके हृदय में प्रियतम का प्रेम होता है, वह किसी अन्य वस्तु को प्यार नहीं कर सकता। जिसके हृदय में प्रियतम का प्रेम होता है, वह प्रियतम के बिना जीवित नहीं रह सकता। प्रियतम का प्रेम प्रेमी को सहज ही हर ओर से विरक्त कर देता है। प्रेमी प्रियतम के लिए जान की बाज़ी लगा देता है। वह सिर बेचकर भी प्रियतम से मिलाप करने के लिए तैयार रहता है और उसके हृदय में प्रियतम से मिलने की तड़प सदा बनी रहती है।

प्रेमी अपनी सुध-बुध खो बैठता है। वह अपनी मर्जी को प्रियतम की रज़ा में लीन कर देता है। वह अपनी प्रसन्नता को नहीं, प्रियतम की प्रसन्नता को अपने जीवन का ध्येय बना लेता है। जो प्रियतम को भाता है, वही प्रेमी को भाता है। वह प्रियतम का बिना दाम का दास बन जाता है। प्रेम सभी

धर्मों का सार और आधार है। यही ज्ञान, वैराग्य, त्याग, समर्पण और रजा का जन्मदाता या मूल है। यही कारण है कि प्रेम को हर प्रकार की करनी का सरदार या सिरमौर माना गया है और संसार के सभी धर्मों में प्रेम को परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र साधन माना गया है।

प्रेम एक दुर्लभ दात है। यह अमोलक वरदान उसे मिलता है जिसे वह परमेश्वर स्वयं प्रसन्न होकर देता है। संसार के सभी धर्म-ग्रन्थ उच्च स्वर में बार-बार यही पुकारते हैं कि परमात्मा को वश में करने की युक्ति परमात्मा का प्रेम है। जिस हृदय में परमात्मा का प्रेम प्रकट हो जाता है, उसमें परमात्मा का प्रकट होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। इसलिए सब प्रयत्नों का मूल परमात्मा का प्रेम है। हर प्रकार के साधन का मूल ध्येय अन्तर में परमात्मा का प्रेम पैदा करना है, इसलिए प्रेम ही सबका शिरोमणि धर्म और सबसे ऊँची करनी है। यही सब धर्मों का शाहंशाह है:

नवो अंग के साथ ते, उपजै प्रेम अनूप।

रनजीता यौं जानिये, सब धर्मन का भूप॥¹

सब मत अधिकी प्रेम बतावैं। जोग जुगत सँ बड़ा दिखावैं॥

प्रेमहिं सँ उपजै बैराग। प्रेमहिं सँ उपजै मन त्याग॥

प्रेम भक्ति सँ उपजै ज्ञान। होय चाँदना मिट अज्ञान॥

दुर्लभ प्रेम जु हाथ न आवै। हरि किरपा कर दें तो पावै॥

प्रेम प्रीत के बस भगवाना। सकल सास्तर कियो बखाना॥

भक्त हिये में प्रेम जो जागै। तौ हरि दरसत रहैं जो आगे॥

सकल सिरोमनि प्रेमहिं जानो। चरनदास निस्सुँ मन आनो॥²

मन और माया में डूबे मनमुखों के मैल को धोकर उन्हें गुरुमुख बनानेवाला प्रेम ही है। संसार के मोह के दलदल में फँसे जीवों को संसार से विरक्त करनेवाला भी प्रेम है। जीवात्मा को हर प्रकार के अवगुणों, त्रुटियों से मुक्त करके उसके अन्तर में अनेक दैवी गुणों का संचार केवल प्रेम ही कर सकता है:

वह करै काग सँ हंसा। इक रहै पिया का संसा॥

वह जात बरन कुल खोवै। अरु बीज बिरह का बोवै॥

जो प्रेम तनिक चित आवै। वह औगुन सबै नसावै॥³

चरनदास जी ने अपने एक पद में बहुत-से प्रभु-भक्तों के उदाहरण देकर यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रेम-भक्ति का मार्ग योग, ज्ञान और वैराग्य आदि सबसे श्रेष्ठ है:

जोग ज्ञान बैराग सबन सँ प्रेम प्रीति है न्यारी।

चरनदास ने गुरू किरपा सँ साँची बात बिचारी॥⁴

प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।

प्रेम भक्ति बिन साधिबो, सबही थोथा ध्यान॥⁵

लोग इस भ्रम के शिकार हैं कि वे जप-तप, पूजा-पाठ, हठ-कर्म, ज्ञान आदि द्वारा परमात्मा को वश में कर लेंगे। यह निपट अज्ञान है। वह सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ प्रभु हमारे सीमित कर्म और ज्ञान से हमारे वश में कैसे आ सकता है? जो हमारे कर्म और ज्ञान से हमारे वश में आ सकता है निश्चय ही वह सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

जीव निर्बल और अज्ञानी है। निर्बल का बल प्रेम है। अज्ञानी का ज्ञान प्रेम है। प्रेमी अपनी बल-बुद्धि का नहीं, प्रियतम की दया-मेहर का सहारा लेता है। वह अपने प्रयत्न से नहीं, प्रियतम की कृपा के आसरे रहता है। वह अपने प्रयत्न से प्रियतम को वश में करने की बात नहीं सोचता। वह बिना शर्त अपने आप को प्रियतम को समर्पित कर देता है। वह प्रियतम को जीतना नहीं चाहता, वह तो सब तरह से हारकर प्रियतम के चरणों में गिरना चाहता है। वह प्रियतम को वश में नहीं करता, अपने आप को उसके वश में अर्थात् उसके हवाले कर देता है जिससे प्रियतम उस पर रीझकर स्वयं उसका हो जाता है।

सन्त चरनदास जी सावधान करते हैं कि अनाड़ी लोग हठ कर्मों, घोर तपस्या, तीर्थ-यात्रा, ग्रन्थों-शास्त्रों के पठन-पाठन, लम्बे व्रतों आदि द्वारा

परमात्मा को वश में करना चाहते हैं। वे अपने आप को अनेक कष्ट देते हैं, यहाँ तक कि शरीर को गला लेते हैं। इससे उनके मन में अपनी करनी का मान पैदा हो जाता है, जो उन्हें परमात्मा के निकट ले जाने की बजाय उससे और दूर कर देता है। इन अज्ञानियों ने प्रेम-भक्ति की रीति नहीं पहचानी। उन्होंने प्रेम का सहजमय, सुखमय और आनन्दमय मार्ग त्यागकर स्वयं को अनेक कष्टों में डाला और फिर भी उनके हाथ-पल्ले कुछ नहीं पड़ा। उस अलबेले प्रियतम को वे ही रिझा सके जिन्होंने प्रेम की बाज़ी में अपने अहं की बलि दे दी, जिन्होंने आपाभाव त्यागकर अपने आप को प्रियतम में लीन कर दिया। आपका आशय यह है कि कर्म अहंकार की जननी है, जब कि प्रेम अहं को नष्ट करता है; मन को दीनता और समर्पण की भावना से भरकर प्रियतम से मिलाप का मार्ग प्रशस्त कर देता है:

तप करने को बन जा बैठे कीन्हीं त्वचा उधारी है।
पौन अहारी तनहूँ गारो दर्शें नाहिं मुरारी है ॥
विद्या पढ़ि पढ़ि पण्डित हूवा अर्थ करै बहु भारी है।
अभिमानि हूँ जन्म गँवायो भयो न प्रेम खिलारी है ॥
साँच भक्ति बिन हरि नहिं रीझैं बहुत गये सिरमारी हैं।
चरणदास शुकदेव श्याम पर तन मन सँ बलिहारी हैं ॥⁶

प्रेम के बिना रूहानी अभ्यास शुष्क, नीरस और प्राणहीन है। प्रेम इसमें रस और जीवन का संचार करता है। सुमिरन, ध्यान और एकाग्रता में सफलता का आधार प्रेम है। प्रेमी पल-पल, क्षण-क्षण प्रियतम की याद, प्रियतम के सुमिरन में खोया रहता है। प्रेमी के तन, मन, रोम-रोम में प्रियतम का ध्यान समाया होता है। प्रेमी को जबरदस्ती प्रियतम का ध्यान आता है। इसलिए प्रेमी का मन सहज ही प्रियतम पर टिका रहता है। सन्त चरनदास जी कहते हैं:

प्रेम लता जब लहरै। मन बिना जोग ही ठहरै ॥⁷

पी पी करते दिन गया, रैन गई पिय ध्यान।

बिरहिन के सहजै सधै, भक्ति जोग अरु ज्ञान ॥⁸

कबीर साहिब ने कहा था:

सबै रसायन मैं किया, प्रेम समान न कोय।

रति इक तन में संचरै, सब तन कंचन होय ॥⁹

प्रेम को केवल प्रेम काट सकता है। जब एक वस्तु से प्रेम करते हैं तो स्वाभाविक तौर से दूसरी वस्तु के प्रेम से निकल आते हैं। कुँवारी कन्या का प्रेम माता-पिता, बहन-भाइयों, सखी-सहेलियों आदि में फैला होता है। शादी के बाद जब वह पति के प्रेम के बन्धन में बँध जाती है तो स्वाभाविक ही उसके मन से और सब मोह निकल जाते हैं। रचना से मुक्त होकर रचयिता के निज-धाम पहुँचने का एकमात्र साधन रचयिता का प्रेम है। महात्मा चरनदास जी ने बहुत सरल ढंग से निर्मल परमार्थ के इस रहस्य का इस प्रकार वर्णन किया है:

प्रेम छुटावै जक्त सँ, प्रेम मिलावै राम।

प्रेम करै गति और ही, ले पहुँचै हरि धाम ॥¹⁰

गुरु नानक साहिब कहते हैं: 'मन रे किउ छूटहि बिनु पिआर'¹¹। परमात्मा के प्रबल प्रेम के बिना जगत् के मोह के बन्धन को तोड़ पाना कठिन ही नहीं, असम्भव है। सन्त नामदेव जी ने भी बताया है कि प्रेम हो जाने पर वैराग्य और त्याग अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं:

नामे प्रीति नाराइण लागी। सहज सुभाइ भइओ बैरागी ॥¹²

सन्त चरनदास जी फरमाते हैं कि जिसके हृदय में प्रियतम का प्रेम बस जाता है, जिसका ध्यान सदा अपने प्रियतम में लगा रहता है, वह किसी अन्य के बारे में भला कैसे सोच सकता है? सच्चे प्रेमी के हृदय में प्रियतम के प्रेम के सिवाय कोई दूसरा प्रेम प्रवेश नहीं कर सकता। परमात्मा का सच्चा प्रेमी ऋद्धियों-सिद्धियों, स्वर्गों-बैकुण्ठों और मुक्ति तक की लालसा से मुक्त हो जाता है, क्योंकि प्रियतम के बिना कोई अन्य वस्तु उसे अच्छी नहीं लगती और न उसे शान्ति दे सकती है। परमात्मा का प्रेमी सहज ही

संसार की हर प्रकार की आशा-तृष्णा और उससे उत्पन्न होनेवाले बन्धनों से मुक्त हो जाता है :

वह पुरुषोत्तम मेरा यार, नेह लगी टूटै नहिं तार ॥
तीरथ जाऊँ न बर्त करूँ, चरन कमल को ध्यान धरूँ ॥
प्राण पियारे मेरेहिं पास, बन बन माहिं न फिरू उदास ॥
पढ़ूँ न गीता बेद पुरान, एकहिं सुमिरूँ श्रीभगवान ॥
औरन को नहिं नाऊँ सीस, हरि ही हरि हैं बिस्वै बीस ॥ *
काहू की नहिं राखूँ आस, तृष्णा काटि दई है फाँस ॥
उद्यम करूँ न राखूँ दाम, सहजहिं ह्वै रहैं पूरन काम ॥
सिद्धि मुक्ति फल चाहौं नहिं, नितहिं रहूँ हरि संतन माहिं ॥
गुरु सुकदेव यही मोहिं दीन, चरनदास आनंद लव लीन ॥¹³

जीवात्मा को परमात्मा से दूर रखनेवाली एकमात्र वस्तु अहं या आपाभाव है। दिन और रात की तरह प्रेम और अहं भी कभी इकट्ठे नहीं रह सकते। प्रेमी कभी अपने बारे में नहीं सोचता। उसकी अपनी रजा नहीं होती। वह सदा प्रियतम के ध्यान में मग्न रहता है। वह अपने अस्तित्व और इच्छा को प्रियतम के अस्तित्व और रजा में विलीन कर देता है। वह कुछ भी अपनी खुशी के लिए नहीं करता; जो कुछ करता है, प्रियतम की प्रसन्नता के लिए करता है। जो कुछ उसका प्रियतम करता है, वह उस पर बलिहार जाता है। ऐसे प्रेमी का ध्यान माता-पिता, पुत्र, नारी, हानि-लाभ, आशा-तृष्णा में से सहज ही निकल जाता है। वह उस प्रियतम के प्रेम के बन्धन में इस प्रकार दृढ़ता से बँध जाता है कि बाक़ी सभी बन्धन अपने आप ही ढीले पड़ जाते हैं :

जिन्हैं हरि भक्ति पियारी हो।
मात पिता सहजै छुटैं छुटैं सुत अरु नारी हो ॥
लोक भोग फीके लगैं सम अस्तुति गारी हो।

* औरन...सीस=किसी दूसरे इष्ट के आगे माथा न टेकना।

हानि लाभ नहिं चाहिए सब आसा हारी हो ॥
जग सँ मुख मोरै रहै करैं ध्यान मुरारी हो।
जित मनुवाँ लागो रहै भइ घट उँजियारी हो ॥
गुरु सुकदेव बताइया प्रेमी गति भारी हो।
चरनदास चारौ बेद सँ औरै कछु न्यारी हो ॥¹⁴

परमात्मा के सच्चे आशिक के जीवन का आधार परमात्मा बन जाता है। प्रियतम के बिना उसकी हालत वैसी ही होती है जैसी पानी के बिना मछली की, स्वाति बूँद के बिना पपीहे की और चन्द्र के बिना चकोर की। दूसरे शब्दों में, वह प्रियतम को प्रियतम के लिए प्यार करता है। उसके प्रेम में न लोभ होता है, न भय। उसका प्रेम हर प्रकार की आशा-तृष्णा और भय से मुक्त होता है। जिसके जीवन-प्राण और आत्मा प्रियतम है, उसका रोम-रोम प्रियतम ही प्रियतम पुकारता है। उसका प्रियतम के बिना किसी अन्य वस्तु से सन्तुष्ट होना असम्भव है। प्रियतम के वियोग की ज्वाला उसके हृदय के अन्दर पड़ी द्वैत और तृष्णा की हर प्रकार की मलिनताओं को जलाकर उसे प्रियतम के निवास के लिए निर्मल बना देती है :

सुधि बुधि सब गइ खोय री मैं इस्क दिवानी।
तलफत हूँ दिन रैन ज्यों मछली बिन पानी ॥
बिन देखे मोहिं कल न परत है देखत आँख सिरानी । *
सुधि आये हिय में दव लागै नैनन बरखत पानी ॥ †
जैसे चकोर रटत चंदा को जैसे पपिहा स्वाँती।
ऐसे हम तलफत पिय दरसन बिरहबिथा यहि भाँती ॥
जब ते मीत बिछोहा हूवा तब से कछु न सुहानी।
अंग अंग अकुलात सखी री रोम रोम मुरझानी ॥
बिन मनमोहन भवन अंधेरो भरि भरि आवै छाती।
चरनदास सुकदेव मिलावो नैन भये मोहिं घाती ॥¹⁵

* सिरानी=शीतल हुई।

† दव=अग्नि।

हमारा मन उस वस्तु की ओर जाता है जिसमें से इसे रस मिलता है। प्रभु-प्रेमी को अपने अन्दर ही उस अद्भुत अलौकिक रस की प्राप्ति होती है जिससे वह स्वाभाविक ही दूसरे हर प्रकार के रस से विरक्त हो जाता है। सच्चा प्रेमी अन्तर में मिलनेवाली प्रेम की मस्ती में ही मग्न रहता है :

हिरदै माहीं प्रेम जो, नैनों झलकै आय।

सोइ छका हरि रस पगा, वा पग परसो धाय ॥¹⁶

प्रेम का आधार प्रेम है, जाति-पाँति, धन-दौलत या पदवी नहीं। सन्त चरनदास जी अपने शब्द 'सुन राम भक्ति गति न्यारी है' में भीलनी, कुब्जा, सुपच (श्वपच), सैन, सदना, कबीर, रविदास, नामदेव, धन्ना आदि के उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि परमात्मा प्रेमी का प्रेम देखता है, जाति-पाँति, क्रौम, मजहब, मुल्क, अमीरी, गरीबी, रंग, रूप, आयु, बुद्धि आदि नहीं। आपका तात्पर्य है कि छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब, सुन्दर-कुरूप, शिक्षित-अशिक्षित सभी समान रूप से परमात्मा की भक्ति करने तथा भक्ति और प्रेम द्वारा परमात्मा से मिलने के अधिकारी हैं :

सुन राम भक्ति गति न्यारी है।

योग यज्ञ संयम अरु पूजा प्रेम सबन पर भारी है ॥

जाति बरण पर जो हरि जाते तो गणिका क्यों तारी है।

.....

प्रीति बराबर और न दीखै वेद पुराण विचारी है।

चरणदास शुकदेव कहत हैं ता वश आप मुरारी है ॥¹⁷

आप फ़रमाते हैं कि जिस दिन से सतगुरु ने परमात्मा के प्रेम का प्याला पिलाया है, उसी दिन से मेरा काया-कल्प हो गया है। प्रेम का सुधा-रस पीते ही मेरी जाति-पाँति, कुल-गोत्र, देश-क्रौम के बन्धन टूट गये। मेरी बाहरमुखी वृत्ति अन्तर्मुख हो गयी। मन गगन-मण्डल में चढ़कर अनहद शब्द के रस में मग्न हो गया। सुरत माया और काल की त्रिगुणात्मक रचना को

पार कर प्रियतम के निज-धाम, चौथे लोक में पहुँच गयी। उस प्रकाश-पुंज, आनन्द-रूप प्रियतम में समाकर आत्मा प्रकाश और आनन्द का रूप हो गयी :

गुरु हमरे प्रेम पियायो हो।

ता दिन तें पलटो भयो कुल गोत नसायो हो ॥

अमल चढ़ो गगनै लगो अनहद मन छायो हो।

तेज पुंज की सेज पै प्रीतम गल लायो हो ॥

गये दिवाने देसड़े आनंद दरसायो हो।

सब किरिया सहजै छुटी तप नेम भुलायो हो ॥

त्रैगुन तें ऊपर रहूँ सुकदेव बसायो हो।

चरनदास दिन रैन नहिं तुरिया पद पायो हो ॥¹⁸

सन्त चरनदास जी के अनुसार प्रेम अनन्त, अथाह है। प्रेम का भण्डार अखुट है। यह ऐसा अद्भुत भण्डार है जो खाने, खर्च करने और बाँटने पर ख़त्म नहीं होता, दुगना-सवाया बढ़ता जाता है। प्रेम-भक्ति के धन पर राजा कर नहीं लगा सकता। इसे न चोर चुरा सकते हैं और न डाकू लूट सकते हैं। वह प्रभु स्वयं प्रेमी का भण्डारी बन जाता है। फिर उसमें किसी प्रकार का अभाव कैसे आ सकता है? प्रेम और भक्ति के शाहंशाह सतगुरु का आसरा लेकर जो कोई भी प्रभु-भक्ति के व्यापार में लगता है, वह रंक होने पर भी भक्ति का धन पाकर राजा बन जाता है :

हमारे राम भक्ति धन भारी।

राज न डाँदै चोर न चोरै लूटि सकै नहिं धारी ॥

प्रभु पैसे अरु नाम रुपइये मुहर मुहब्बत हरि की।

हीरा ज्ञान युक्ति के मोती कहा कमी ह्याँ जर की ॥

.....

बाँटों बहुत घटै नहिं कबहुँ दिन दिन ड्यौढ़ी ड्यौढ़ी।

चोखा माल द्रव्य अति नीका बढ़ा लगै न कौड़ी ॥

साह गुरु शुकदेव विराजै चरणदास बन जोटा।

मिलि मिलि रंक भूप हो बैठे कबहुँ न आवै टोटा ॥¹⁹

आप फ़रमाते हैं कि परमात्मा के भक्तों की महिमा अपरम्पार है। भक्ति परमात्मा के भक्तों की जाति-पाँति और धर्म-कर्म है। वे आठों पहर परमात्मा की भक्ति के रंग में ही रँगे रहते हैं। भक्ति करते हुए वे भगवन्त का ही रूप हो जाते हैं। वे स्वयं भवसागर से पार चले जाते हैं और अपनी शरण में आनेवाले जीवों को भी पार उतार देते हैं। गुरु के सच्चे भक्त ऋद्धियों-सिद्धियों, स्वर्गों-बैकुण्ठों और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष तक की आशा नहीं रखते। उनके हृदय में प्यास होती है तो केवल प्रभु के दर्शनों की। वे उच्च से उच्च हैं। ऋषि-मुनि और देवी-देवता तक उनका यश गाते हैं, क्योंकि भक्त के ही साथ भगवन्त रहते हैं और भक्त की पूजा ही भगवन्त की पूजा है। धन्य हैं प्रभु के भक्त, जिनकी मर्त्य-लोक में शोभा होती है और जो मर्त्य-लोक की यात्रा पूरी कर सदा के लिए परमेश्वर में लीन हो जाते हैं:

धनि वे नर हरि दास कहाये।

राम भक्ति दृढ़ही करि पकरी आन धर्म सबही बिसराये॥

आठ पहर गलतान भजन में प्रेम मगन हिय में हुलसाये।

आप तरैं तारैं औरन कूँ बहुतक पापी पार लगाये॥

प्रभु दरसन बिन और न आसा धर्म काम अरु मोच्छ न चाहे।

आठौ सिद्धि फिरैं संग लागी नेक न देखैं नैन उठाये॥

तिन को ऋषि मुनि जाप करत हैं हरि जन हरि दोउ संगहिं गाये।

ऊँची पदवी इंदर हूँ ते देवन देखि अधिक ललचाये॥

कहें सुकदेव चरनही दासा धनि माता ऐसे जन जाये।

जीवत सोभा जग में पाई तन छूटे हरि माहिं समाये॥²⁰

सार

सन्त चरनदास जी कहते हैं:

हरि की भक्ति साधु की संगति, यह मति बेद पुराना रे।

चरनदास सुकदेव कहत हैं, परम पुरातन ज्ञाना रे॥²¹

आप यहाँ संकेत करते हैं कि मैं कोई नया दर्शन, सिद्धान्त या उपदेश प्रस्तुत नहीं कर रहा। मुझे अपने सतगुरु सुखदेव जी के बताये मार्ग पर चलकर जिस ज्ञान की प्राप्ति हुई है, यह वास्तव में वही ज्ञान है जिसके संकेत वेदों, पुराणों, गीता आदि संसार के अनेक प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में मिलते हैं। यह ज्ञान केवल पुरातन से पुरातन, सनातन से सनातन ही नहीं बल्कि यही वह सर्वोत्तम तत्त्व-ज्ञान भी है, जिसका उपदेश सृष्टि के आदि से सभी सन्त-महात्मा करते आ रहे हैं। संसार के सब धर्म-ग्रन्थ और सभी सन्त-महात्मा एक स्वर से परमात्मा के प्रेम या इश्क का ही उपदेश देते आये हैं।

सन्त नामदेव जी कहते हैं:

अब न बिसारूं राम संभारूं। जौ रे बिसारूं तौ सब हारूं॥

तन मन हरि परि छिन छिन वारूं। घड़ी महरति पल नहीं टारूं॥²²

गुरु अर्जुन साहिब कहते हैं:

अति सुंदर कुलीन चतुर मुखि डिआनी धनवंत॥

मिरतक कहीअहि नानका जिह प्रीति नही भगवंत॥²³

सन्त रविदास जी कहते हैं:

प्रेम पंथ की पालकी, रविदास बैठियो आय।

सांचे सामी मिलन कूं, आनंद कह्यो न जाय॥²⁴

दादू साहिब का कथन है:

प्रेम भगति जब ऊपजै, निहचल सहज समाध।

दादू पीवै राम रस, सतगुर के परसाद॥²⁵

आसिक मासुक है गया, इसक कहावै सोइ।

दादू उस मासूक का, अल्लाहि आसिक होइ॥²⁶

गुरु गोबिन्द सिंह जी के अनुसार:

साचु कहौ सुन लेहु सभै जिन प्रेम किओ तिन ही प्रभु पायो।²⁷

पलटू साहिब भी कहते हैं:

साहिब के दरबार में केवल भक्ति पियार।²⁸

सूफी दरवेश अत्तार का वचन है:

कुफ्र काफ़र रा व दीं दींदार रा, ज़रा ए दर्दे दिल अत्तार रा।²⁹

अर्थात्, काफ़िर को कुफ्र और मोमिन को दीन मुबारिक हो, आशिक को इश्क के दर्द का कण ही काफ़ी है।

एक सूफी फ़कीर कहता है:

लख वरे जे करें इबादत कदे न बणें नमाज़ी।

जे कर प्यार न होया पल्ले रब न होसी राज़ी।³⁰

तुलसी साहिब कहते हैं:

राम राम सभ को कहें, ठग ठाकुर और चोर।

बिना प्रेम रीझे नहीं, तुलसी नन्द किशोर॥³¹

संक्षेप में संसार के सभी दरवेशों और पूर्ण सन्तों-महात्माओं के उपदेश का सार यही है कि नश्वर रचना का प्रेम जीवात्मा को नश्वर और दुःखी जगत् से बाँधकर रखता है और अविनाशी रचनाकार का प्रेम इसे संसार के मोह से छुड़ाकर अमर आनन्द के स्रोत परमात्मा से मिला देता है। यही कारण है कि सभी पूर्ण सन्तों या कामिल फ़कीरों की शिक्षा को प्रेम-मार्ग, भक्ति-मार्ग, प्रेम-भक्ति का मार्ग या इश्के-हकीकी का मार्ग आदि नामों से पुकारा जाता है। सन्तों-महात्माओं की इस अनादि प्रेमधारा को ही सन्त चरनदास जी ने अपने समय में अपने ढंग से पुनः प्रवाहित किया।

परमात्मा की खोज

हम देख चुके हैं कि जीवात्मा परमात्मा से मिलाप करके ही सच्चा सुख और स्थायी शान्ति प्राप्त कर सकती है। आत्मा के अन्दर परमात्मा के प्रति स्वाभाविक आकर्षण भी है। ग्रन्थों-शास्त्रों, सन्तों-महात्माओं की वाणी और सत्संग द्वारा भी हमारे अन्दर परमात्मा से मिलाप का शौक जागता है। इस आकर्षण और शौक के अधीन हम परमात्मा की खोज शुरू कर देते हैं। कभी मन्दिरों, मसजिदों, गिरजा-घरों में उसकी खोज के लिए जाते हैं, कभी उसे जंगलों-पहाड़ों में ढूँढ़ते हैं। कोई ग्रन्थों-शास्त्रों की ओर दौड़ता है, कोई तीर्थों, मूर्तियों में उसे ढूँढ़ता है। प्रत्येक धर्म के अपने-अपने तीर्थ और धर्म-ग्रन्थ हैं। प्रत्येक धर्म को माननेवाले समझते हैं कि हम अपने धर्म-ग्रन्थों से या अपने तीर्थों में परमात्मा को खोज निकालने में सफल हो जायेंगे। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो मूर्तियों, समाधियों आदि में परमात्मा के दर्शन करना चाहते हैं।

सन्त चरनदास जी इस सम्बन्ध में जीव को कुछ महत्वपूर्ण निर्देश देते हैं। आप समझाते हैं कि परमात्मा हरएक के अन्दर और निकट से निकट है। इसलिए उसकी खोज में बाहर भटकने का कोई लाभ नहीं। मनुष्य का अपना शरीर ही वह सच्चा मन्दिर है जिसके अन्दर साक्षात् पारब्रह्म का दर्शन किया जा सकता है। शरीर से बाहर भटकना व्यर्थ है। इससे जीव के हाथ कुछ भी नहीं लगता।

आप सावधान करते हैं: हे माया और अज्ञान के वश हुए बावरे, तू परमात्मा को बाहर और दूर समझकर पर्वतों में क्यों भटकता फिर रहा है? तू सहज-भाव से शरीर रूपी मन्दिर के अन्दर प्रवेश करके जीते-जागते परमात्मा को प्राप्त करने के बदले बाहर जंगलों-पहाड़ों में भटककर क्यों परेशान हो

रहा है ? तुझे पता होना चाहिए कि संसार के सभी सन्तों-महात्माओं ने अपने निजी अनुभव के आधार पर अपने ग्रन्थों-शास्त्रों में इस बात की साक्षी दी है कि जीव केवल अन्दर लिव लगाकर ही अपनी और परमात्मा की पहचान कर सकता है। अन्तर में बैठे परमात्मा की खोज में बाहर भटकना अपने अमूल्य समय को व्यर्थ में नष्ट करना है। मन के कहने में आकर बाहरमुखी हो रहे प्राणी को न सही-गलत, भले-बुरे, पाप-पुण्य की समझ आ सकती है और न ही परमात्मा की सच्ची भक्ति का ज्ञान हो सकता है। केवल अन्तर्मुखी भक्ति ही सच्ची भक्ति है जिसके द्वारा जीव निश्चित रूप से अपने सच्चे घर लौट सकता है :

मंदिर क्यों त्यागै अरु भागै क्यों गिरिवर कूँ,
हरि जी कूँ दूर जानि कल्पै क्यों बावरे।
सब साधन बतायो अरु चारि बेद गायौ,
आपन कूँ आप देखि अन्दर लौ लाव रे ॥
ब्रह्म ज्ञान हिये धरौ बोलते कौ खोज करौ,
माया अज्ञान हरौ, आपा बिसराव रे।
जैहैं जब आप धाप कहा पुन कहा पाप,
कहैं चरनदास तू निश्चल घर आव रे ॥¹

आप कहते हैं कि मुझे जंगलों-पहाड़ों में भटकने तथा तीर्थ-व्रत और वेदों-शास्त्रों में उलझने की आवश्यकता नहीं। मेरा प्रियतम, वह सर्वशक्तिमान परमेश्वर, मेरे अन्दर है और मैं अन्दर ही उसके चरण-कमलों से लिव जोड़कर रखता हूँ :

वह पुरुषोत्तम मेरा यार, नेह लगी टूटै नहिं तार ॥
तीरथ जाउँ न बर्त करूँ, चरन कमल को ध्यान धरूँ ॥
प्राण पियारे मेरेहिं पास, बन बन माहिं न फिरूँ उदास ॥
पढ़ूँ न गीता बेद पुरान, एकहिं सुमिरूँ श्रीभगवान ॥
औरन को नहिं नाऊँ सीस, हरि ही हरि हैं बिस्बे बीस ॥²

कस्तूरी हिरन की नाभि में होती है, पर वह इसकी खोज में जंगल में जगह-जगह भटकता रहता है। इसी प्रकार परमात्मा रूपी कस्तूरी जीव रूपी मृग के अन्दर है, पर वह अज्ञानी मस्तक पर तिलक लगाकर और हाथ में माला लेकर बाहर स्थान-स्थान पर भटकता फिरता है। जब तक वह इस बाहरी खोज को छोड़कर अन्दर की ओर नहीं पलटता, परमात्मा रूपी सार-पदार्थ का मिल पाना कठिन ही नहीं असम्भव है :

माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिम दौरा।
नाभि कैवल कस्तूरि हिरन जंगल भो बौरा ॥³

आप फिर समझाते हैं कि अपने अन्दर खोज करने के बदले तीर्थों के जल और पत्थरों की मूर्तियों में परमात्मा की खोज करना निरी मूर्खता है। तोता सेमल के सुन्दर फलों में चोंच मारता है, पर उसे कुछ नहीं मिलता। उलटे उसकी चोंच उनमें फँस जाती है और वह पछताता है। इसी प्रकार तीर्थों-मूर्तियों, पत्थरों, सरोवरों में परमात्मा की खोज करनेवाले भटकते हुए जीवन गँवा देते हैं, पर उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। आप संकेत करते हैं कि परमात्मा रूपी परम पदार्थ और अमूल्य खजाना केवल उस खोजी को मिलता है जो हर प्रकार की बाहरमुखी खोज त्यागकर सतगुरु रूपी भेदी की सहायता लेकर मन को बाहर से मोड़कर अन्दर की ओर ले जाता है। अन्दर जाकर आत्मा जब अपने सच्चे स्वरूप को पहचानती है, तब उसे बोध होता है कि मैं वही (परमात्मा) हूँ (सोहं), और वह अपने मूल स्रोत परमात्मा से मिलने के लिए आतुर होकर 'सोहं, सोहं' की पुकार करती है :

अपना खोज किया नहिं कबहूँ जल पाहन भटकाया हो।
जैसे फल सेवत सेमर को कीर अधिक पछताया हो ॥
ज्ञान पदार्थ कठिन महानिधि बिन भेदी किन पाया हो।
चरनदास घट सोहं सोहं ता में उलटि समाया हो ॥⁴

आपने उपरोक्त पद में 'सोहं' शब्द का प्रयोग किया है। सोहं का अर्थ है 'मैं वह हूँ।' यह पद उस उच्च रूहानी अवस्था का सूचक है जिसमें आत्मा

मन, इन्द्रियों, कर्मों और संस्कारों के आवरण उतारकर पूरी तरह निर्मल हो जाती है। उस अवस्था में इसे पता चल जाता है कि मेरा और मन-इन्द्रियों का रिश्ता बनावटी और कच्चा था। मेरा असल वह परमात्मा है जिसकी मैं अंश हूँ। इसी को 'मूल की पहचान' या 'आत्मा की पहचान' की अवस्था कहा जाता है जिसके बाद ही परमात्मा की पहचान हो सकती है। सन्त चरनदास जी उपदेश देना चाहते हैं कि आत्मा की पहचान द्वारा परमात्मा की पहचान करने या आत्मा को निर्मल करके परमात्मा से अभेद करने के लिए बाहर भटकते मन को अन्दर लाने की आवश्यकता है।

आप सावधान करते हैं कि मनुष्य-शरीर केवल हाड़-मांस का पुतला नहीं है। मनुष्य की काया एक सुन्दर नगरी है। वर्तमान अवस्था में इस नगरी पर मन और माया के कारिन्दों – काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार – का राज्य है। जो सूरमा ज्ञान की तलवार से इन पाँचों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह जीव से ब्रह्म, आत्मा से परमात्मा बन जाता है। वह ऐसे निश्चल आसन पर विराजमान हो जाता है जिसका कभी नाश नहीं हो सकता। वह अमर पद का अधिकारी बन जाता है। ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ और देवी-देवता उसके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं और मुक्ति दासी बनकर चँवर डुलाती रहती है:

वह राजा सो यह बिधि जानै। काया नगर जीतिबो ठानै ॥
काम क्रोध दोउ बल के पूरे। मोह लोभ अति सावंत सूरै ॥*
बल अपनो अभिमान दिखावै। इन को मारि राह गढ़ धावै ॥
पाँचो प्यादे देहि उठाई। जब गढ़ में कूदै मन लाई ॥†
ज्ञान खड्ग लै दुंद मचावै। कपट कुटिलता रहन न पावै ॥
चुनि चुनि दुरजन हनि सब डारै। रहते सहते सकल बिडारै ॥
मन सँ ब्रह्म होय गति सोई। लच्छन जीव रहे नहिं कोई ॥

* सावंत=सामन्त, नायक, सरदार, योद्धा।

† पाँचो...उठाई=काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार – इन पाँचों को नौकरों के समान उठाकर बाहर कर देता है।

अचल सिंहासन जब तू पावै। मुक्ति खवासी चँवर दुरावै ॥*
आठौ सिद्धि जहाँ कर जोरैं। सौंहीं ताकैं मुख नाहिं मोरैं ॥†
निश्चल राज अमल करै पूरा। बाजै नौबत अनहद तूरा ॥
तीन देव अरु कोटि अठासी। वै सब तेरी करैं खवासी ॥‡

आप काया की तुलना एक किले से करते हैं। इस किले को निर्मल और साफ़ कर जीवात्मा सतलोक के अमर सिंहासन पर विराजमान हो सकती है। परमात्मा के निज-धाम पहुँचकर यह सारी सृष्टि की कर्ता-धर्ता बन जाती है। उस दशा में जीव रूपी लोहा परमात्मा रूपी सोना बन जाता है। वह दास से स्वामी और बूँद से सागर हो जाता है। इस निर्मल, निश्चल अवस्था में हर प्रकार के दुःख-सन्ताप सदा के लिए मिट जाते हैं और परम आनन्द की प्राप्ति हो जाती है:

काया कोट बुहारी जुक्ति सँ, सत्त सिंहासन धरिये ॥‡
ता पर बैठि अमर पदवी लै, राज अभयपुर करिये ॥
सब पर अमल चलै जब तेरो, तो सम और न कोई ॥
सेवक साहब लोहा कंचन, बुंद समुन्दर होई ॥
बिघ्न कलेस आपदा नासै, निर्मल आनंद पावै ॥
चरनदास सुकदेव दया सँ, रहनि गहन समुझावै ॥⁴

आपने काया को महल या रंगमहल भी कहा है। पाँच सखियों (ज्ञानेन्द्रियों) को वश में करके जीवात्मा काया के महल में अपने निर्गुण प्रियतम की सेज पर पहुँच जाती है जहाँ मन रूपी पवन की पहुँच नहीं हो सकती:

टुक रंग महल में आव कि निरगुन सेज बिछी।
जहँ पवन गवन नहिं होय जहाँ जा सुरति बसी ॥⁵

पाँच सखी लेलार हेली काया महल पग धारिये ॥⁶

* खवासी=दासी।

† सौंहीं=सामने।

‡ काया कोट=काया रूपी किला।

महात्मा चरनदास जी उपदेश करते हैं कि शरीर सच्चा ठाकुरद्वारा है जिसमें सभी देवताओं से ऊँचे इष्ट उस परमात्मा का निवास है। जिन देवताओं की मूर्तियाँ बनाकर लोग मन्दिरों में पूजते हैं, वे न दिखायी देते हैं और न ही हृदय में उनका प्रेम पैदा होता है। शरीर रूपी मन्दिर के अन्दर परमात्मा के साक्षात् दर्शन होते हैं, जिससे हृदय में उसका सच्चा प्यार जाग उठता है। वह आदि पुरुष, वह सनातन से सनातन इष्ट, हर घट के अन्दर है, पर कोई विरले बुद्धिमान जीव अन्तर में उसकी खोज करते हैं। परमात्मा की अन्दर खोज करनेवाले प्राणी जीते-जी मन और माया के बन्धन तोड़कर आवागमन के दुःखदायक चक्कर से मुक्त हो जाते हैं। जो अज्ञानी परमात्मा की खोज में बाहर माथा टेकते फिरते हैं, उन्हें कभी कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता :

हे मन आतम पूजा कीजै।
जितनी पूजा जग के माहीं सबहुन को फल लीजै ॥
जो जो देहीं ठाकुरद्वारे तिन में आप बिराजै।
देवल में देवत है परगट आछी बिधि सूँ राजै ॥
त्रैगुन भवन सँभारि पूजिये अनरस होन न पावै।
जैसे कूँ तैसा ही परसौ प्रेम अधिक उपजावै ॥
और देवता दृष्टि न आवै धोखे कूँ सिर नावै।
आदि सनातन रूप सदा हों मूरख ताहि न ध्यावै ॥
घट घट सूझै कोइ इक बूझै गुरु सुकदेव बतावै ॥
चरनदास यह सेवन कीन्हे जिवन मुक्ति फल पावै ॥⁹

आप राग असावरी के एक शब्द 'हम तो आतम पूजा धारी' में विस्तारपूर्वक समझाते हैं कि लोग मन्दिरों में जड़ देवताओं की पूजा करते हैं, मैं अपने अन्तर में विराजमान परम चेतन, जीते-जागते परमेश्वर की पूजा करता हूँ। आप दावे के साथ कहते हैं कि मैं पूरी छान-बीन के बाद इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि यही परमात्मा की भक्ति का सबसे ऊँचा और श्रेष्ठ मार्ग है। मूर्तियों की पूजा तो अन्धी पूजा है। जिस पूजा में इष्ट ही दिखायी न

दे उसे और क्या कहेंगे? वास्तविक पूजा वह है जिसमें इष्ट दिखायी दे और प्रसन्न भी हो। आप कहते हैं कि अपने जीवित परमेश्वर की पूजा के लिए मुझे किसी प्रकार की बाहरी सामग्री की आवश्यकता नहीं। मैं श्रद्धा, प्रेम, मिठास और नम्रता के फल-फूल और चन्दन से अपने इष्ट को रिझाता हूँ। मेरा इष्ट इस भक्ति पर प्रसन्न होकर मुझे पल-पल अपने दर्शनों से निहाल करता है। मेरा प्यारा पल भर के लिए भी मेरी आँखों से दूर नहीं होता और मैं सदैव उसके प्रेम के आनन्द में मग्न रहता हूँ:

हम तो आतम पूजा धारी।
समझि समझि कर निश्चय कीन्ही, और सबन पर भारी ॥
और देवल जहँ धुँधली पूजा, देवत दृष्टि न आवै।
हमरा देवत परगट दीखै, बोलै चालै खावै ॥
जित देखौं तित ठाकुरद्वारे, करों जहाँ नित सेवा।
पूजा की बिधि नीके जानौं, जासूँ परसन देवा ॥
करि सन्मान अस्नान कराऊँ, चन्दन नेह लगाऊँ।
मीठे बचन पुष्प सोइ जानो, ह्वै करि दीन चढ़ाऊँ ॥
परसन करि करि दरसन पाऊँ, बार बार बलि जाऊँ।
चरनदास सुकदेव बतावै, आठ पहर सुख पाऊँ ॥¹⁰

अन्य सन्तों की भाँति सन्त चरनदास जी भी कहते हैं कि परमात्मा शरीर के अन्दर है। पर हम शरीर के कौन-से भाग में उसकी खोज करें? अन्य सन्तों ही की भाँति आपने भी शरीर के आँखों से ऊपर के भाग को 'घट', 'अधर', 'आकाश', 'गगन' आदि कहा है। इसमें बायीं ओर इड़ा, दायीं ओर पिंगला और मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। आप संकेत करते हैं कि परमात्मा रूपी प्रियतम से मिलाप करने की इच्छुक सजनी (आत्मा) को चाहिए कि वह शरीर के आँखों से नीचे के भाग से सिमटकर आँखों से ऊपर के भाग में एकाग्र हो जाये। आँखों के पीछे और मध्य में सुषुम्ना नाड़ी में से प्रियतम के महल को जानेवाला मार्ग है। उस मार्ग पर चलकर ही प्रीतिवन्त नारी अपने पिया से मिल सकती है:

सखि सजनी हे चलौ पिया के पास।
 अरी बौरी सुखमन बाट सोहावनी जी ॥
 सखि सजनी हे गगन मंडल पग धार।
 अरी बौरी पीव मिलै दुख सब हरै जी ॥¹¹

वह परम चेतन, परम सूक्ष्म प्रियतम मन और इन्द्रियों के द्वारा नहीं लखा जा सकता। केवल आत्मा ही उसके दर्शन कर सकती है। इसलिए यह ज़रूरी है कि आत्मा की सुनने की शक्ति सुरत तथा देखने की शक्ति निरत को जगाया जाये। आपका तात्पर्य है कि परमात्मा अन्दर है, पर हम न आँखों से उसका प्रकाश देख सकते हैं और न कानों से उसकी वाणी सुन सकते हैं। ध्यान को अन्तर में आँखों के पीछे और बीच में लाकर आत्मा के नेत्र (निरत) को जगाकर ही अन्तर में प्रियतम परमात्मा का दर्शन किया जा सकता है:

सखि सजनी हे तेरो पिया तेरे पास।
 अरी बौरी इत उत भटकी क्यों फिरै जी ॥
 सखि सजनी हे सुरति निरति करि देख।
 अरी बौरी अपने महल रंग मानिये जी ॥¹²

आप एक अन्य प्रसंग में भी कहते हैं:

अब घर पाया हो मोहन प्यारा ॥
 लखो अचानक अज अबिनासी उघरि गये दृग तारा ॥
 झूमि रह्यो मेरे आँगन में टरत नहीं कहूँ टारा ॥
 रोम रोम हिय माहीं देखो होत नहीं छिन न्यारा ॥
 भयो अचरज चरनदास न पैये खोज कियो बहु बारा ॥¹³

‘दृग’ का अर्थ है नेत्र, आँख। आप कहते हैं कि जब आत्मा की आँख खुल गयी तो वह प्रिय, मनमोहन, अजर, अमर, अविनाशी प्रियतम अन्दर दिखायी देने लग गया। लाखों प्रयत्न करने पर भी उसकी झलक नहीं मिलती

थी, पर अब रोम-रोम में उसका प्रकाश झलकने लगा है। वह हर समय अंग-संग है और कभी पल भर के लिए भी दूर नहीं होता। आप इसी विचार को इस तरह भी वर्णन करते हैं:

अरसठ तीरथ तोहि बिषे, बाहर क्यों भटकाय।
 चरनदास यों कहत हैं, उलटा हो घट आय ॥¹⁴

बहुत-से पूर्ण सन्तों ने आन्तरिक तीसरे मण्डल को, जहाँ पहुँचकर आत्मा पूरी तरह निर्मल होती है, अमृतसर, प्रयाग, त्रिवेणी, मानसरोवर आदि कहा है। इस प्रकार कई सन्तों ने समझाया है कि बाहरी तीर्थ शरीर के बाहरी मैल को भले ही धो सकते हों, पर मन और आत्मा के आन्तरिक मैल को उतारनेवाला तीर्थ जीव के अपने अन्दर ही है। इसलिए सन्त चरनदास जी कहते हैं कि वे अड़सठ तीर्थ, जिनमें स्नान करने से आत्मा निर्मल होकर परमात्मा से मिलने के योग्य बनती है, शरीर के अन्दर हैं। इसलिए आवश्यकता बाहरी तीर्थों पर भटकने की नहीं, मन और आत्मा को उलटाकर अन्दर आँखों के पीछे लाने की है: ‘उलटा हो घट आय।’

आपके शब्दों में इन सबका निष्कर्ष इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि परमात्मा रूपी सच्चा इष्ट घट में है, उस इष्ट से मिलने की राह भी घट में है। घट में शब्द का प्रकाश भरा है और शब्द की ध्वनि भी सदा गूँज रही है। जिस अमृत को पीकर आत्मा को अमर होना है, वह भी अन्दर है; जिस मानसरोवर में स्नान करके आत्मा को काग से हंस, मनमुख से गुरुमुख बनना है, वह भी अन्दर है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार रूपी विकार भी अन्दर हैं तथा शील, क्षमा, सन्तोष, विवेक और नम्रता रूपी सद्गुण भी अन्दर ही हैं। परमात्मा की भक्ति और परमात्मा के प्रेम का स्रोत भी अन्दर है और परमात्मा और आत्मा का निज-धाम, चौथा लोक भी अन्तर में है। आवश्यकता है केवल बाहर से उलटकर अन्तर में आने की: ‘बेगहिं आव उलट घट माहीं।’ जीवात्मा को चाहिए कि बाहरी संसार और शरीर के नौ द्वारों से निकलकर अन्दर आँखों के पीछे आकर परमात्मा के प्रकाश और शब्द में लीन हो जाये। फिर इसे अन्दर ही निज-घर पहुँचकर प्रियतम से मिलाप प्राप्त हो जायेगा:

घट में खेलि ले मन खेला ॥
 सकल पदारथ घट ही माहीं हरि सँ होय जो मेला ॥
 घट में देवल घट में जोती घट में तीरथ सारे ॥
 बेगहिं आव उलट घट माहीं बीतै बरबी न्हारे ॥*
 घट में भरो है मान सरोवर मोती चुगै मराला ॥†
 घट में ऊँचा ध्यान शब्द का सोहं सोहं माला ॥
 घट में बिन सूरज उजियारा राति दिना तहिं सूझै ॥
 अमृत भोजन भोग लगतु है बिरला जन कोइ बूझै ॥
 घट में पापी घट में धर्मी घट में तपसी जोगी ॥
 गुन औगुन सब घट ही माहीं घट में बैद अरु रोगी ॥
 राम भक्ति घट ही में उपजै घट में प्रेम प्रकासा ॥
 सुकदेव कहैं चौथा पद घट में पहुँच चरन हीं दासा ॥¹⁵

* बेगहिं=शीघ्र; बीतै=व्यतीत हो रहा है; बरबी=पर्व का दिन; न्हारे=स्नान कर ले; बेगहिं...न्हारे= ध्यान को उलटाकर शीघ्र अन्दर आ जाओ क्योंकि पर्व पर स्नान का समय बीता जा रहा है।

† मराला=हंस।

गुरु-भक्ति

सतगुरु-भक्ति

नश्वर जगत् का मोह त्यागकर और अविनाशी जगदीश से प्रेम करके जीवात्मा सहज ही परम सुख की अधिकारी बन सकती है। जिस अविनाशी प्रभु से प्रेम करना है, वह दूर नहीं, अपने ही अन्दर है। फिर जीव अनेक युगों से चौरासी की घानी में क्यों पिस रहा है? वह अन्तर में परमेश्वर से मिलाप करके सदा के लिए सुखी क्यों नहीं हो जाता? कारण यह है कि परमात्मा अन्तर में होने पर भी दिखायी नहीं देता। मनुष्य के लिए कठिनाई यह नहीं कि परमात्मा दूर है, कठिनाई यह है कि परमात्मा गुप्त है।

हम देख चुके हैं कि परमात्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म है। वह अलख, अगम, अनन्त और अथाह है। वह निर्गुण, निराकार और निर्लेप है। वह मन, बुद्धि और इन्द्रियों की पहुँच से परे है। ऐसे परमात्मा से जीव प्रेम किस प्रकार कर सकता है? और प्रेम किये बिना वह परमात्मा से मिलाप कैसे कर सकता है?

हम पढ़ते और सुनते अवश्य हैं कि परमात्मा सत्य है, अमर है, अविनाशी है। वह सर्वशक्तिमान ही नहीं, सर्वव्यापक भी है। पर हमारे लिए ये केवल कहने-सुनने की बातें हैं, कोरा विश्वास है, क्योंकि हमें अन्दर या बाहर कहीं भी परमात्मा दिखायी नहीं देता। इसके विपरीत, जिस जगत् को हम नश्वर, असत्य, छल, भ्रम या सपना कहते हुए नहीं थकते, वह जीती-जागती असलियत दिखता है। संसार की वस्तुएँ और शक्लें साफ दिखायी देती हैं। हम इनके संगी-साथी हैं। हम इनसे मिलते-जुलते हैं। ये हमारे सुख-दुःख, हर्ष-शोक में सम्मिलित होते हैं। हम इनके लिए जीते और मरते हैं, ये भी

हमारे लिए जीते और मरते हैं। इनकी संगति में रहते हुए इनसे इतना मोह पैदा हो जाता है कि हम इनके बिना अपनी या संसार की कल्पना ही नहीं कर सकते। जब तक इस मोह का जादू समाप्त नहीं होता, परमात्मा से प्रेम कर पाना हमारे वश की बात नहीं।

वह सर्वज्ञ प्रभु, वह दयालु पिता, मनुष्य के इस संकट का जानकार है। वह जानता है कि रचना के मोह में बँधा जीव कभी स्वयं उसके स्तर पर उठकर उससे प्रेम नहीं कर सकता। इसलिए उसे स्वयं जीव के स्तर पर आकर उसके प्रेम का आधार बनना पड़ता है।

माता बच्चे से प्रेम करके उसे अपने साथ प्रेम करना सिखाती है। पर्वत की चोटी पर रहनेवाला व्यक्ति पर्वत से नीचे उतरकर, वहाँ बैठे व्यक्ति से प्रेम करके उसे अपने साथ पर्वत पर ले जा सकता है। सात समुद्रों के पार से आया व्यक्ति हमारे हृदय में अपना और अपने देश का प्रेम पैदा करके हमें भी अपने साथ अपने देश ले जा सकता है। अलख, अगम, निर्गुण, निराकार परमेश्वर ही साकार, सगुण साधु या सन्त-सतगुरु के रूप में प्रत्यक्ष प्रकट होकर जीव के प्रेम और श्रद्धा का आधार बनता है और उसे अपने साथ निज-धाम ले जाता है। इस सत्य को चरनदास जी अपनी वाणी में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:

यों कहैं हरि जी दया निधान, संत हमारे जीवन प्रान ॥
 संत चलैं जहँ संग हिं जाँव, संत दियो सो भोजन खाँव ॥
 संत सुलावैं जित रहूँ सोय, संत बिना मेरे और न कोय ॥
 संत हमारे माई बाप, संतहि को मन राखूँ जाप ॥
 संत को ध्यान धरौं दिन रैन, संत बिना मोहिं परै न चैन ॥
 संत हमारी देही जान, संतहिं की राखूँ पहिचान ॥¹

तात्पर्य यह है कि पूर्ण सन्त साक्षात् परमेश्वर का रूप होते हैं। वे परमेश्वर के प्यारे होते हैं और परमेश्वर उनका प्यारा होता है। सन्त परमेश्वर के ध्यान में लीन रहते हैं और परमेश्वर सदा सन्तों को ध्यान में रखता है। सन्त परमेश्वर की रजा में राजी रहते हैं और परमेश्वर सन्त की रजा में

राजी रहता है। इसलिए केवल कोई पूर्ण सन्त ही जीवात्मा के प्रेम, श्रद्धा और विश्वास का पात्र हो सकता है।

एक जलता हुआ दीपक अनेक दीपकों को जला सकता है। प्रेम, प्रेम को जगाता है। जब साधु या सन्त-सतगुरु के रूप में प्रकट हुआ परमेश्वर जीवात्मा से प्रेम करता है तो उसके अन्दर सोया हुआ परमेश्वर का प्रेम अकस्मात् जाग उठता है। चिरकाल से बिछुड़ा प्रियतम साक्षात् सामने आकर खड़ा हो जाये तो रोम-रोम से प्रेम के झरनों का फूट पड़ना स्वाभाविक ही है। अग्नि के सामने रखी मोमबत्ती पिघलेगी नहीं तो क्या करेगी? चुम्बक के सामने आई सूई अपने आप चुम्बक की ओर खिंची चली जायेगी। संसार में आने से पूर्व जीवात्मा परमात्मा से अभेद थी। वह परमात्मा को जानती है। अब उसे केवल उसकी पहचान नहीं रही। जब परमात्मा साधु-रूप में प्रत्यक्ष सामने आकर खड़ा हो जाता है तो आत्मा के अन्दर अनन्त जन्मों की दबी प्यार की लहरें अपने आप उठने लगती हैं। इस प्रकार गुरु-रूप में प्रकट हुए प्रत्यक्ष परमेश्वर का प्रेम निर्गुण, निराकार परमेश्वर के प्रेम में बदल जाता है।

नदी में से निकली नहर देखने में तो नदी से अलग लगती है, पर वास्तव में नदी से मिली रहने के कारण नदी की सब शक्तियों से परिपूर्ण होती है। पानी में मिश्री के घुल जाने पर देखने में तो वह पानी ही लगता है पर वास्तव में वह मिश्री के सभी गुणों से भरपूर होता है। पूर्ण साधु देखने में तो मनुष्य लगते हैं पर वास्तव में वे परमेश्वर के गुणों से पूर्ण होते हैं।

सन्त-सतगुरु निराकार प्रभु का साकार रूप होता है। पूर्ण साधु नर-हरि या हरि-नर होता है। वह एक ही समय में मनुष्य के स्तर पर भी होता है और परमात्मा के स्तर पर भी। इसलिए केवल वही जीवात्मा को मनुष्य के स्तर से परमात्मा के स्तर पर ले जा सकता है। सन्त चरनदास जी कहते हैं:

सबस दीन्हो भक्त को, देख हमारो नेह।

निर्गुन से सर्गुन भयो, धरी पसू की देह ॥^{*2}

* निर्गुन...देह=भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिए भगवान विष्णु ने नरसिंह रूप धारण कर लिया।

फिर कहते हैं:

मेरे जन मो में रहैं, मैं भक्तन के माहिं।

मेरे अरु मम संत के, कुछ भी अंतर नाहिं ॥³

गुरु नानक देव जी का कथन है:

साध रूप अपना तनु धारिआ ॥ महा अग्नि ते आपि उबारिआ ॥⁴

पलटू साहिब का कथन है:

संत हमारे प्रान रहैं मैं साथ में। तीन लोक सब रहै संत के हाथ में ॥⁵

साध हमारी आतमा, हम साधन के दास।

पलटू जो दोइति करै, होय नरक में बास ॥⁶

हुजूर स्वामी जी महाराज कहते हैं:

संत रूप होय जग में आया। अपना भेद आप उन गाया ॥⁷

सतगुरु का शिष्य के प्रति जो अगाध प्रेम होता है उसे प्रकट करने के लिए सन्त चरनदास जी ने अति सुन्दर काव्य-शैली का प्रयोग किया है। आप कहते हैं:

पितु सँ माता सौ गुना, सुत को राखै प्यार।

मन सेती सेवन करै, तन सँ डाँट अरु गार ॥

माता सँ हरि सौ गुना, जिन से सौ गुरुदेव।

प्यार करै औगुन हरै, चरनदास सुकदेव ॥⁸

आप वास्तव में यह संकेत देना चाहते हैं कि सतगुरु के हृदय-सागर में शिष्य के प्रति प्रेम की विशाल तरंगें सदा उठती रहती हैं। सतगुरु शिष्य का उसके माता-पिता से भी बड़ा हितैषी होता है। आप एक अन्य उदाहरण देते हुए कहते हैं:

काँचे भाँडे सँ रहै, ज्यों कुम्हार को नेह।

भीतर सँ रच्छा करै, बाहर चोटै देह ॥⁹

कुम्हार कच्चे बर्तनों को सुन्दरता से गढ़ना चाहता है। वह बाहर से उस पर चोट मारता है, पर अन्तर में अपने हाथ का सहारा दिये रहता है। उसका कार्य निर्दयतापूर्ण नहीं, प्रेम और दयापूर्ण होता है। सतगुरु जीव की गढ़त अवश्य करते हैं, पर प्रेम और दया के साथ ऐसा करते हैं।

सतगुरु की प्रेममय और दयामय दृष्टि से जीव का कायाकल्प हो जाता है। वह विषय-वासना की गन्दगी खानेवाले कौए (मनमुख) से बदलकर सतगुरु-भक्ति, नाम-भक्ति और प्रभु-भक्ति का मोती चुगनेवाला हंस (गुरुमुख) बन जाता है। सतगुरु दया-मेहर करके उसकी दिव्य-दृष्टि खोल देते हैं और वह सूक्ष्म आन्तरिक जगत् की वस्तुओं को देखने लग जाता है। जब वह आन्तरिक असलियत को प्रत्यक्ष देख लेता है तो स्वाभाविक तौर पर उसका झूठे और नाशवान जगत् का मोह, सच्चे और अविनाशी परमात्मा के प्रेम में बदल जाता है। इससे यह पता चलता है कि सतगुरु का प्रेम केवल परमात्मा के प्रति प्रेम को ही नहीं जगाता, बल्कि सच्चे ज्ञान को भी प्रकट करता है:

दृष्टि पड़ै गुरुदेव की, देखत करै निहाल।

औरै मति पलटै तबै, कागा होत मराल ॥

.....

जब सदगुरु किरपा करै, खोलि दिखावै नैन।

जग झूठा दीखन लगै, देह परे की सैन ॥¹⁰

माता बालक के गुण-अवगुण नहीं देखती। उसका स्वभाव ही प्रेम करना है। सतगुरु भी शिष्य पर अकारण सहज भाव से प्रेम की वर्षा करता रहता है।

सन्त चरनदास जी ने सन्त-सतगुरु की सेवा, पूजा, भक्ति और प्रेम को ही परमेश्वर की सेवा, पूजा, भक्ति और प्रेम का आधार माना है। निराकार परमेश्वर जब भी मिलता है, अपने साकार भक्तों के माध्यम से मिलता है। वह जब भी जीव से प्रेम करता है, पूर्ण सन्त के माध्यम से करता है:

मोकों बस कियो जो चाहै, भक्तन की करि सेव।
उन में ह्वै कर मैं मिलूँ, करूँ बहुत ही हेव ॥¹¹

आप समझाते हैं कि गुरु के बिना शताब्दियों तक की गयी परमात्मा की भक्ति निष्फल जाती है, जब कि सतगुरु के माध्यम से दो-चार क्षणों अर्थात् अत्यन्त थोड़े समय के लिए की गयी सेवा और भक्ति भी रसीले अमृतमय फल प्रदान करती है। यही वेदों और अन्य धर्म-ग्रन्थों का भी सुविचारित मत है और इसी गुरु-सेवा और गुरु-भक्ति का उपदेश सन्त चरनदास जी भी देते हैं:

हरि सेवा कृत सौ बरस, गुरु सेवा पल चार।
तौ भी नहीं बराबरी, बेदन कियो बिचार ॥¹²

गुरु सेवा सबहुन पर भारी। समझ करो सोई नर नारी ॥¹³

सन्त चरनदास जी स्वयं अपने बारे में बताते हुए कहते हैं:

दूसर के बालक हुते, भक्ति बिना कंगाल।
गुरु सुकदेव कृपा करी, हरिधन किये निहाल ॥
.....
बलिहारी गुरु आपने, तन मन सदके जाँव।
जीव ब्रह्म छिन में कियो, पाई भूली ठाँव ॥¹⁴

सतगुरु की सेवा और पूजा अन्य हर प्रकार की सेवा और पूजा, अर्चना और आराधना से श्रेष्ठ है। गुरु-सेवा के प्रताप से सभी विघ्न और पाप दूर हो जाते हैं और जीव आवागमन के चक्कर से छुटकारा पा लेता है:

गुरु सेवा सँ बिघन बिनासै। दुरमति भाजै पातक नासै ॥
गुरु सेवा चौरासी छूटै। आवागवन का डोरा टूटै ॥
गुरु सेवा से जम दंड न लागे। ममता मरे भक्ति में जागे ॥
गुरु सेवा सँ प्रेम प्रकासै। उनमत होय मिटै जग आसै ॥¹⁵

इस भक्ति का सबसे ऊँचा और पवित्र फल यह मिलता है:

गुरु सेवा परमात्म दरसै। तिरगुन तज चौथा पद परसै ॥
श्री सुकदेव बतायो भेवा। चरनदास कर गुरु की सेवा ॥¹⁶
गुरु ईश्वर गुरु ईश रीझि गुरु राम बतावैं।
गुरु काटैं यम फाँस विपति सब अघै नशावैं ॥
गुरु देवन के देव भेव ब्रह्मादि लखावैं।
गुरु भवसागर तार पार वह लोक बसावैं ॥¹⁷

गुरु-भक्ति का सहज मार्ग त्यागकर जप-तप, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, तीर्थ-व्रत, योग-ज्ञान आदि किसी भी साधन का सहारा लेनेवाले प्राणी कभी भी प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य को पूरा करने में सफल नहीं हो सकते। वे सदा अज्ञान के अँधेरे में ठोकें खाते रहते हैं। जब तक वे दृढ़तापूर्वक सतगुरु की भक्ति नहीं करते, वे न कभी आवागमन के दुःखदायक चक्कर से छूट सकते हैं और न ही प्रभु-प्राप्ति का परम सुख प्राप्त कर सकते हैं:

गुरु सेवा जाने नहीं, पाँव न पूजे धाय।
योग दान जप तप कियो, सभी अफल ह्वै जाय ॥
योग दान जप तीरथ न्हाना। गुरु सेवा बिन निष्फल जाना ॥
गुरु सेवा बिन बहु पछितैहो। फिर फिर यम के द्वारे जैहो ॥
गुरु सेवा बिन अति दुख पैहो। जग में पशु दारिद्री ह्वै हो ॥
गुरु सेवा बिन कौन उतारे। भवसागर सँ बाहर डारे ॥
गुरु सेवा बिन जड़ कहा करि हैं। काकी नाव बैठि करि तरि हैं ॥
गुरु सेवा बिन कछु नहिं सरि है। महाअंध कूप में परि है ॥
गुरु सेवा बिन घट अँधिआरा। कैसे प्रकटै ज्ञान उज्यारा ॥
नरक निवारण गुरु शुक्रदेवा। चरण दास करि तिनकी सेवा ॥¹⁸

सतगुरु-भक्ति में मस्त मनुष्य के जीवन का आधार सतगुरु बन जाता है। सतगुरु ही उसका तन, मन, प्राण और आत्मा बन जाता है। उसका जीवन-सर्वस्व सतगुरु ही हो जाता है। उसके लिए सतगुरु ही आदि पुरुष की प्राप्ति

का साधन होता है। इसलिए वह सतगुरु की सेवा, भक्ति और प्रेम को ही परमात्मा की सेवा, भक्ति और प्रेम मानता है और सतगुरु के भाणे को ही परमात्मा का भाणा स्वीकार करता है :

गुरु बिन मेरे और न कोय, जग के नाते सब दिये खोय ॥
गुरु ही मात पिता अरु बीर, गुरु हो सम्पति जीव सरीर ॥
गुरु ही जाति बरन कुल गोत, जहाँ तहाँ गुरु संगी होत ॥
गुरु ही तीरथ बर्त हमार, दीन्हे और धरम सब डार ॥
गुरु ही नाम जपौं दिन रैन, गुरु कूँ ध्यान परम सुख दैन ॥
गुरु के चरन कमल कर बास, और न राखूँ कोई आस ॥
जो कुछ चाहैं गुरु ही करैं, भावै छाँह धूप में धरैं ॥
आदि पुरुष गुरु ही को जानूँ, गुरु ही मुक्ती रूप पिछानूँ ॥
चरनदास के गुरु सुकदेव, और न दूजा लागै लेव ॥¹⁹

आप बड़े ही स्पष्ट और जोरदार शब्दों में उपदेश करते हैं :

गुरु को तजि हरि सेव कभी नहिं कीजिये ।
बेमुख को नहिं ठौर नरक में दीजिये ॥
.....
गुरु को पूरण जान जु ईश्वर रूप ही ।
सब कुछ गुरु को जान ये बात अनूप ही ॥
हरि गुरु एकहि जानि यह निश्चय लाइये ।
दुबिधा ही का बोझ जु बेग बगाइये ॥
धर्म पिता गुरु जान जु दृढ़ता राखिये ।
लाज सकुच करि कान ढीठता नाखिये ॥
मेरा यह उपदेश हिये में धारियो ।
गुरु चरणन मन राखि सेव तन गारियो ॥
जो गुरु झिड़कें लाख तो मुख नहिं मोड़ियो ।
गुरु सों नेह लगाय सबन सों तोड़ियो ॥
जो शिष्य साँचा होय तो आपा दीजियो ।

चरणदास की सीख समझ कर लीजियो ॥
मोकों श्रीशुकदेव यही समझाइया ।
वेद पुराणन माहिं जु यों ही गाइया ॥²⁰

गुरु नानक साहिब का फ़रमान है :

विणु प्रीती भगति न होवई विणु सतिगुर न लगै पिआरु ॥²¹

गुरु अमरदास जी कहते हैं :

गुरु सेवा जुग चारे होई ॥ पूरा जनु कार कमावै कोई ॥
.....
सतिगुरु सेवहि से महापुरख संसारे ॥ आपि उधरे कुल सगल निसतारे ॥²²

गुरु रामदास जी का कथन है :

जो गुरु कउ जनु पूजे सेवे सो जनु मेरे हरि प्रभ भावै ॥
हरि की सेवा सतिगुरु पूजहु करि किरपा आपि तरावै ॥²³

गुरु-भक्ति में मस्त रहने और गुरु को परमात्मा समझने का भाव चरनदास जी की ही तरह गुरु अर्जुन देव जी ने भी बड़े ही जोरदार और खुले शब्दों में प्रकट किया है। वे कहते हैं :

गुरु गुरु गुरु करि मन मोर ॥ गुरु बिना मै नाही होर ॥
गुरु की टेक रहहु दिनु राति ॥ जा की कोइ न मैटे दाति ॥
गुरु परमेश्वर एको जाणु ॥ जो तिसु भावै सो परवाणु ॥
.....
गुरु मेरी पूजा गुरु गोबिंदु ॥ गुरु मेरा पारब्रह्म गुरु भगवंतु ॥
गुरु मेरा देउ अलख अभेउ ॥ सरब पूज चरन गुरु सेउ ॥²⁴

कबीर साहिब जी फ़रमाते हैं :

कबीरु कसतूरी भइआ भवर भए सभ दास ॥
जिउ जिउ भगति कबीर की तिउ तिउ राम निवास ॥²⁵

हुजूर स्वामी जी महाराज कहते हैं :

क्या हिन्दू क्या मुसलमान, क्या ईसाई जैन।

गुरु भक्ती पूरन बिना, कोई न पावे चैन ॥

पिरथम सीढ़ी है गुरु भक्ति। गुरु भक्ति बिन काज न रत्ती ॥

.....

गुरु भक्ती दृढ़ के करो, पीछे और उपाय।

बिन गुरु भक्ति मोह जग, कभी न काटा जाय ॥²⁶

गुरु-भक्ति पर जोर देने का कारण बताते हुए स्वामी जी महाराज ने स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य-रूप में दिखायी देनेवाला गुरु वास्तव में परमात्मा होता है। वे कहते हैं :

गुरु को तुम मानुष मत जानो। वे हैं सत्पुरुष की जान ॥

जैसे तैसे मन समझाओ। धर परतीत करो उन ध्यान ॥²⁷

गुरु की मौज रहो तुम धार। गुरु की रक्षा सम्हालो यार ॥

यही सत्पुरुष यही करतार। लगावें तोहि इक दिन पार ॥²⁸

सूफ़ी फ़कीरों ने इश्क़े-मजाज़ी को इश्क़े-हक़ीक़ी का आधार माना है। वे मुर्शिद से मिलाप को ही सत्य की प्राप्ति का दर्जा देते हैं, सतगुरु-भक्ति को प्रभु-भक्ति मानते हैं। साई बुल्लेशाह लिखते हैं :

जिचर न इश्क़-मजाज़ी लागे, सूई सीवे न बिन धागे।²⁹

सतगुरु की आवश्यकता

सन्त चरनदास जी ने अन्य कई तरह से परमात्मा की प्राप्ति के लिए सतगुरु की आवश्यकता और महत्त्व बताने का प्रयत्न किया है। आप समझाते हैं कि हम अपने घर में दबे खजाने के वारिस अवश्य होते हैं, पर जब तक कोई जानकार हमें उस खजाने का भेद न दे, हम उससे कोई लाभ नहीं उठा सकते। इसी प्रकार परमात्मा हमारे अन्दर है, पर गुप्त है। जब तक

सतगुरु रूपी भेदी गुप्त परमात्मा को प्रकट करने की युक्ति नहीं सिखाता, हमें व्यावहारिक तौर पर परमात्मा का कोई लाभ नहीं हो सकता। आप कहते हैं कि परमात्मा रूपी प्रियतम हमारे अन्तर में अवश्य है, परन्तु पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पच्चीस प्रकृतियों ने उसके ऊपर पर्दा डाल रखा है। आप कहते हैं कि चाहे अनगिनत जन्मों तक पूजा-पाठ, दान-पुण्य, तीर्थ-व्रत, वेदों-शास्त्रों के पठन-पाठन आदि में लगे रहें, पर गुरु रूपी बिचौलिए या मध्यस्थ के बिना परमात्मा से मिलाप कर पाना सम्भव नहीं। जिसने अन्तर में परमात्मा के नाम का अमृत पिया है, वही उस अमृत को पीने की युक्ति सिखा सकता है। गुरु की कृपा के बिना न अन्तर का वज्र-कपाट या परमात्मा के महल का दरवाज़ा खुल सकता है और न ही परमात्मा रूपी प्रियतम के दर्शन हो सकते हैं :

गुरु दूती बिन सखी पीव न देखो जाय।

भावें तुम जप तप करि देखो भावें तीरथ न्हाय ॥

पाँच सखी पच्चीस सहेली अति चातुर अधिकाय।

मोहिं अयानी जानि कै मेरो बालम लियो लुकाय ॥

बेद पुरान सबै जो ढूँढ़े स्तुति इस्मृति सब धाय।

आनि धर्म औ क्रिया कर्म में दीन्हो मोहिं भरमाय ॥

भटकत भटकत जन्मै हारी चरन सखी गहे आय।

सुकदेव साहब किरपा करिकै दीन्हो अलख लखाय ॥

देखत हीं सब भ्रम भय भागे सिर सूँ गई बलाय।

चरनदास जब प्रीतम पायो दरसन कियो अघाय ॥³⁰

आप एक अन्य शब्द में कहते हैं कि कुएँ के ठिकाने का पता होना चाहिए, इसमें से पानी निकालने की युक्ति आनी चाहिए और पानी निकालने का साधन भी होना चाहिए। दरवाज़े को लगे ताले की चाबी के बिना इसके अन्दर रखे पदार्थ तक पहुँचना असम्भव है। इसी प्रकार बिना सतगुरु की सहायता के शरीर रूपी कुएँ के अन्दर परमात्मा के नाम रूपी अमृत को पीना और शरीर रूपी महल में लगे वज्र-कपाट को खोलकर परमात्मा तक पहुँचकर उनका दर्शन करना असम्भव है :

सुधा रस कैसे पैसे हो।
 कूप कहाँ केहि ठौर है कैसे करि लहिये हो॥
 नेजू कित कित गागरी कित भरने वाली हो।*
 कैसे खुलै कपाट हीं को ताला ताली हो॥
 कौन समय किस ग्रह बिषै अँचवै किन माहीं हो।
 तुमसे जानैं भेद कूँ अरु बहुतक नाहीं हो॥
 पीकर किस कारज लगै अरु स्वाद बतावो हो।
 फल या का कहि दीजिये सब खोलि जतावो हो॥
 सुकदेव सूँ पूँछन करै यह चरनहिं दासा हो।
 किरपा करिकै कीजिये मेरि पूरन आसा हो॥³¹

* नेजू=रस्सी।

गुरु की पहचान

सन्त चरनदास जी ने अपनी वाणी में पूरे सतगुरु के लक्षणों का उल्लेख किया है। नकली गुरुओं से जीवों को सावधान करने के लिए आप यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि किसी भी व्यक्ति को गुरु-रूप में अपना लेने से काम नहीं बनता, सतगुरु का पूरा होना जरूरी है। हम केवल गुरु धारण करने के लिए गुरु धारण नहीं करते, बल्कि परमात्मा से मिलाप करने के लिए ऐसा करते हैं। परमार्थ की राह पर चलनेवाले कई बुद्धिमान व्यक्ति भी इस नियम के प्रति सचेत नहीं हैं कि केवल परमात्मा से अभेद हो चुका पूर्ण गुरु ही हमारा परमात्मा से मिलाप करवा सकता है। विद्या के क्षेत्र में मैट्रिक, बी.ए., एम.ए. की योग्यता वाले या पीएच.डी की उपाधि वाले अध्यापक हैं। जिस अध्यापक की जितनी निजी प्राप्ति है, उतनी ही प्राप्ति उसका शिष्य कर सकता है। परमार्थ के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के गुरु हैं। अनेक गुरु केवल बाहरमुखी कर्मकाण्ड तक सीमित हैं। अन्दर जानेवाले गुरु विरले हैं। अन्तर में पाँच प्रमुख रूहानी मण्डल हैं। जिस मण्डल तक किसी महात्मा की अपनी गम्यता या पहुँच है, उस मण्डल तक ही वह अपने शिष्यों या सेवकों को ले जा सकता है। हम देख चुके हैं कि सन्त चरनदास जी ने चौथे लोक, चौथे धाम, सतलोक, अमर धाम, अखण्ड मण्डल तक ले जानेवाले गुरु की ही महिमा की है। आपने सतलोक को बेगमपुरा या अटपटा देश भी कहा है। आपने उसे अलख, अगम, अमर लोक भी कहा है। केवल उस मण्डल से आया या उस मण्डल तक पहुँच रखनेवाला पूर्ण पुरुष ही जीव का सच्चा सतगुरु हो सकता है। आप सावधान करते हैं कि जीव को गुरु के आगे तन, मन, धन और प्राण अर्पण कर देने हैं, गुरु की

शरण बिना शर्त स्वीकार करनी है, मन और आत्मा को उसके हुक्म के अधीन कर देना है, इसलिए गुरु धारण करने से पहले उसकी पूरी पहचान कर लेना आवश्यक है :

सतगुरु के लक्षण कहे, ताकूँ ले पहिंचान।

निरख परख कर दीजिये, तन मन धन अरु प्राण ॥¹

आप समझाते हैं कि अधूरा गुरु स्वयं अतृप्त और प्यासा होता है, वह किसी अन्य की प्यास कैसे बुझा सकता है? अधूरा गुरु अन्धे के समान है। जब उसे स्वयं मार्ग दिखायी नहीं देता तो वह किसी दूसरे को मार्ग कैसे दिखा सकता है! न उसे स्वयं प्रभु रूपी प्रियतम के मिलाप का आनन्द प्राप्त हुआ है और न ही वह किसी दूसरे के लिए इस आनन्द की प्राप्ति का साधन बन सकता है। अधूरे गुरु के शिष्य उस गुरु की ही भाँति भवसागर में गोते खाते रहते हैं। केवल पूरा गुरु ही अपने शिष्यों को पार उतार सकता है :

समझ रस कोइक पावै हो।

गुरु बिन तपन बुझै नहीं, प्यासा नर जावै हो ॥

बहुत मनुष्य ढूँढ़त फिरें, अँधरे गुरु सेवैं हो।

उनहूँ को सूझै नहीं औरन कहँ देवैं हो ॥

अँधरे को अँधरा मिलै नारी को नारी हो।

ह्वै फल कैसे होयगा समझैं न अनारी हो ॥

गुरु सिष दोऊ एक से एकै ब्यवहारा हो।

गये भरोसे डूबि कै वै नरक मँझारा हो ॥

सुकदेव कहैं चरनदास सँ इन का मत कूरा हो।

ज्ञान मुक्ति जब पाइये मिलै सतगुरु पूरा हो ॥²

गुरु नानक जी कहते हैं : 'काचे गुर ते मुकति न हूआ ॥'³ कबीर साहिब ने भी सावधान किया है :

जा का गुरु है आँधरा, चेला निपट निरंध।

अंधे अंधा ठेलिया, दोऊ कूप परंत ॥⁴

सन्त चरनदास जी के अनुसार कामिल मुर्शिद या पूरा गुरु वह है जो परम पद को प्राप्त कर चुका हो, जो साहिब से मिलकर साहिब का रूप हो गया हो। पूरा गुरु वह है जिसके दर्शन से ही जीवात्मा के अन्दर गुरुमुखों या फ़क़ीरों वाले गुण पैदा हो जायें, और जिसकी दया से शिष्य काल रूपी बलशाली शत्रु पर विजय प्राप्त कर ले। पूर्ण गुरु मन और माया पर विजय प्राप्त कर अन्तर में प्रकाशमय हो चुका होता है। वह ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण होता है। ऐसा कामिल मुर्शिद अलगरज (निःस्वार्थ), बेधड़क और बेपरवाह होता है :

ऐसा हो जब कामिल कहिये जब कमाल पद पावै।

साहब मिल साहब हो दरसै ज्यों जल बुन्द समावै ॥

जा केवल दीदार किये से नादिर होय फ़क़ीर।

मारै काल क़लन्दर कर गहि दरद लिये धरि धीर ॥

ऐसा हो जब पीर कहावै मान मनी सब खोवै।

चरनदास वह ज़मीन रौशन पाँय पसारे सोवै ॥⁵

सच्चे मुर्शिद (गुरु) का हृदय समुद्र-सा गहरा और विशाल होता है। वह केवल बाहरी रूप में ही शिष्य को अपनी शरण में नहीं लेता, बल्कि उसके अन्तर में भी बैठ जाता है। सच्चे मुर्शिद के अन्दर सैकड़ों काबा और मक्का बसे होते हैं। ऐसे मुर्शिद के दीदार में अनगिनत हज और रोज़ों का फल सम्मिलित होता है :

मुर्शिद मेरा दिल दरियाई दिल दे अंदर खोजा।

उस अंदर में सत्तर काबे मक्के तीसौ रोज़ा ॥⁶

कामिल मुर्शिद के अन्दर चौदह तबक़, अनेक गुरु, पीर, औलिया समाये होते हैं। उसके अन्दर दिन-रात शब्द की बाँग होती रहती है और वह सदा खुदा की दरगाह में मस्त रहता है। उसके अन्दर खुदा का नूर बरसता है :

चौदह तबक़ औलिया जिसमें भेंट न होहि जुदाई।*
शब्द के बाँग निमाज़ में ठाढ़े दरशन जहाँ खोदाई॥⁷

सच्चा मुर्शिद आसा-मनसा और खुदी या अहं का पर्दा उठा चुका होता है। उसके अन्दर शब्द सदा धुनकारें देता रहता है। उसका नूर घट-घट में समाया होता है और उसके अन्दर सच्चे खुदा या प्रभु का तख़्त सजा होता है :

हवा न हिर्स खुदी नहिं खूबी अनल हक्क जहँ बानी।
बे चिराग़ रौशन सब खाने तिस में तख़्त सुभानी॥⁸

सन्त चरनदास जी के अनुसार पूर्ण साधु सदा निर्गुण नाम में लीन रहता है। वह सदा हरि के रंग में रंगा रहता है। उसका ध्यान पल-भर भी हरि के चरणों से दूर नहीं होता। वह पराये तन, पराये धन और परायी निन्दा से दूर रहता है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार को मारकर शील, क्षमा, सन्तोष, विवेक और नम्रता धारण किये होता है। पूर्ण साधु निर्भय और निर्वैर होता है। वह काग-वृत्ति त्यागकर हंस-वृत्ति धारण किये होता है। वह माया की सीपियाँ नहीं, नाम के मोती चुगता है। आप उपदेश करते हैं कि ऐसे सतगुरु को पाकर उसके प्रेम में अपने आप को सराबोर कर देना चाहिए :

परख सखी सोइ साध जो आपा ना थपै।
मन के दोष मिटाय नाम निर्गुन जपै॥
पर निन्दा पर नारि द्रव्य नाहीं हरै।
जिन चालन हरि दूर बीच अंतर पारै॥
छिन नहिं बिसरै राम ताहि निकटै तकै।
हरि चरचा बिन और बाद नाहीं बकै॥
झूठ कपट छल भगल ये सकल निवारिये।†
जत सत सील संतोष छिमा हिय धारिये॥

* तबक़=मण्डल या लोक।

† भगल=छल, धोखेबाज़ी।

काम क्रोध मद लोभ बिडारन कीजिये।
मोह ममता अभिमान अकस तजि दीजिये॥
सब जीवन निबैर त्याग बैराग लै।
तब निर्भय ह्वै संत भाँति काहू न भै॥
काग करम सब छोड़ि होय हंसा गती।
तृस्ना आस जलाय सोई साधू मती॥
जग सँ रहै उदास भोग चित ना धरै।
जब रीझै करतार दास अपनो करै॥
कहैं गुरु सुकदेव जो ऐसा हूजिये।
चरनहिं दास बिचारि प्रेम में भीजिये॥⁹

पूर्ण साधु वह है जिसने मन और इन्द्रियों को साध लिया है अर्थात् वश में कर लिया है। वह विषय-वासना, आसा-मनसा, मोह-ममता का दास नहीं होता। वह आवागमन के बन्धन से मुक्त होता है। ऐसा महात्मा समदर्शी और आत्मदर्शी होता है। वह धर्म, जाति, क्रौम, मज़हब, मुल्क, पद-पदवी, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष में ही नहीं, भले और बुरे में भेद नहीं करता। ऐसा गुरु ही सब दुःखों और दुविधाओं को दूर कर सकता है :

इन्द्रिजित निरवैरता, निरमोही निरबन्ध।
ऐसे गुरु की शरण सँ, मिटे सकल दुख द्वन्द॥¹⁰

सतगुरु सत्यवादी और शीलवन्त होता है। वह सहज समाधि की अवस्था प्राप्त कर चुका होता है। वह ज्ञान की साक्षात् मूर्ति और हर प्रकार के भ्रम, शंका, अज्ञान, अविद्या और भय को मिटानेवाला होता है :

सतवादी अरु शीलवन्त, सुहृदै अरु योगीश।
निश्चल ध्यान समाधि में, सो गुरु बिस्वेबीश॥
भरम निवारण भय हरण, दूर करण सन्देह।
गुठिया खोलै ज्ञान की, सो सतगुरु कर लेह॥¹¹

आपने पूरे गुरु की महिमा करते हुए कहा है :

सुने अनहद नादा ।¹²

परख सखी सोइ साध, जो आपा ना थपै ।

मन के दोष मिटाय, नाम निर्गुन जपै ॥¹³

पाँचन को एकै करै अनहद में रोक ।¹⁴

शब्द के बाँग निमाज में ठाढ़े दरशन जहाँ खोदाई ॥¹⁵

हवा न हिर्स खुदी नहिं खूबी अनल हक्क जहँ बानी ।¹⁶

आपने यह भी कहा है :

शब्द गुरु को राखि हिरदय, तौ दगा नहिं खात ।¹⁷

सारांश यह है कि शब्द गुरु है और गुरु शब्द का प्रकट रूप होता है। पूरा गुरु शब्द-स्वरूपी, शब्द-अभ्यासी होता है। वह स्वयं शब्द की साधना करता है और अपनी शरण में आनेवाले जीवों को भी शब्द की कमाई की युक्ति सिखाता है। वह न स्वयं किसी प्रकार की बाहरमुखी शरीरत या करनी का पाबन्द होता है और न ही कभी किसी दूसरे को किसी प्रकार के कर्मकाण्ड या भेष में उलझाता है।

आपके निम्नलिखित पदों से स्पष्ट है कि पूर्ण गुरु का एकमात्र अचूक साधन और शस्त्र शब्द है। मन, माया, काल, विषय-विकार, आशा-तृष्णा आदि हर प्रकार की बाधाओं के नाश के लिए एकमात्र साधन शब्द है और पूर्ण गुरु केवल इसी का अभ्यास सिखाता है। वह प्रेम, वैराग्य, भक्ति और ज्ञान की प्राप्ति के लिए शब्द को आधार बनाता है। वह शब्द के बल से ही अज्ञानता के क्रिले को गिराता है, शब्द के बाण से ही शिष्य के मन को बेधता है और शब्द के शस्त्र से ही पाँच विकारों को मारने की युक्ति सिखाता है। आपका यह निश्चित सिद्धान्त है कि पूरा गुरु शब्द-स्वरूपी, शब्द-अभ्यासी और शब्द-मार्गी होता है। वह किसी के धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और

पारिवारिक मामलों में हस्तक्षेप न करके सब जीवों को केवल शब्द-साधना की ही युक्ति सिखाता है :

सतगुरु मेरा शूरमा, करे शब्द की चोट ।

मारै गोला प्रेम का, ढहे भरम का कोट ॥

.....

मैं मिरगा गुरु पारधी, शब्द लगायो बाण ।

चरणदास घायल गिरे, तन मन बींधे प्राण ॥

.....

सतगुरु शब्दी तेग है, लागत दो कर देहि ।

पीठ फेर कायर भजे, शूरा सन्मुख लेहि ॥

.....

सतगुरु शब्दी तीर है, तन मन कीयो छेद ।

बेदरदी समझै नहीं, विरही पावे भेद ॥¹⁸

पूरा गुरु परोपकारी और सच्चा दाता होता है, स्वार्थी भिक्षुक नहीं। वह विशुद्ध दया और उपकार की भावना से जीवों की सेवा और सहायता करता है, किसी लोभ या निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए नहीं। सन्त चरनदास जी ने अपनी अमूल्य परमार्थी सेवा और शिक्षा के लिए कभी किसी से एक कौड़ी भी स्वीकार नहीं की। नाम के अमूल्य धन की न कभी कोई क्रीमत लगा सकता है, और न क्रीमत दे ही सकता है। पूर्ण महात्मा इस अमूल्य धन को बिना किसी से कुछ लिए विशुद्ध परोपकार की भावना से अपने शिष्यों को देते हैं। सन्त-सतगुरु सदा देकर प्रसन्न होते हैं, वे किसी से कभी कुछ लेते नहीं। सन्त चरनदास जी भी किसी से कुछ लेने के लिए कभी तैयार नहीं होते थे। आप सावधान करते हैं कि संसार में गुरुओं की कमी नहीं है। सच तो यह है कि गली-गली कनफूँके गुरु लोगों को कंठी देते फिरते हैं। वे वास्तव में धन और मान-प्रतिष्ठा के भूखे होते हैं। ऐसे कनफूँके गुरु जीव को कुछ भी लाभ पहुँचा नहीं सकते। अधूरे गुरु सदा लेने के लिए तैयार रहते हैं, जब कि पूर्ण गुरु सदा देने के लिए तत्पर रहते हैं। सच्चे गुरु सदा जीव को परमात्मा के नाम का अमोलक धन 'नाम' मुफ्त में देते

हैं। वे विशुद्ध परोपकार की भावना से शिष्य की सुरत को नाम से जोड़कर परमात्मा के चरण-कमलों में पहुँचा देते हैं और उसे आवागमन के बन्धनों से सदा के लिए मुक्त कर देते हैं:

कनफूँका गुरु जगत का, राम मिलावन और।
 सो सतगुरु को जानिये, मुक्ति दिखावन ठौर॥
 गलिया रे गुरु फिरत हैं, घर घर कंठी देत।
 और काज उनकूँ नहीं, द्रव्य कमावन हेत॥
 गुरु मिलते ऐसे कहैं, कछू लाय मोहिं देहु।
 सतगुरु मिल ऐसे कहैं, नाम धनी का लेहु॥¹⁹

वक्त का गुरु

सन्त चरनदास जी की वाणी से यह स्पष्ट है कि आपने अपने सतगुरु तथा वक्त या समय के देहधारी सतगुरु की महिमा की है। समय के पति के बिना सन्तान की, समय के अध्यापक के बिना विद्या की और समय के राजा के बिना न्याय की आशा नहीं की जा सकती। आज की तपन दूर करने के लिए आज उगे शीतल चन्द्रमा की, आज का अन्धकार दूर करने के लिए आज निकले सूर्य की और इसी प्रकार आज का हमारा अज्ञान दूर करने के लिए आज के गुरु या ज्ञानी की आवश्यकता है। न निराकार परमात्मा हमारा गुरु हो सकता है और न ही परमात्मा में समा चुके पिछले समय में पैदा हुए महात्मा ही हमारे काम आ सकते हैं। अगर परमात्मा हमारा गुरु हो सकता तो संसार के इतिहास में कभी किसी को गुरु-रूप में आने की आवश्यकता ही नहीं होती। पिछले समय में जो पूर्ण महात्मा हुए हैं वे आज हमसे उतने ही दूर हैं जितना स्वयं परमात्मा है। अगर पूर्व समय में हुए और परमात्मा में समा चुके महात्मा हमारे प्रेम का आधार हो सकते हैं, तो स्वयं परमात्मा हमारे प्रेम का आधार क्यों नहीं हो सकता? सन्त चरनदास जी कहते हैं:

बेद रूप गुरु होहिं कि कथा सुनावहीं।

पंडित को धरि रूप कि अर्थ बतावहीं॥

.....

गंगा सम गुरु होय पाप सब धोवहीं।

सूरज सम गुरु होय तिमिर हरि लेवहीं॥

गुरु ही को करि ध्यान नाम गुरु को जपौ।

आपा दीजै भेंट पुजन गुरु ही थपौ॥¹

गुरु अर्जुन देव जी की वाणी में आता है :

साध रूप अपना तनु धारिआ ॥

महा अगनि ते आपि उबारिआ ॥²

हरि का सेवकु सो हरि जेहा ॥ भेदु न जाणहु माणस देहा ॥

जिउ जल तरंग उठहि बहु भाती फिरि सललै सलल समाइदा ॥³

हुजूर स्वामी जी महाराज फरमाते हैं :

राधास्वामी धरा नर रूप जगत में। गुरु होय जीव चिताये ॥⁴

उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि पिछले गुरुओं की टेक लेने से हमारा उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकता :

सब मिल करते पिछली टेका। वक्त गुरु का खोज न नेका ॥

बिन गुरु वक्त भक्ति नाहिं पावे। बिना भक्ति सतलोक न जावे ॥

वक्त गुरु जब लग नहिं मिलई। अनुरागी का काज न सरई ॥⁵

साई बुल्लेशाह कहते हैं :

मौला आदमी बण आया। ओह आया जग जगाया ॥⁶

सतगुरु की आवश्यकता का एकमात्र कारण यह है कि जीव सीधा परमात्मा से प्यार नहीं कर सकता। वह अपने आप को प्रभु में विलीन कर चुके देहधारी सन्त-सतगुरु के माध्यम से ही ऐसा कर सकता है। सन्त चरनदास जी ने अपने विचार को पूरे विश्वास और स्पष्टता के साथ प्रकट करते हुए यह कहा है कि गुरु का दिया हुआ नाम ही जपना चाहिए और ध्यान भी गुरु का ही करना चाहिए। आप एक अन्य प्रसंग में कहते हैं कि जो प्राणी रात के पिछले पहर जागकर सतगुरु के दिये हुए नाम का जाप नहीं करता, वह कभी भी पापों के बन्धन को नहीं तोड़ सकता :

जागै ना पिछले पहर, करै न गुरुमत जाप।

मुँह फारे सोवत रहैं, ताकूँ लागै पाप ॥⁷

जब तक गुरु सामने आकर नाम नहीं देता, हम उसके नाम का जाप कैसे कर सकते हैं ? जब तक हम सतगुरु के दर्शन नहीं करते, उसका ध्यान कैसे कर सकते हैं ? गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं, 'बिनु पेखे कहु कैसो धिआनु ॥'⁸ जिस महात्मा को देखा नहीं, उसका ध्यान भला कैसे हो सकता है ?

कल्पना द्वारा बनाया गया किसी महात्मा का स्वरूप काल्पनिक चित्र के समान होता है। चित्र प्रकाशमान सूर्य का ही क्यों न हो, अन्धकार को प्रकाश में नहीं बदल सकता। चित्र या मूर्ति कितनी भी सजीव क्यों न हो, वह जड़ है जो कभी चेतन को नहीं खींच सकती। जड़ वस्तु का ध्यान तो ध्यान करनेवाले को भी जड़ बना सकता है। महात्मा का वास्तविक दर्शन चाहे दीपक के समान ही हो, अन्धकार का नाश करने और आत्मा में प्रकाश का संचार करने योग्य होता है।

इस सन्दर्भ में यह समझ लेना भी आवश्यक है कि पूर्ण सन्तों की वाणी में साधु-संग या सत्संग की जो महिमा की गयी है, वह केवल समय के साक्षात् सन्त-सतगुरु के प्रसंग में ही सार्थक हो सकती है। संगति या सोहबत वास्तविक होती है, काल्पनिक नहीं। हम विचार, खयाल या संकल्प द्वारा न परमात्मा रूपी सत्य की संगति कर सकते हैं और न ही कल्पना द्वारा पूर्व समय में हुए किसी पूर्ण सन्त की। केवल जीवित पुरुष की ही संगति की जा सकती है। सन्त चरनदास जी उपदेश देते हैं कि दुःखों से मुक्त होकर परम सुख को प्राप्त करने के लिए, हर प्रकार के पापों को नष्ट करनेवाले नाम की प्राप्ति के लिए, परमात्मा के प्रेम का आनन्दमय प्याला पीने के लिए तथा परमात्मा के दर्शन करने के लिए प्रभु के भक्तों की संगति करना आवश्यक है :

करौ नर हरि भक्तन को संग।

दुख बिसरै सुख होय घने ही तन मन पलटै अंग ॥

हैं निष्काम मिलो संतन सों नाम पदारथ मंग।

जिहि पाये सब पातक नाशैं उपजै ज्ञान तरंग ॥

जो वे दया करैं तेरे पर प्रेम पिलावैं भंग।

जाके अमल दरश हैं हरि को नैनन आवे रंग ॥
 उनके चरण शरण ही लागो सेवा करो उमंग।
 चरणदास तिनके पग परसन आस करत हैं गंग ॥⁹

आप समझाते हैं कि सन्तों की संगति में प्रभु-भक्ति और प्रभु-प्रेम का अद्भुत वातावरण होता है। सन्तों की लिव सदा परमपिता के चरण-कमलों से जुड़ी रहती है। वे स्वयं प्रभु के प्रेम के रंग में रंगे रहते हैं और दूसरों को भी परमात्मा के सुमिरन, ध्यान, भक्ति, पूजा और प्रेम का उपदेश देते हैं। उनकी संगति में जीव को अपने दोषों और विकारों का ज्ञान होता है, परमात्मा से मिलाप के मार्ग में आनेवाली रुकावटों का पता चलता है और उनकी संगति पाकर मन अपने आप परमात्मा के प्रेम, उसकी भक्ति तथा भजन-सुमिरन में मग्न होता जाता है। सत्संग के प्रताप से एक दिन जीव की बाहरमुखी वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और उसे अन्तर में परमात्मा के प्रकाश का दीदार हो जाता है :

वह मेला सोइ भला है साधो, जहाँ सन्तों का भेला।
 जिनके रहै सदा हरि चरचा, सुमिरैं राम सुहेला ॥
 कथा कहैं अरु करैं कीर्तन, ज्ञान ध्यान समुझावैं।
 सोवत जागत बैठे चलते, गोविन्द के गुण गावैं ॥
 बोलैं अमृतवाणी सब सों, कुमति कुबुद्धि छुटावैं।
 हरि की भक्ति साधु की संगति, यह उपदेश बतावैं ॥

 निशि दिन आनंदरूप दिवाली, सदा बसन्त सोहायो।
 प्रेम महोत्सव नित ही उत्सव, सबै ठाट मन भायो ॥
 या विधि सों मन मगन होय करि, भजन करैं अति भारी।
 चरणदास शुकदेव कहत हैं, घट में हो उजियारी ॥¹⁰

सन्त चरनदास जी हमें संगति की महिमा बताते हुए कहते हैं कि सत्संग द्वारा कबीर और रविदास आदि भी जिन्हें अज्ञानी लोग निम्न जाति से सम्बन्धित समझते थे, साधु-संगति द्वारा भवसागर से पार हो गये। आप

समझाते हैं कि जैसे जगह-जगह का गन्दा पानी भी गंगा की संगति से गंगाजल बन जाता है, काठ की बनी नाव की संगति पाकर लोहा भी नदी को पार कर जाता है, पारस के स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता है, उसी प्रकार परमात्मा के भक्तों की संगति में आकर अनेक पापियों का उद्धार हो जाता है :

जैसे ठौर ठौर को पानी। सुरसरि मिलि भयो गंगारानी ॥
 जैसे काठ लोह को तारै। ऐसे संगति मिलि भया पारै ॥
 जैसे पारस लोहा लागा। सो वह कंचन भयो सुभागा ॥
 जात जुलाहा अरु रैदासा। संगति साधु हुआ परकासा ॥¹¹

इसी प्रसंग में यह भी भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि सन्त चरनदास जी और दूसरे सन्तों की वाणी में 'गुरु-दया', 'गुरु-कृपा', 'गुरु-प्रसाद', 'गुरु की दात' आदि शब्दों से समय के देहधारी सतगुरु की दया, कृपा, प्रसाद या दात का ही अर्थ सूचित होता है। सन्त चरनदास जी की वाणी के आधे से अधिक पदों में सतगुरु की दया का गुणगान किया गया है। प्रायः प्रत्येक लम्बी रचना सतगुरु की दया की स्तुति से शुरू होती है और केवल भक्ति-भाव की वाणी में ही नहीं, अष्टांग योग आदि से सम्बन्धित वाणियों में भी देहधारी सतगुरु की दया, सहायता और पथ-प्रदर्शन पर जोर दिया गया है।

आप अपनी रचना *अष्टांग योग वर्णन* में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के बाद सावधान करते हैं कि योग के आठ अंगों की सिद्धि के लिए देहधारी गुरु की निजी शिक्षा और अगुआई आवश्यक है। केवल पढ़-सुन कर योग का अभ्यास करने से साधक अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है और उसे योग में कभी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। देहधारी गुरु के निर्देश और आज्ञा में रहकर ही योगाभ्यास में सफलता प्राप्त की जा सकती है :

पोथी माहीं देखि करि, करे जु कोई योग।
 तन छीजे सिधि ना भवे, देही आवे रोग ॥

देखि देखि गुरु सों करे, ले आज्ञा रहु संग।

सिद्ध होय साधन सबै, कछु न आवे भंग॥¹²

सन्त चरनदास जी कहते हैं कि न योगी योग द्वारा, न ध्यानी ध्यान द्वारा और न पण्डित विद्या और ग्रन्थों-शास्त्रों के पठन-पाठन द्वारा अलख, अगम परमात्मा से लिव जोड़ सकते हैं। जपी, तपस्वी, संन्यासी, भेषधारी और ब्रह्मचारी भी केवल अपनी ही कोशिश से प्रभु के देश में नहीं पहुँच सकते। जिन वेद, पुराण आदि धर्म-ग्रन्थों के आसरे जप-तप आदि किये जाते हैं, वे ग्रन्थ तो परमात्मा को न जान पाने के कारण परमात्मा के विषय में 'यह नहीं, वह नहीं' (नेति, नेति) कहकर रह जाते हैं। उनके सहारे परमात्मा से भला कैसे मिलाप हो सकता है? प्रभु-प्रेम में रँगें सन्त-सतगुरु के बिना प्रभु का दर्शन करना और उसके परम धाम में पहुँचना असम्भव है। चरनदास जी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि निगुरा परमात्मा के पास पहुँचने का मार्ग नहीं पा सकता। एकमात्र सतगुरु की दया से ही परमात्मा के पास पहुँचा जा सकता है:

योगी योग युक्ति करि हारे, ध्यानी ध्यान लगावैं।

हरिजन गुरु की दया बिना, यों दृष्टि नहीं दरशावैं॥

पंडित मुंडित चुंडित दूढ़ैं, पढ़ि सुनि वेद पुरानैं।

जासों वे सब पायो चाहैं, सो वे नेति बखावैं॥

जंगम यती तपी संन्यासी, सबही वह दिशि धावैं।

सुरति निरति की गम जहँ नाहीं, वे कहौ कैसे पावैं॥

देश अटपटा बेगम नगरी, निगुरे राह न पाया।

चरणदास शुकदेव गुरु ने, किरपा करि पहुँचाया॥¹³

भाई गुरदास जी की वाणी है:

वेद गिरंथ गुरु हटि है जिसु लागि भवजल पारि उतारा॥

सतिगुर बाझु न बुझीऐ जिचरु धरे न प्रभु अवतारा॥¹⁴

प्रत्यक्ष गुरु को शास्त्र के सहारे की आवश्यकता नहीं होती, पर शास्त्र को गुरु के सहारे की जरूरत होती है। गुरु अपना आधार स्वयं है, पर शास्त्र

को अनुभवी महात्मा के आधार की जरूरत होती है। जब तक परमात्मा गुरु के रूप में प्रकट होकर सहायता नहीं देता, न वेदों-शास्त्रों में प्रकट ज्ञान की समझ आ सकती है और न जीवात्मा को परम सत्य का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

मान लें, हम प्राचीन काल में हुए किसी महात्मा को गुरु धारण कर लेते हैं। पहली बात यह है कि जब तक हमारे अपने समय का कोई महात्मा किसी को अपना शिष्य स्वीकार नहीं करता, शिष्य से उसका सम्बन्ध क्रायम नहीं होता। किसी महात्मा को कल्पना में सतगुरु धारण करनेवाला व्यक्ति अपने आप को उस महात्मा के अधीन करने के स्थान पर, उस महात्मा को अपनी मर्जी के अधीन करने का प्रयत्न करता है। दूसरी बात यह है कि अगर केवल हमारी धारणा, कल्पना या इच्छा से कोई महात्मा हमारा सतगुरु बन सकता है, तो इसमें 'गुरु की कृपा', 'गुरु की दया', 'सतगुरु के प्रसाद', 'सतगुरु के दान' के क्या अर्थ रह जाते हैं? कृपा और दान या प्रसाद में देनेवाले की प्रसन्नता और उसका अनुग्रह आवश्यक है। महात्मा अपनी प्रसन्नता और अपनी मौज से जीवों को चुनकर उन पर दया करते हैं। भिखारी माँग सकता है, पर दात तो दाता की मर्जी और प्रसन्नता से ही मिल सकती है। गुरु अर्जुन देव जी की वाणी के प्रत्येक शब्द में सतगुरु की दया, सतगुरु के प्रसाद की बात कही गयी है। आप कहते हैं:

गुर परसादी नामु धिआए॥¹⁵

गुर परसादी त्रिकुटी छूटै चउथै पदि लिव लाई॥¹⁶

गुर प्रसादि प्रभु पाईऐ॥¹⁷

गुर परसादि परम पदु पाइआ॥¹⁸

प्राचीन काल के महात्मा को या परमात्मा को गुरु मानना प्रत्येक पूर्ण सन्त की वाणी में वर्णित सतगुरु की दया-मेहर और प्रसाद के अंग को खारिज करने के समान है। सन्त चरनदास जी की वाणी में सतगुरु की दया-मेहर की इतनी व्यापक चर्चा है कि अनायास ही उनकी वाणी में से इस भाव को

व्यक्त करनेवाले सैकड़ों प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। नीचे दिये गये कुछ उदाहरणों पर ध्यान देने से इस सम्बन्ध में कोई शंका नहीं रह जाती कि आपने अपने समय के देहधारी सतगुरु की दया को ही मुक्ति और प्रभु-प्राप्ति का आधार माना है :

गुरु सुकदेव करी जब किरपा अनुभौ बुद्धि प्रकासी।
चौथे पद में आनन्द भारी चरनदास जहाँ बासी ॥¹⁹

गुरु सुकदेव दया करें हेली चरनदास लहै देस।
बिन सतगुरु नहिं पावई जो नाना कर भेस ॥²⁰

गुरु सुकदेव करें जब किरपा ऐसो नगर दिखावैं।
चरनदास वा पग के परसे आवा गवन नसावैं ॥²¹

गुरु सुकदेव दया करें री हेली मोहिं मिलावैं लाल ॥²²

आप कहते हैं :

हरि रूठैं कुछ डर नहीं, तू भी दे छुटकाय।
गुरु को राखौ सीस पर, सब बिधि करें सहाय ॥²³

कबीर साहिब का कथन है :

गुरु हैं बड़ गोबिन्द तें, मन में देखु बिचार।
हरि सुमिरै सो वार है, गुरु सुमिरै सो पार ॥²⁴

गुरु रामदास जी कहते हैं :

जो गुरु कउ जनु पूजे सेवे सो जनु मेरे हरि प्रभ भावै ॥
हरि की सेवा सतिगुरु पूजहु करि किरपा आपि तरावै ॥²⁵

यहाँ इस बात को समझ लेना चाहिए कि सन्तों ने सतगुरु को परमात्मा से बड़ा क्यों कहा है। जब सतगुरु और परमात्मा एक हैं तो एक के बड़ा

और दूसरे के छोटा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। सागर की लहर सागर से बड़ी नहीं होती। सतगुरु को परमात्मा से बड़ा कहना वास्तव में एक काव्यात्मक अतिशयोक्ति है जिसके द्वारा सन्तजन एक महत्त्वपूर्ण परमार्थी सत्य को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। हर सन्त-सतगुरु पहले स्वयं शिष्य रहा है; उसका हृदय सतगुरु के प्रति प्रेम और श्रद्धा से ओत-प्रोत होता है। सतगुरु की कृपा से ही वह परमार्थ में हर प्रकार की सफलता को प्राप्त कर पाया है। सतगुरु की कृपा से ही उसे परम पुरुष का साक्षात्कार हुआ है। इसलिए वह सतगुरु के प्रति प्रेम और श्रद्धा में इस तरह खो जाता है कि उसे सतगुरु के सिवाय कुछ सूझता ही नहीं। गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं :

गुरू गुरू गुरु करि मन मोर ॥ गुरू बिना मै नाही होर ॥²⁶

सन्त चरनदास जी की परम शिष्या सहजोबाई कहती हैं :

राम तजुँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ ॥²⁷

वह इसका कारण बताती हुई कहती हैं :

हरि ने जन्म दियो जग माहीं। गुरु ने आवागवन छुटाहीं ॥
हरि ने पाँच चोर दिये साथा। गुरु ने लई छुटाय अनाथा ॥
हरि ने कुटँब जाल में गेरी। गुरु ने काटी ममता बेरी ॥
हरि ने रोग भोग उरझायौ। गुरु जोगी कर सबै छुटायौ ॥
हरि ने कर्म भर्म भरमायौ। गुरु ने आतम रूप लखायौ ॥
हरि ने मो सँ आप छिपायौ। गुरु दीपक दै ताहि दिखायौ ॥
फिर हरि बंधमुक्ति गति लाये। गुरु ने सबही भर्म मिटाये ॥
चरनदास पर तन मन वारूँ। गुरु न तजुँ हरि कूँ तजि डारूँ ॥²⁸

हुजूर स्वामी जी महाराज की वाणी है :

आतम परमातम नहिं मानूँ। अक्षर निःअक्षर नहिं जानूँ ॥
सत्तनाम जानूँ न अनामी। लिख ग्रन्थ सब करत बखानी ॥

सब को करूँ प्रनाम जोड़ कर। पर कोई नहीं सतगुरु समसर॥
 सतगुरु भेद दिया इक इक का। तब जाना इन सब का ठेका॥
 सतगुरु सब का भेद बखानें। अब किसको गुरु से बढ़ जानें॥²⁹

सन्तों-महात्माओं का भाव है कि जब तक सतगुरु नहीं मिले थे, ईश्वर, परमेश्वर, सत्पुरुष, अनामी हमारे लिए कल्पना-मात्र थे। हमने शास्त्रों में उनकी महिमा अवश्य पढ़ी थी पर हमें उनका निजी अनुभव नहीं था। सतगुरु की शरण प्राप्त हुई तो इन सबके साक्षात्कार का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। सतगुरु के मिलने से पहले परमात्मा हमारे अन्तर में ही था, परन्तु हम न तो जन्म-मरण के बन्धन तोड़ पाये, और न ही निज-घर वापस पहुँच पाये। सतगुरु का मिलाप सत्पुरुष के मिलाप का साधन और आधार बना। इसलिए हम बार-बार सतगुरु को नमस्कार करते हैं।

नाम

नाम की महिमा

सतगुरु परमात्मा का रूप है। इसलिए सतगुरु के मिलने से अन्तर में परमात्मा के लिए प्रेम की लहरें उठती हैं। पर अनन्त जन्मों के कर्मों और संस्कारों के कारण मन बहुत मलिन हो चुका है। इसलिए सतगुरु से मिलने के बाद भी यह पहले की ही तरह इन्द्रियों के भोगों, विषय-विकारों की ओर आकर्षित होता है। जब तक मन की मलिनताओं और माया के प्रभावों से मुक्त होकर आत्मा पूरी तरह निर्मल नहीं होती, इस पर परमात्मा के प्रेम का पूरा रंग नहीं चढ़ता और यह वापस जाकर परमात्मा से मिलाप नहीं कर सकती। मन की मलिनताओं को दूर करने और आत्मा को निर्मल बनाने के लिए सन्त-सतगुरु इसे परमात्मा के नाम से जोड़ता है। सन्त-सतगुरु बाहर स्थूल रूप में जीवात्मा के प्रेम का आधार बनता है और अन्दर शब्द-रूप में भी यही अपना कार्य करता है।

सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि मन की मलिनता को धोनेवाला, कर्मों और संस्कारों को नष्ट करनेवाला, आत्मा को हर प्रकार के तापों और सन्तापों से मुक्त करनेवाला और इसके अन्दर परमात्मा का प्रेम जगाकर इसे वापस निज-धाम ले जानेवाला नाम ही है। आप फ़रमाते हैं कि कर्मों के नाश, मन और आत्मा की शुद्धि और परमात्मा की प्राप्ति के लिए हम जितने भी साधन अपनाते हैं, उनमें नाम सबसे अधिक शक्तिशाली और कारगर है। नाम बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष, अमीर-गरीब सभी को पार उतारने का साधन है। नाम ही जीवात्मा को चौरासी के बन्धनों से आज़ाद करके परमात्मा से

मिलाने का एकमात्र साधन और मार्ग है। सतगुरु अपनी शरण में आनेवाले जीवों को दया-मेहर करके परमात्मा के नाम से जोड़ते हैं :

राम नाम चारौं वेद नाम को कहियत है टीको।
पाप ताप दुख द्वंद्व कूँ मेटन कूँ नीको ॥
.....
एजी जप तप संयम योग में सबहुन पर भारी।
नाम लिये सब ही तरैं बालक नर नारी ॥
जो हिरदै दृढ़ करि गहै हरि दर्शन पावै।
चौरासी बन्धन कटैं आवागमन नशावै ॥
गुरु शुकदेव दया करी हरि नाम बतायो।
चरणदास आधीन के निश्चय मन आयो ॥¹

नाम ही समस्त रूहानी करनी का आधार है। यह साधारण जीवों को भी दिव्यता प्रदान करके परमात्मा बनानेवाला शिरोमणि साधन है :

सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माहिं ॥²
अधिकी ऊँचा नाम है, सब करनी का जीव।
अष्टादस अरु चारि का, मथि कर काढ़ा घीव ॥³
नीचन कूँ ऊँचा करै, ऊँचन कूँ करै देव।
देवन कूँ हरि हीं करै, रहै न दूजा भेव ॥⁴

नाम के दो भेद

सन्त चरनदास जी ने परमात्मा के दो प्रकार के नाम का उल्लेख किया है। एक परमात्मा के अनन्त गुणों के वर्णन के लिए प्रयुक्त किया जानेवाला, लिखने, पढ़ने और बोलने में आनेवाला वर्णात्मक नाम है जिसे सिफ़ाती या वर्णात्मक नाम भी कहा जाता है। दूसरा अन्दर, आँखों के पीछे, तीसरे तिल पर सूक्ष्म ध्वनि और प्रकाश के रूप में प्राप्त होनेवाला धुनात्मक या सच्चा नाम है।

आपने अपने एक पद में 108 नामों से परमात्मा की महिमा की है। आप इस प्रसंग के आरम्भ में कहते हैं :

कहा कहि तोहि पुकारूँ करतार हमारे।
नाम अनन्त अन्त नहिं जाको बहु गुण रूप तिहारे ॥⁵

अर्थात्, परमात्मा को उसके अनेक गुणों के आधार पर अनगिनत नामों से पुकारा जा सकता है लेकिन परमात्मा स्वयं इन सभी नामों से परे अनामी है। परमात्मा के सभी नाम हमें प्रिय हैं, पर परमात्मा को किसी भी विशेष नाम के बन्धन में बाँधकर नहीं रखा जा सकता।

आप इसी प्रसंग में एक सौ आठ नामों से परमात्मा का गुणगान करने के बाद कहते हैं :

गुरु शुकदेव मंत्र निज दीन्हो राम नाम ततसारा।
चरणदास निश्चय सो जप करि उतरो भव जल पारा ॥⁶

आपके एक सौ आठ नामों में रघुबर और सीतापति राम भी गिनती में आये हैं पर 'राम-नाम' से आपका आशय परमात्मा के निज नाम, ज्ञाती नाम या धुनात्मक नाम से है। इस सच्चे नाम, धुनात्मक नाम या राम-नाम को आपने सतगुरु का 'निज-मन्त्र' कहा है। इसे आपने 'सार पदार्थ' या 'परम तत्त्व' कहा है और इसी को भवसागर से पार उतरने का वास्तविक साधन माना है। यह कृत्रिम नाम नहीं, जिसे किसी मनुष्य ने अपनी इच्छानुसार किसी गुण के आधार पर या यों ही रख दिया हो। यह रूहानी मण्डलों में अपने आप गूँजनेवाला नाम है जिसे चरनदास जी 'शुद्ध' नाम या निरक्षर नाम कहते हैं। अपनी शरण में आनेवाले को सतगुरु यह नाम प्रदान करता है जिसके द्वारा जीवात्मा रूपी लहर परमात्मा रूपी समुद्र में समाकर उससे एकाकार हो जाती है :

अब मैं सतगुरु सरनै आयो ॥
बिन रसना बिन अच्छर बानी ऐसो हि जाप सुनायो ॥
.....
वा कूँ जपै जन्म सोइ जीतै सो मैं सुद्ध बतायो ॥
चरनदास सुकदेव दया सौं सागर लहरि समायो ॥⁷

वर्णात्मक नाम अनेक हैं और वे समय और स्थान से सम्बन्धित हैं, पर सच्चा नाम, निज नाम, ज्ञाती नाम, जिसे आपने राम-नाम कहा है, एक है और अमर है, अविनाशी है। वर्णात्मक या वर्णनात्मक नाम लिखने, पढ़ने व बोलने में आते हैं, पर सच्चा नाम या धुनात्मक नाम लिखने, पढ़ने या बोलने का विषय नहीं।

अलख, अगम, निराकार, राम, रहीम, अल्लाह, खुदा, कृष्ण, केशव, गिरधारी, मुरारी, परमात्मा, परमेश्वर, वाहेगुरु, राधास्वामी आदि सब सिफ़ाती नाम समान रूप से प्यार और आदर के योग्य हैं पर वास्तविक महत्त्व उस नाम का है जिसे सन्त-सतगुरु जीव को अपनी शरण में लेते समय सुमिरन के लिए देते हैं। इस नाम के सुमिरन से ही सुरत आँखों के पीछे एकाग्र होकर धुनात्मक या सच्चे नाम को पकड़ सकती है। इसे सन्त चरनदास जी ने 'गुरु का नाम' या 'गुरुमत जाप' कहा है:

गुरु ही को करि ध्यान नाम गुरु को जपौ।⁸

जागै ना पिछले पहर, करै न गुरुमत जाप।

मुँह फारे सोवत रहैं, ताकूँ लागै पाप॥⁹

आप कहते हैं:

गुरु शुकदेव दियो है सुमिरण।¹⁰

कबीर साहिब कहते हैं:

सिमरि सिमरि हरि हरि मनि गाईऐ॥

इहु सिमरनु सतिगुर ते पाईऐ॥¹¹

तात्पर्य यह है कि सुमिरन सदा सतगुरु के दिये हुए नाम का करना चाहिए। सतगुरु द्वारा दिये परमात्मा के नाम के सुमिरन में सतगुरु की शक्ति समायी होती है। यह सुमिरन बहुत शीघ्र अपना प्रभाव प्रकट करता है। यह सुमिरन उस जामन के समान है जो दूध को दही बना देता है जिससे हम

घी निकाल सकते हैं। यह सुमिरन बन्दूक में से निकली गोली के समान है जिसका प्रभाव अचूक होता है। सतगुरु का दिया सुमिरन वह शक्तिशाली सूक्ष्म हथियार है जो आन्तरिक मण्डलों में शिष्य की आत्मा की हर प्रकार की विरोधी शक्तियों से रक्षा करता है। यह सुमिरन ही जीवात्मा को आन्तरिक धुनमय नाम से मिलाने का साधन है।

सच्चा नाम

सन्त चरनदास जी ने अपनी वाणी में अन्दर आँखों के पीछे ध्वनि और प्रकाश के रूप में प्राप्त होनेवाले सच्चे या धुनात्मक नाम की अपार महिमा का गुणगान किया है। अन्य सन्तों की भाँति आप निम्नलिखित शब्द में सच्चे या धुनात्मक नाम को राम-नाम कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं। यह नाम सर्वव्यापक है। रचना के कण-कण और घट-घट में रमे हुए होने के कारण ही सन्तों ने इसे राम-नाम कहा है। आपने भी इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है, 'आरति रमता राम की कीजै'।¹² इस शब्द में आप सविस्तार समझाते हैं कि इन्द्रियों के विकारों, आसा-मनसा, मोह-ममता, कर्मों और संस्कारों को नष्ट करने का साधन नाम है। वेदों, उपनिषदों और अन्य कई धर्म-ग्रन्थों में नाम को भवसागर से पार उतरने का एकमात्र साधन स्वीकार किया गया है। पूजा-अर्चना, जप-तप, दान-पुण्य आदि जैसा दूसरा कोई साधन नाम की बराबरी नहीं कर सकता। धर्म का आधार नाम है, रूहानी करनी का सार नाम है, सच्चे ज्ञान का स्रोत नाम है और जीव को चौरासी के बन्धनों से मुक्त करके परमपिता परमेश्वर से मिलाने का साधन नाम है:

सुमिरु मन राम नाम ततसार।

जिन जिन सुमिरो सो सो उतरे भवसागर सों पार॥

वेद पुराण और षट माहीं तारण को यहि योग।

जो पै पाँचों प्रेत निवारै अरु इन्द्रिन के भोग॥

साधन संयम पूजा अर्चन और करै तप दान।

नाम समान न फल काहू में करि देखी पहिचान॥

जो जप करै धरै हिरदै में आशा सकल बिडार।
तीन लोक में धनि धनि होवै शोभा अगम अपार॥
सब धर्मन परधान नाम है सब इष्टन शिरमौर।
निश्चय पकड़ रहो याही को सकल विकल तजि दौर॥
तामें ज्ञान भरो ही दीखै पावै ब्रह्म विचार।
गुरु शुकदेव दियो दृढ़ मोकूँ चरणहिदास सँभार॥¹³

उपरोक्त शब्द में आप कहते हैं 'सब इष्टन शिरमौर'। नाम साधन ही नहीं, साध्य भी है। नाम मार्ग ही नहीं, मंजिल भी है। नाम ही वह इष्ट है जिसकी पूजा, आराधना करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, सच्चा नाम परमात्मा का निज-रूप है। यह परमात्मा की पूर्ण शक्ति से परिपूर्ण है। आपका नीचे दिया गया शब्द इस तथ्य को स्पष्ट करता है:

और उपाय न कोय हेली टेक हमारे नाम की।
आन शरण जाऊँ नहीं री, अरी हेली होनी होय सो होय॥
योग यज्ञ तप नाम ही री, अरी हेली नाम नक्षत्र बार।
सकल शिरोमणि नाम है, तन मन डारूँ वार॥
अड़सठ तीरथ नाम ही री, अरी हेली नाम हमारे नेम।
नाम ही सूँ राची रहूँ, नाम हमारे प्रेम॥
बरत हमारे नाम ही री, अरी हेली इष्ट हमारे नाम।
अर्थ धर्म फल नाम ही, नाम मुक्ति को धाम॥
पढ़न लिखन सब नाम ही री, अरी हेली नाम गिरह सब देव।
जो कुछ है सो नाम ही, नाम हमारो भेव॥
राम नाम शुकदेव दियो री, अरी हेली सो राखों मन माहिं।
चरणदास के नाम ही, इह सम तुल कछु नाहिं॥¹⁴

इस शब्द में आपने नाम को हर प्रकार के संयम, प्रेम, भक्ति, ज्ञान और मुक्ति का आधार माना है। इसका अभिप्राय यह है कि सभी ग्रहों-नक्षत्रों का कर्ता और आधार नाम है। सभी देवी-देवताओं का कर्ता, रक्षक और

प्रतिपालक नाम है। नाम ही परमात्मा से मिलानेवाली पूजा और आराधना है तथा नाम ही वह इष्ट या परमेश्वर है जिसकी पूजा और आराधना करनी चाहिए। दूसरे शब्दों में नाम ही वह नामी है जिससे अभेद होना हमारा वास्तविक लक्ष्य है।

परमात्मा का सच्चा नाम परमात्मा रूपी अगम, अथाह सागर से निकली वह धारा है जो सृष्टि की रचना करके इसका आधार बनी हुई है। यह धारा एक ही समय रचनाकार से रचना की ओर तथा रचना से रचनाकार की ओर चल रही है। जब हम अपनी सुरत को आँखों के पीछे लाकर इस धुनात्मक या सच्चे नाम की धारा में लीन करते हैं, तो यह धारा हमारी सुरत को उस परमेश्वर के पास वापस ले जाती है जहाँ से यह धारा आ रही है।

नाम अन्तर में है

पिछले पदों में कहा गया है:

जो हिरदै दृढ़ करि गहै हरि दर्शन पावै।¹⁵

जो जप करै धरै हिरदै में आशा सकल बिडार।¹⁶

भाव यह है कि सच्चे नाम का वास अन्तर में है। आप एक अन्य पद में फरमाते हैं कि शब्द या नाम का प्रकाश भी अन्दर है और शब्द या नाम की ध्वनि भी अन्दर है:

घट में ऊँचा ध्यान शब्द का सोहं सोहं माला॥

घट में बिन सूरज उजियारा राति दिना तहिं सूझै॥¹⁷

नाम लिखने, पढ़ने व बोलने में नहीं आता

सन्त चरनदास जी के अनुसार सच्चा नाम लिखने, पढ़ने और बोलने का विषय नहीं। उस सच्चे नाम का भेद सन्त-सतगुरु देते हैं। उस नाम की प्राप्ति के बाद हर प्रकार की बाहरमुखी पूजा और कर्मकाण्ड व्यर्थ दिखायी देते हैं। नाम का अमृत पीकर आशा-तृष्णा की अग्नि शान्त हो जाती है। सतगुरु

से प्राप्त होनेवाला नाम ही एकमात्र सच्चा ज्ञान है और उसका ज्ञाता ही वास्तविक ज्ञानी है। नाम के सिवाय हर प्रकार की पूजा और ज्ञान व्यर्थ है:

सतगुरु अक्षर मोहिं पढ़ायो।
लेखन लिखा न स्याही सेती, ना वह कागज मध्य चढ़ायो ॥
ना लग मात न माथे बिन्दी, अरुण पीत नहिं काला।
एँड़ा बेंड़ा टेढ़ा नाहीं, ना वह आल जंजाला ॥
ताको देखि थकी सब करणी, सबही साधन भागे।
सिद्धें भई भोर के तारे, मुक्ति न दीखै आगे ॥
जाके पढ़े पढ़न सब छूटै, आशा पोथी फारी।
में तो भया करम का हीना, कहै सरस्वति ठाढ़ी ॥
गुरु शुकदेव पढ़ायो अक्षर, अगम देश चटशाला।
चरणदास जब पण्डित हूये, धारि तिलक अरु माला ॥¹⁸

सन्त चरनदास जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि जिस सच्चे नाम से सतगुरु जीवात्मा को जोड़ता है, वह अपने अन्तर में सुना जानेवाला धुनात्मक नाम है जिसे न अक्षरों में लिखा जा सकता है और न जीभ से बोला जा सकता है। यह नाम ही सारे पापों, काम, क्रोध आदि विकारों और दुःखों को नष्ट करनेवाला, पाँचों इन्द्रिय रूपी सर्पों को मारनेवाला और काल को भी डराकर भगानेवाला है। सतगुरु के वचन के अन्दर रहकर नाम की साधना सहज में की जा सकती है। इस अन्तर्मुखी साधना में तीर्थ-व्रत आदि बाहरमुखी साधन अपनाने का कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इस अन्तर्मुखी साधना में जैसे-जैसे एकाग्रता आती है, साधक नाम में लीन होता जाता है और नाम साधक के अन्दर रम जाता है। सारा संसार, यहाँ तक कि अपना शरीर भी, झूठा लगने लगता है और आपा मिट जाता है। इस विशुद्ध रूहानी नाम को पाकर मनुष्य अपना जीवन सफल कर लेता है। सतगुरु की दया से सुरत दसवें द्वार को पार करती हुई अन्त में परमात्मा की गोद में पहुँच जाती है। इस प्रकार आत्मा रूपी लहर परमात्मा रूपी समुद्र में समाकर समुद्र बन जाती है।

अब मैं सतगुरु सरनै आयो ॥
बिन रसना बिन अच्छर बानी ऐसो हि जाप सुनायो ॥
काम क्रोध मद पाप जराये त्रैबिधि पाप नसायो ॥
नागिन पाँच मुई संग ममता दृष्टि सँ काल डेरायो ॥
किरिया कर्म अचार भुलाना ना तीरथ मग धायो ॥
समझो सहज बचन सुनि गुरु के भर्म को बोझ बगायो ॥*
ज्यों ज्यों जमौं गरक हों वामें वह मो माहिं समायो ॥†
जग झूँठो झूँठो तन मेरो यों आपा नहिं पायो ॥
वा कूँ जपै जन्म सोइ जीतै सो मैं सुद्ध बतायो ॥
चरनदास सुकदेव दया सौं सागर लहरि समायो ॥
गगन मंडल में जाप कर, जित है दसवाँ द्वार।
चरनदास यों कहत हैं, सो पहुँचै हरि द्वार ॥¹⁹

स्वामी जी महाराज भी कहते हैं कि सतगुरु की दया के सहारे दसवें द्वार को पार करके सच्चा शब्द जो निरक्षर है, मैं सुरत को लीन करने पर ही हमारा कार्य सिद्ध हो सकता है।

दस द्वारा घट चढ़ खोलो। सत शब्द अधर पै तोलो ॥
बिन मेहर गुरू नहिं पावे। बिन शब्द हाथ नहिं आवे ॥²⁰

वे फिर कहते हैं कि निरक्षर धाम की गुफा में पहुँचकर ही सच्चे शब्द की ध्वनि प्राप्त होती है:

घाट निअच्छर पाया जाय। गुफा में धुन इक सुनी बनाय ॥²¹

दरिया साहिब के अनुसार भी इस निर्मल निरक्षर नाम की डोरी को पकड़ लेने के बाद आत्मा पर काल का वश नहीं चल सकता:

नाम निअक्षर निर्मल डोरी। तासे काल करै नहिं चोरी ॥²²

* बगायो=दूर किया।

† जमौं=जमकर ध्यान लगाना; गरक=लीन होना, डूब जाना।

आदि ग्रन्थ में इस नाम की महिमा इस प्रकार की गयी है :

देही अंदरि नामु निवासी ॥ आपे करता है अबिनासी ॥²³

घरि घरि नामु निरंजना सो ठाकुरु मेरा ॥²⁴

एक नामि जुग चारि उधारे ॥²⁵

एकु नामु तारे संसारु ॥²⁶

अर्थात्, नाम कर्तापुरुष परमेश्वर है। नाम सच्चा इष्ट या ठाकुर है। नाम युग-युगान्तर से मुक्ति की प्राप्ति का एकमात्र साधन रहा है। गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं कि सब धर्मों का मूल आधार परमात्मा का अविनाशी नाम है। इस नाम से लिव जोड़ना ही सबसे श्रेष्ठ धर्म और सबसे निर्मल कर्म है :

सगल मतांत केवल हरि नाम ॥²⁷

सरब धरम महि स्रेसट धरमु ॥ हरि को नामु जपि निरमल करमु ॥²⁸

शब्द

संसार के कण-कण और घट-घट में व्यापक इस धुनात्मक नाम को सन्त चरनदास जी ने शब्द, अनहद शब्द, अनहद नाद और अनहद बानी आदि नामों से भी पुकारा है। आप कहते हैं कि अनहद शब्द अलख, अगम, अथाह है। यह अनन्त है, अपार है। यह परम चेतन है, ज्ञान-रूप है। यह परम निर्मल है। इसमें मन, माया और काल का लेश भी नहीं है। यह शब्द निरक्षर है, अजर और अमर है। अनहद शब्द ही परमेश्वर है। यह शब्द देह के अन्दर विद्यमान है :

अनहद शब्द अपार दूर सों दूर है। चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है ॥

ताहि निअक्षर जानि और निष्कर्म है। परमात्म तेहि मान वही परब्रह्म है ॥²⁹

शब्द बेमिसाल है, लासानी है। शब्द की कोई बराबरी नहीं कर सकता। शब्द स्वयंभू है, किसी के द्वारा रचित नहीं है। शब्द आदि-युगादि से सत्य

है। यह सदा एक-रस, एक-रंग रहनेवाला परम सत्य है। यह शब्द अपार प्रकाश और शक्ति से परिपूर्ण है। शब्द चन्द्र, सूर्य और सृष्टि का कर्ता है और रचना के कण-कण में समाया हुआ है :

वा पटतर कोई नाहिं जु यों ही जानिये।

चन्द्र सूर्य अरु सृष्टि के माहिं पिछानिये ॥

सो वह तेज अपार आपकूँ मानिये।

निश्चय अरु वहि साँच जु मन में आनिये ॥³⁰

शब्द ही वह सच्चा और निरन्तर अजपा-जाप है जो हृदय-कमल में प्रकट होता है। यह दिन-रात, पल-पल, क्षण-क्षण स्वतः जारी रहता है। इस शब्द से लिव जोड़कर ही आत्मा परमात्मा का रूप धारण कर सकती है। शब्द अज्ञान और भ्रम को नष्ट करता है, यह परम ज्ञान का दाता है :

हृदयकमल के माहिं ध्यान सोहं करे।

वाहि को अजपा जान सुरति मन ले धरे ॥

बिनहिं जपे जप होय सु साँची बात ही।

सहस इक्कीस अरु छस्सै जहाँ दिन रात ही ॥

याको कीये ध्यान होत है ब्रह्म ही।

धारे तेज अपार जाहि सब भर्म ही ॥³¹

सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक और मुक्तिदाता दो नहीं हो सकते। नाम या शब्द और परमात्मा को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञाता और मुक्तिदाता कहने का वास्तविक अभिप्राय यह है कि तीनों एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। आप फ़रमाते हैं कि आत्मा परमात्मा का अंश है। इसमें परमात्मा के सभी गुण विद्यमान हैं पर जब तक यह शब्द का भेद नहीं पा लेती, शब्द की पहचान नहीं करती, यह मन और माया से बँधी रहती है। जब यह शब्द का भेद पाकर शब्द से अभेद हो जाती है तो यह पहले हंस और फिर परम हंस बन जाती है। आपका आशय है कि आत्मा को मन, माया, काल, कर्म और आवागमन के बन्धनों से आज़ाद करने का एकमात्र साधन शब्द है।

आत्मा को अपने स्वरूप की पहचान करवाकर परमात्मा की पहचान करवाने वाला साधन शब्द ही है:

जब लग याही भेद जो जाना था नहीं।
जीवातम अरु हंस हो रहा था तहीं ॥
जभी अगोचर भेद जु मन माहीं लहा।
परमातम परमहंस रूप निश्चय भया ॥³²

शब्द अविनाशी है

हम पहले देख चुके हैं कि चरनदास जी ने नाम को अविनाशी कहा है। आपने अपनी रचना ज्ञान स्वरोदय के आरम्भ में सविस्तार समझाया है कि अनहद शब्द अमर है, अविनाशी है। यही पारब्रह्म परमेश्वर का निज-रूप है। आप अपने निम्नलिखित शब्द में कहते हैं कि वेद, नाद, पण्डित, ज्ञानी, चार वाणियाँ, तीनों देवता ब्रह्मा, विष्णु, महेश, माया और अवतार आदि सब क्षर या नश्वर हैं। चन्द्र, सूर्य, तारे, धरती और आकाश भी नश्वर हैं। वह पारब्रह्म परमेश्वर और उसका शब्द जो लिखने, पढ़ने या बोलने का विषय नहीं, अविनाशी है। उस शब्द की समझ सतगुरु की कृपा से आती है:

वह अक्षर कोइ बिरला पावै।
जा अक्षर के लाग न बिन्दी, सतगुरु सैनहिं सैन बतावै ॥
क्षर ही नाद वेद अरु पंडित, क्षर ज्ञानी अज्ञानी।
बावन अक्षर क्षर ही जानौ, क्षर ही चारौ बानी ॥
.....
क्षर ही उत्पति परलय क्षर ही, क्षर ही जाननहारा।
चरणदास शुक्रदेव बतावै, निह अक्षर है सबसों न्यारा ॥³³

पाँच तत्त्व, सम्पूर्ण सृष्टि और इसकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले देवता भी नश्वर हैं। काल और माया सब नश्वर हैं, पर परमात्मा का शब्द अमर और अविनाशी है। शब्द निश्चल भी है और सर्वव्यापक भी। सृष्टि के कण-कण में शब्द व्याप्त है। स्पष्ट है कि आप शब्द, नाम और परमात्मा का समान अर्थों में प्रयोग कर रहे हैं:

चाँद सूर्य थिर नहीं नहीं थिर पवन न पानी।
तिरदेवा थिर नहीं नहीं थिर माया रानी ॥
चरन दास लख दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
निरखि परखि ले निकट हीं कहन सुनन कूँ दूर है ॥³⁴

वाणी और प्रकाश

सन्त चरनदास जी ने शब्द को वाणी या अनहद वाणी भी कहा है। यह वाणी लिखने, पढ़ने और बोलने में नहीं आती। यह बिना बाहरी कानों के अन्तर में सुनाई देती है:

अब मैं सतगुरु सरनै आयो।
बिन रसना बिन अच्छर बानी ऐसो हि जाप सुनायो ॥³⁵

आप सतलोक को वह अमर धाम कहते हैं जहाँ बिना जिह्वा के उच्चारण किये जानेवाला, बिना कानों के सुना जानेवाला शब्द धुनकारें दे रहा है और जो बिना आँखों के दिखायी देनेवाले प्रकाश से परिपूर्ण है। उस वाणी में सुरत को लीन करने से आन्तरिक अनुभव होते हैं और आत्मा चौथे पद के परम सुख की वासी बन जाती है:

साधो अजब नगर अधिकाई।
.....
स्रवन बिना बहु बानी सुनिये बिन जिभ्या स्वर गावैं।
बिना नैन जहँ अचरज दीखै बिना अंग लिपटावैं ॥
.....
गुरु सुकदेव करी जब किरपा अनुभौ बुद्धि प्रकासी।
चौथे पद में आनन्द भारी चरनदास जहँ बासी ॥³⁶

आपने शब्द के प्रकाशमय स्वरूप का उल्लेख करते हुए कहा है:

अनन्त भानु परकाश जहाँ अनहद धुनि गाजै ॥³⁷
अवधू सहस दल अब देख।
श्वेत रँग जहाँ पैखरी छवि, अग्र डोर विशेष ॥

अमृत वरषा होत अति झरि, तेज पुंज प्रकास।
नाद अनहद बजत अद्भुत, महा ब्रह्मविलास ॥³⁸

शब्द-धुन, शब्द के बाजे

शब्द के धुनात्मक स्वरूप के कारण आपने इसे शब्द-धुन, अनहद घोर, अनहद बाजा, अनहद की तान, शब्द की झांगड़ आदि कहकर पुकारा है। जैसे:

जो जन अनहद ध्यान धरै ॥

.....

बहुत भाँति जहाँ बाजन बाजें सुनि सुनि सिंधु अरै ॥³⁹

जब से अनहद घोर सुनी।

इन्द्री थकित गलित मन हूवा आसा सकल भुनी ॥⁴⁰

अनहद बाजे बाजन लागे, चोर नगरिया तजि तजि भागे ॥⁴¹

आपने शब्द की अनेक प्रकार की धुनों में दस प्रमुख धुनों का वर्णन किया है। इनमें आपने घण्टे, शंख, मृदंग, बादल की गरज, घुँघरू, तुरही और मुरली आदि की आवाज़ से मिलती-जुलती धुनों का विशेष तौर पर वर्णन किया है: 'द्वादशा पलटि करि सुरति दो दल धरी, दशौं परकार अनहद बजायो'।⁴² इस प्रसंग में आपने अनहद शब्द की बेन या बीन का भी वर्णन किया है, 'कर लिए वेणु रसाल'।⁴³

शब्द या नाम का सैद्धान्तिक पक्ष

धर्म और नीतिशास्त्र के विश्वकोश में विचार प्रकट किया गया है कि सन्त चरनदास जी ने शब्द को अनन्त, अथाह और कर्तापुरुष कहा है। जो कुछ किया है, शब्द ने किया है और जो कुछ कर रहा है, शब्द कर रहा है। शब्द ही कर्ता है और शब्द ही मुक्ति-दाता है। सतगुरु में भी शब्द ही क्रियाशील है। सतगुरु शब्द का बाण है, शब्द की तलवार है। दूसरे शब्दों में शब्द गुरु है और गुरु शब्द है। शब्द पारब्रह्म परमेश्वर है, इसलिए जो कोई शब्द का ध्यान करता है, शब्द या परमात्मा का रूप हो जाता है। इस विश्वकोश में

सन्त चरनदास जी के विचारों की समानता एक ओर कबीर साहिब के और दूसरी ओर बाइबल के विचारों से दिखायी गयी है।⁴⁴ बाइबल में आता है: आदि में शब्द था और शब्द परमात्मा के साथ था और शब्द ही परमात्मा था। यही आदि में परमात्मा के साथ था। सबकुछ उसका बनाया हुआ है, कुछ भी ऐसा नहीं है जो उसके बनाये बिना बना हो।⁴⁵

कबीर साहिब कहते हैं:

सब्द हिते भयौ सुनत अकारा। सब्द तें लोक दीप विस्तारा ॥⁴⁶

गुरु अमरदास जी का कथन है:

उतपति परलउ सबदे होवै ॥ सबदे ही फिरि ओपति होवै ॥⁴⁷

दादू साहिब फ़रमाते हैं:

दादू सबदै बंध्या सब रहै, सबदै सब ही जाइ।

सबदै ही सब ऊपजै, सबदै सबै समाइ ॥⁴⁸

हुजूर स्वामी जी महाराज के अनुसार:

शब्द ने रची त्रिलोकी सारी। शब्द से माया फैली भारी ॥⁴⁹

सन्त चरनदास जी ने इस सच्चे नाम, सच्चे शब्द, अनहद शब्द को ही कर्म, प्रेम, भक्ति, योग, ज्ञान और मुक्ति का मूल कहा है। आप समझाते हैं कि वेदों के कर्ता ऋषि वेदव्यास इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि परमात्मा के ज्ञान और भक्ति का आधार परमात्मा का नाम है। जिस प्रकार दूध का सार मक्खन और मक्खन का सार घी है, उसी प्रकार योग और भक्ति का सार नाम है:

चार बेद किये ब्यास ने, अर्थ बिचार बिचार।

तामें निकसी भक्ति ही, राम नाम तत सार।⁵⁰

अचरज साधन नाम का, भक्ति जोग का जीव।

जैसे दूध जमाय कै, मथि करि काढ़ा घीव ॥⁵¹

आप सावधान करते हैं कि जप-तप, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, तीर्थ-व्रत, योग और यज्ञ आदि साधन जितने चाहे अपना लिए जायें, वे नाम-भक्ति का मुकाबला नहीं कर सकते। इन सभी साधनों से मिलनेवाला फल नाम-भक्ति में आ जाता है, पर ये सभी साधन मिलकर भी एक नाम-भक्ति का मुकाबला नहीं कर सकते। पारस में लोहे जैसी साधारण धातु को सोना बनाने की शक्ति होती है। इसी प्रकार नाम वह पारस है जिसका स्पर्श पाकर नीच से नीच, कुकर्म से कुकर्म जीव का कायाकल्प हो जाता है। नाम की परम पावन ध्वनि आत्मा को अति निर्मल बनाकर परमात्मा से मिला देती है:

कई बार जो जग करै, जोग करै चित लाय ॥
चरनदास कहैं नाम बिन, सभी अफल हो जाय ॥⁵²

आठ धात में गुन नहीं, जो पारस के माहिं।
तप तीरथ ब्रत साधना, राम नाम सम नाहिं ॥⁵³

सन्त चरनदास जी उपदेश देते हैं कि अपने मूल की पहचान करने और मनमुख से गुरुमुख बनने का साधन नाम है। तीनों तापों, सब सन्तापों को मिटाने का साधन नाम है। नाम की आराधना ही सच्ची, निर्मल और निष्कर्म प्रेम-भक्ति है और नाम ही निज-धाम पहुँचकर परमात्मा से मिलाप करने का एकमात्र साधन है:

अरे मन करो ऐसो जाप।
कटैं संकट कोटि तेरे मिटैं सगरे पाप ॥
चेत चेतन खोज करले देख आपा आप ॥
काग सों जब हंस होवै नाम के परताप ॥
ध्यान आतम सुरति राखो छुटै त्रैगुण ताप ॥
सुरति माला सुमिरि हिरदै छाँड़ सकल संताप ॥
पराभक्ति अगाध अद्भुत विमल अरु निष्काम।
चरणदास शुकदेव कहिया बसै निजपुर धाम ॥⁵⁴

इसलिए आप अन्य सभी साधनों की निरर्थकता बताकर हर ओर से ध्यान निकालकर केवल नाम से लिव जोड़ने का उपदेश देते हैं:

करै तपस्या नाम बिन, जोग जज्ञ अरु दान।
चरनदास यों कहत हैं, सब हीं थोथे जान ॥⁵⁵

तप तीरथ ब्रत साधना, राम नाम सम नाहिं ॥⁵⁶

अन्न बिना भुस कूटना, नाम बिना यों कर्म ॥⁵⁷

जोति बाल परसूँ नहीं री हेली मानूँ न देबी देव।
सतगुरु देव बताइया साँचो झूठो भेव ॥
अरसठ तीरथ ना फिरूँ री हेली पूज न पाथर नीर।
श्री सुकदेव छुटाइया जन्म मरन की पीर ॥
निस्चल होइ हरि की भई री हेली सुमिरूँ निर्मल नाँव।
अनन्य भक्ति दृढ़ सँ गही मारग आन न जाँव ॥⁵⁸

हाथी घोड़े धन घना, चंद्र मुखी बहु नारि ॥
नाम बिना जम लोक में, पावै दुख अपार ॥⁵⁹

भरमत भरमत आइया, पाई मानुख देंह।
ऐसो औसर फिर कहाँ, नाम सिताबी लेह ॥⁶⁰

सन्त नामदेव के अनुसार:

भनति नामदेउ इकु नामु निसतारै ॥⁶¹

निरबाण पदु इकु हरि को नामु ॥⁶²

कबीर साहिब का कथन है:

कबीर महिमा नाम की, कहना कही न जाय।
चार मुक्ति औ चार फल, और परम पद पाय ॥⁶³

पलटू साहिब का फ़रमान है :

जप तप तीरथ बर्त है, जोगी जोग अचार।

पलटू नाम भजे बिना, कोउ न उतरै पार॥

पलटू जप तप के किहे, सरे न एकौ काज।

भवसागर के तरन को, सतगुरु नाम जहाज॥⁶⁴

हज़रत ईसा का कथन है कि शब्द के विरुद्ध किया पाप कभी क्षमा नहीं हो सकता।* आपका अभिप्राय है कि शब्द ही सब पापों को नष्ट करके परमात्मा से मिलाता है। शब्द से विमुख प्राणी न पापों से मुक्त हो सकते हैं और न ही परमात्मा से मिलाप प्राप्त कर सकते हैं।

शब्द या नाम की साधना

हमारे मन और आत्मा की स्वाभाविक बैठक आँखों के पीछे है। वर्तमान अवस्था में मन और आत्मा की गाँठ बँधी हुई है। मन आँखों के पीछे से उतरकर नौ द्वारों या इन्द्रियों (दो आँख, दो कान, दो नासिका, मुँह और दो मल-मूत्र के स्थान) के घाट की ओर दौड़ता है और सुरत या आत्मा भी साथ खिंची चली जाती है।

मन की दो वृत्तियाँ हैं। यह हर पल संसार की शक्तों और पदार्थों का सुमिरन करता रहता है और जिन वस्तुओं का सुमिरन करता है, उनकी शक्तें भी गढ़ता रहता है। जिन वस्तुओं का यह सुमिरन करता है तथा जिन वस्तुओं की शक्तें यह गढ़ता है या जिनका ध्यान करता है, उनकी ओर ही यह खिंचा चला जाता है और उनसे ही इसका मोह पैदा हो जाता है। शब्द की धुन और शब्द का प्रकाश आँखों के पीछे है। जब तक मन आँखों के पीछे एकाग्र होकर अन्तर में शब्द की धुन और शब्द के प्रकाश को नहीं पकड़ता, आत्मा आन्तरिक रूहानी मण्डल तय करके वापस निज-घर नहीं जा सकती।

सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि मन को इन्द्रियों के पीछे जाने से रोकने और अन्तर में आँखों के पीछे लाकर शब्द में लीन करने के लिए मन की सुमिरन और ध्यान करने की दोनों शक्तियों को काम में लगाना आवश्यक है। इस समय मन संसार की नश्वर शक्तों या वस्तुओं का सुमिरन और ध्यान करता है। यदि इसे इनके सुमिरन के स्थान पर अविनाशी परमात्मा के नाम के सुमिरन में और सतगुरु के स्वरूप के ध्यान में लगा दिया जाये, तो यह नौ द्वारों की ओर से मुड़कर अन्तर में आँखों के पीछे एकाग्र हो जायेगा।

*...blasphemy against the Holy Ghost shall not be forgiven....⁶⁵

आप दावे के साथ कहते हैं कि सुमिरन और ध्यान के द्वारा मन और आत्मा को समेटकर आँखों के पीछे लाना हर प्रकार की रूहानी करनी का सार है। इस अभ्यास के सिवाय सभी धार्मिक कर्म व्यर्थ हैं:

जग में दो तारन कूँ नीका।

एक तौ ध्यान गुरु का कीजे दूजे नाम धनी का॥¹

थोथा धर्म वही पहिचानो जा में ये दो नाहीं।

चरनदास सुकदेव कहत हैं समझि देख मन माहीं॥²

गुरु ही नाम जपों दिन रैन। गुरु को ध्यान परम सुख दैन॥³

मन और आत्मा सुमिरन द्वारा आँखों के पीछे एकाग्र तो हो जाते हैं, पर जब तक अन्दर कोई स्वरूप दिखायी नहीं देता, आँखों के पीछे एकाग्र हुए मन और आत्मा को वहाँ ठहरने के लिए आधार नहीं मिलता और वे फिर नौ द्वारों के द्वारा संसार और इसके भोगों की ओर भागने लगते हैं।

संसार की सब वस्तुएँ नश्वर हैं। इनमें से कोई भी ध्यान के योग्य नहीं है, क्योंकि जिसका हम ध्यान करते हैं उसी का रूप हो जाते हैं। पहले कहा जा चुका है कि सतगुरु परमेश्वर में समाया हुआ है और परमेश्वर सतगुरु में समाया हुआ है। इसलिए केवल वही हमारे प्रेम और ध्यान का आधार बन सकता है। जब आँखों के पीछे एकाग्र हुए मन को सतगुरु के नूरी स्वरूप के दर्शन होते हैं तो मन और आत्मा अन्तर में ठहर जाते हैं और शब्द की धुन और शब्द के प्रकाश को पकड़कर ऊपर के मण्डलों में जाने के योग्य बन जाते हैं। सन्त चरनदास जी उपदेश देते हैं कि सुमिरन या जाप करते समय ध्यान भी करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, सतगुरु के स्वरूप का ध्यान करते हुए सुमिरन करना चाहिए और सुमिरन मन में करना चाहिए। इस प्रकार के सुमिरन से अन्तर में सच्चा नाम प्रकट हो जायेगा और आत्मा तीन गुणों वाली माया के दायरे से पार चली जायेगी। इसे हंस-गति प्राप्त हो जायेगी और यह स्वयं की पहचान द्वारा परमात्मा को पहचानने में समर्थ हो जायेगी। आप फ़रमाते हैं कि सुमिरन और ध्यान द्वारा

अन्तर में नाम को प्रकट कर लेना और सुरत को नाम में लीन कर देना वह आश्चर्यजनक भक्ति है जो मृत्यु-लोक के कीड़े को अमर लोक का निवासी बना देती है:

अरे मन करो ऐसो जाप।

कटैं संकट कोटि तेरे मिटैं सगरे पाप॥

चेत चेतन खोज करले देख आपा आप।

काग सों जब हंस होवै नाम के परताप॥

ध्यान आतम सुरति राखो छुटै त्रैगुण ताप।

सुरति माला सुमिरि हिरदै छाँड़ सकल संताप॥

पराभक्ति अगाध अद्भुत विमल अरु निष्काम।

चरणदास सुकदेव कहिया बसै निजपुर धाम॥⁴

एक अन्य पद में कहते हैं:

साँचा सुमिरण कीजिये जामें मीन न मेख।

ज्यों आगे साधुन कियो वाणी में देख॥

टेक गहो दृढ़ भक्ति की नौधा हिय धारि।

सन्तन की सेवा करो कुल कानि निवारि॥

जासों प्रेमा ऊपजै जब हरि दरशाय।

आगे पीछे ही फिरै प्रभु छोड़ि न जाय॥

चारि मुक्ति बाँदी भवै सिद्धि चरणन माहिं।

तीरथ सब आशा करैं अघ देख नसाहिं॥⁵

यह ध्यान देने योग्य बात है कि आपने नाम के सुमिरन को नवधा (नौ अंगों वाली) भक्ति का आधार माना है। आप 'सन्तन की सेवा करो' का उपदेश देते हैं। गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं: 'संत की सेवा नामु धिआईऐ'⁶, अर्थात् नाम का सुमिरन ही सन्त-सतगुरु की वास्तविक सेवा है। तन, मन व धन से सतगुरु और उसकी संगत की सेवा भी धन्य है, पर सतगुरु-सेवा और सतगुरु-भक्ति से पूर्ण सन्तों का वास्तविक तात्पर्य सतगुरु के दिये नाम

का सुमिरन और सतगुरु के स्वरूप का ध्यान है जिनकी ओर सन्त चरनदास जी ने ऊपर के पदों में संकेत किया है।

सुमिरन

निःसन्देह रूहानी साधना का आधार सतगुरु द्वारा दिये गये नाम का सुमिरन है। रूहानी तरक्की का आधार मन की एकाग्रता है और एकाग्रता का आधार सुमिरन है। ध्यान भी सुमिरन से ही आता है। वास्तव में सुमिरन की गूढ़ अवस्था ही ध्यान है। इसलिए अभ्यासी को सबसे अधिक जोर सुमिरन पर देना चाहिए। सुमिरन सतगुरु के स्वरूप का ध्यान करते हुए करना चाहिए ताकि मन की सोचने या सुमिरन करने और देखने या ध्यान करने की दोनों शक्तियाँ इकट्ठी होकर काम करें। सुमिरन मन ही मन में शान्त भाव से किया जाना चाहिए। धीरे-धीरे सुमिरन की आदत पक जाने पर यह हालत हो जाती है कि सुमिरन न केवल अपने आप लगातार चलता रहता है, बल्कि रोम-रोम सुमिरन करता है:

राम नाम मुख सूँ कहौ, राम नाम सुनि कान।

रोम रोम हरि को रटौ, ऐसी गहिये बान।*⁷

बिना बोले मन से सुमिरन करने की आदत के पक जाने पर जीव की दशा बिल्कुल बदल जाती है। इस सुमिरन से मन की मलिनता दूर हो जाती है, आत्मा शरीर के नौ द्वारों को खाली करके आँखों के पीछे एकाग्र होकर अन्दर प्रकाश को देखना शुरू कर देती है और उच्च रूहानी मण्डलों के सफ़र के लिए तैयार हो जाती है:

मन ही मन में जाप करि, दरपन उज्जल होय।

दरसन होवै राम का, तिमिर जायँ सब खोय॥

सुरत माहिं जो जप करै, तन सूँ न्यारा जौन।

मिलै सच्चिदानंद में, गहे रहै जो मौन॥⁸

* बान=अभ्यास, आदत।

सन्त चरनदास जी सावधान करते हैं कि मन रूपी भूत बार-बार बाहर की ओर दौड़ता है। इसे घेरकर सुमिरन के बाँस पर चढ़ने-उतरने के कार्य में लगाना चाहिए। आप बताते हैं कि सुमिरन में ध्यान का अंग शामिल करने से मन रूपी भूत को वश में करना आसान हो जाता है। सुमिरन और ध्यान के दोहरे रस्से से बँधा मन धीरे-धीरे निश्चल हो जाता है। मन में उठनेवाली अनेक प्रकार की तरंगें शान्त हो जाती हैं। मन निश्चल होकर अन्तर में ठहर जाता है। इससे दिव्य-दृष्टि खुल जाती है और आन्तरिक रूहानी भेद प्रकट होने शुरू हो जाते हैं:

यह मन भूत समान है, दौड़ै दाँत पसार।

बाँस गाड़ि उतरै चढ़ै, सब बल जावै हार॥

भजै तौ जानि न दीजिये, घेरि घेरि करि लाव।

या मन कूँ परचाय के, ध्यानहिं माहिं लगाव॥

और कहूँ बिधि दूसरी, सुनियो चित्त लगाय।

राम नाम मन सूँ जपै, चंचलता थकि जाय॥

पवन रुकै जब मन थकै, और दृष्टि ठहराय।

ऐसी साधन साधिये, गुरु गम भेद मिलाय॥

इन्द्री रोके मन रुकै, अरु उत्तम बिधि येहु।

चरनदास यों कहत हैं, यह साधन करि लेहु॥⁹

इस सम्बन्ध में सन्त चरनदास जी बताते हैं कि सुमिरन और ध्यान प्रेम और प्रतीति के साथ करना आवश्यक है। तभी प्रभु की सच्ची वन्दना और पूजा होती है:

सुमिरन बंदन ध्यान और पूजा करो।

प्रभु सूँ प्रीति लगाय सुरति चरनन धरो।¹⁰

थोथे सुमिरण कहा सरे।

.....

लक्षण प्रेम सहित जप कीजै, भीतर बाहर उघर नचे।¹¹

आप नवधा भक्ति के अलग-अलग अंगों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि सुमिरन और ध्यान ही सच्ची पूजा है। यह पूजा प्रेमपूर्वक और मन लगाकर करनी चाहिए। आपका आशय है कि सुमिरन और ध्यान का अभ्यास प्रीति-प्रतीति, उत्साह और लगन से करना चाहिए। दूसरों को दिखाने के लिए बनावटी और जबरदस्ती का सुमिरन अधिक लाभ नहीं पहुँचाता। एक सूफी दरवेश कहता है: 'खुशकी का मार्ग लम्बा और थका देनेवाला है। तू जल के मार्ग पर चल'। वह प्रेम के आँसुओं से परिपूर्ण साधना को 'जल का मार्ग' कहता है। भाव यह है कि सुमिरन और ध्यान का अभ्यास जी-जान से, प्रेम, विश्वास और उत्साह से करना चाहिए। प्रियतम से मिलने जा रही प्रियतमा कितने चाव और ललक से पाँव आगे बढ़ाती है। इसी प्रकार जितने अधिक प्रेम से आत्मा सुमिरन में मग्न होती है, उतना अधिक लाभ सुमिरन और ध्यान से प्राप्त होता है।

सुरत-निरत

सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि प्रभु रूपी प्रियतम अन्दर आँखों के पीछे है, पर जीवात्मा बाहर भटक रही है। जब तक यह सुमिरन और ध्यान की सहायता से अन्दर देखने की शक्ति अर्थात् निरत को और अन्दर सुनने की शक्ति अर्थात् सुरत को जाग्रत नहीं करती, यह आँखों के पीछे बने रंगमहल में दाखिल होकर प्रियतम के दर्शन नहीं कर सकती:

सखि सजनी हे तेरो पिया तेरे पास।

अरी बौरी इत उत भटकी क्यों फिरै जी॥

सखि सजनी हे सुरति निरति करि देख।

अरी बौरी अपने महल रंग मानिये जी॥¹²

कबीर साहिब कहते हैं:

तन थिर मन थिर बचन थिर, सुरत निरत थिर होय।

कह कबीर इस पलक को, कलप न पावै कोय॥¹³

हुजूर स्वामी जी महाराज ने सुरत और निरत को प्रियतम के पास सन्देश ले जानेवाला सन्देशवाहक कहा है:

सुरत निरत दोउ क्रासिद कीन्हे। बिथा लिखूँ अब सारी॥¹⁴

सन्तों का भाव है कि रूहानी तरक्की का आधार सुरत और निरत का जागना है। अँधेरे में बस्ती का मार्ग भूल चुका व्यक्ति बस्ती की ओर से आ रही आवाज़ सुनकर बस्ती का रुख क्रायम कर लेता है और बस्ती की ओर से आ रहे प्रकाश को देखता हुआ बस्ती की ओर चल देता है। इसी प्रकार सुरत शब्द की धुन को और निरत शब्द के प्रकाश को पकड़ती है जिससे आत्मा की अन्तर में चढ़ाई आरम्भ हो जाती है।

चरनदास जी ने समझाया है कि अन्तर में चढ़ाई शुरू होने पर अभ्यासी गगन मण्डल में विचरने लगता है। गगन मण्डल की अद्भुत ज्योति या प्रकाश का दर्शन कर और उसके अनहद नाद को सुनकर मन मग्न हो जाता है और संसार की आशा-तृष्णा, ममता-मोह और पाप-पुण्य आदि कर्म जल जाते हैं। मन के चंगुल से मुक्त हुई आत्मा अत्यन्त आनन्द के साथ अन्तर के शब्द और प्रकाश के सहारे सहज भाव से ऊपरी रूहानी मण्डलों में चढ़ती हुई अलख लोक में पहुँच जाती है:

गुरु गम मगन भया मन मेरा।

गगन मंडल में निज घर कीन्हों पंच बिषै नहिं घेरा॥

प्यास छुधा निद्रा नहिं ब्यापी अमृत अँचवन कीन्हा॥

छूटी आस बास नहिं कोई जग में चित नहिं दीन्हा॥

दरसी जोति परम सुख पायो सब ही कर्म जलावै।

पाप पुन दोऊ भय नाहीं जन्म मरन बिसरावै॥

अनहद आनंद अति उपजावै कहि न सकूँ गति सारी।

अति ललचावै फिर नहिं आवै लगी अलख सूँ यारी॥¹⁵

यह सब अन्तर्मुखी ध्यान का ही फल है कि आन्तरिक प्रकाश और शब्द के सहारे आत्मा काल पर विजय प्राप्त कर संसार के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेती है:

घन गरजै अरु बिजुली चमकै कौतुक गगन धरै ॥
 बहुत भाँति जहँ बाजन बाजै सुनि सुनि सिंधु अरै ॥*
 सहज सहज में हो परकासा बाधा सकल हरै ॥†
 जग की आस बास सब टूटै ममता मोह जरै ॥
 सून्य सिखर पर आपा बिसरै काल सँ नाहिं डरै ॥
 चरनदास सुकदेव कहत हैं सब गुन ध्यान धरै ॥¹⁶

आन्तरिक आँख

अन्तर में निरत के प्रकट होने को आपने आन्तरिक आँख का खुलना और ज्ञान-चक्षु का खुलना भी कहा है। जब तक यह आन्तरिक आँख नहीं खुलती आन्तरिक रूहानी सफ़र शुरू नहीं होता:

अब घर पाया हो मोहन प्यारा ॥
 लखो अचानक अज अबिनासी उघरि गये दृग तारा ॥¹⁷

ज्ञान आँख की पलक उघारो जब देखो रे सूझै ॥¹⁸

इस आन्तरिक आँख को ही हिन्दू महात्माओं ने 'शिव-नेत्र', 'दिव्य-चक्षु' या 'दिव्य-दृष्टि' कहा है। इसे मुसलमान फ़कीरों ने 'नुक़ता-ए-सवैदा' और 'दिल की आँख' आदि कहा है। हज़रत ईसा ने इसे 'एक आँख' कहा है‡। तुलसी साहिब, कबीर साहिब और स्वामी जी महाराज आदि ने इसे 'तिल' कहा है:

पुतली में तिल है तिल में भरा राज कुल का कुल।
 इस परदाए सियाह के ज़रा पार देखना ॥²⁰

* बहुत...अरै=जैसे सुनकर चित्त रूपी समुद्र में उठनेवाली वृत्तियों की लहरें शान्त हो जाती हैं, अर्थात् मन स्थिर हो जाता है और पूर्ण एकाग्रता आ जाती है।

† हरै=दूर होना।

‡ If thy eye be single, thy whole body shall be full of light.¹⁹

कहत कबीर सुनो भाई साधो गुरु मिले भेदी तिल का।²¹

अब सतगुरु मोहि मिले दयाल। कुँजी दे खोला तिल ताल ॥²²

रूहानी अभ्यास

सन्त चरनदास जी अभ्यास की इस सम्पूर्ण विधि का इस प्रकार उल्लेख करते हैं:

नौ नाड़ी को खेंचि पवन लै उर में दीजै।
 बज्जर ताला लाय द्वार नौ बंद करीजै ॥
 तीनों बंद लगाय अस्थिर अनहद आराधै।
 सुरति निरति का काम राह चल गगन अगाधै ॥
 सुन सिखर चढ़ि रहै दृढ़ जहाँ आसन करै।
 भन चरनदास ताड़ी लगै सो राम दरस कलिमल हरै ॥²³

अर्थात्, अभ्यासी को चाहिए कि सुमिरन और ध्यान की सहायता से शरीर के नौ द्वार बन्द करके मन को आँखों के पीछे एकाग्र और स्थिर करे। इससे पूर्ण एकाग्रता या समाधि की अवस्था प्राप्त हो जायेगी। पूर्ण एकाग्रता या समाधि की अवस्था प्राप्त होते ही अन्दर शब्द सुनाई देने लगेगा। तीनों बन्द लगाकर, अर्थात् आँख, कान और मुख को बन्द करके अनहद शब्द को शान्ति और स्थिरता से सुनना चाहिए* तब सुरत अन्दर शब्द की धुन को पकड़ेगी और निरत अन्दर शब्द की ज्योति के दर्शन करेगी। इससे आत्मा की अन्तर में ऊपर की ओर चढ़ाई शुरू हो जायेगी।

सन्त चरनदास जी संकेत करते हैं कि सुमिरन और ध्यान की सहायता से मन और आत्मा को आँखों के पीछे स्थिर करने से अन्तर के द्वार खुल जाते हैं और आत्मा आन्तरिक आकाश में चढ़ाई के योग्य बन जाती है:

* कबीर साहिब ने कहा है:

आँख कान मुख बन्द कराओ, अनहद झिंगा सब सुनाओ।
 दोनों तिल एक तार मिलाओ, तब देखो गुलजारा है ॥²⁴

मन पवना बस कीजिये, ज्ञान जुक्ति सूँ रोक।
 सुरति बाँधि भीतर धसै, सूझै काया लोक।
 चरनदास यहि बिधि कही, चढ़िबे कूँ आकास।
 सोध साधि साधन अगम, पूरन ब्रह्म बिलास ॥²⁵

आप एक अन्य पद में कहते हैं कि सतगुरु की बतायी युक्ति के अनुसार आत्मा को पिण्ड के नौ द्वारों से समेटकर अन्दर आँखों के पीछे इकट्ठा करने से आन्तरिक रूहानी मण्डलों को लगे वज्र-कपाट खुल जाते हैं। आत्मा शब्द की कुंजी से अन्तर के ताले को खोलकर आन्तरिक मण्डलों पर चढ़ जाती है :

पिंड ब्रह्मण्ड की सैल गुरु गम करी।
 सरसिया जुक्ति सूँ अलख राई ॥
 सहज ही सहज पग धरा जब अगम को।
 दसौ परकार झागड़ बजाई ॥
 खोलि कपाट अरु बज्र द्वारे चढ़ो।
 कला के भेद कुंजी लगाई ॥²⁶

जीते-जी मरना

पूर्ण एकाग्रता या समाधि की अवस्था में शरीर का आँखों से नीचे का भाग सुन्न या मुर्दा हो जाता है, पर आत्मा चेतन ही रहती है। इसलिए अन्य पूर्ण सन्तों की भाँति सन्त चरनदास जी ने भी इसे जीते-जी मरने की अवस्था कहा है : 'मृतक अवस्था जीवत आवै।' ²⁷ आप संकेत करते हैं कि सुमिरन और ध्यान द्वारा नौ द्वार खाली करने से जीते-जी मरने की अवस्था प्राप्त हो जाती है। मन और इन्द्रियों का जोर कम हो जाता है तथा आत्मा आँखों के पीछे स्थिर होकर अनहद शब्द में लीन हो जाती है :

जो जन अनहद ध्यान धरै ॥
 पाँचौ निरबल चंचल थाकै जीवत ही जु मरै ॥

बहुत भाँति जहाँ बाजन बाजैं सुनि सुनि सिंधु अरै ॥ *
 सहज सहज में हो परकासा बाधा सकल हरै ॥²⁸

मौत पर हमारा अधिकार नहीं होता, पर जीते-जी मरने की अवस्था साधक स्वयं रूहानी अभ्यास द्वारा प्राप्त करता है। अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर वह जब चाहे अन्तर में चेतन रहते हुए शरीर को चेतनाहीन या खाली कर ऊपरी मण्डलों में जा सकता है और फिर ध्यान को नीचे उतारकर शरीर में प्रवेश करते हुए संसार के प्रति जीवित हो सकता है। कबीर साहिब कहते हैं :

मरिये तो मरि जाइये, छूटि परै जंजार।
 ऐसा मरना को मरै, दिन में सौ सौ बार ॥²⁹

गुरु अमरदास जी कहते हैं कि जीते-जी मरने के अभ्यास में पूर्णता प्राप्त करके जीव मुक्ति-पद प्राप्त कर सकता है :

जीवतु मरै मरै फुनि जीवै तां मोखंतरु पाए ॥³⁰

सन्त चरनदास जी ने समाधि या जीते-जी मरने की अवस्था को ज्ञान दशा भी कहा है। ज्ञान से आपका अभिप्राय प्रत्यक्ष रूहानी अनुभव है :

ज्ञान दसा आवन कठिन, बिरला जानै कोय।
 ज्ञान दसा जब जानिये, जीवत मिर्त्तक होय ॥³¹

पलटू साहिब भी कहते हैं कि अन्तर में आँखों के पीछे जल रही ज्योति में से शब्द की धुन निकल रही है, पर यह केवल ज्ञान-समाधि में ही सुनाई देती है :

निकसै एक अवाज चिराग की जोतिहिं माहीं।
 ज्ञान समाधी सुनै और कोउ सुनता नाहीं ॥³²

* सिंधु अरै=शब्द की ऐसी मधुर धुन जिन्हें सुनकर समुद्र भी शान्त हो जाये।

रूहानी सफ़र

समाधि या जीते-जी मरने की अवस्था में दिव्य-दृष्टि के खुलने या निरत के जाग्रत होने से आत्मा शब्द की धुन और शब्द के प्रकाश के सहारे अन्दर पहले रूहानी मण्डल सहँसदल कैवल में पहुँचेगी तो इसे सतगुरु के नूरी स्वरूप के दर्शन होंगे। यहाँ सतगुरु के रोम-रोम से हजारों सूर्यों का प्रकाश निकलता है और परम निर्मल, आनन्दमय अनहद शब्द झरता है। अन्तर में सतगुरु के दर्शन होने से मन के सभी विकार दूर हो जायेंगे और परम सुख का अनुभव होगा। इस मण्डल तक पहुँचना किसी शूरवीर अभ्यासी का काम है :

दल असंख को कमल रूप जहाँ सत्त बिराजै।

अनंत भानु परकास जहाँ अनहद धुनि गाजै ॥

सुन्दर छबि अति हंस सत जन आगे ठाढ़े।

जहाँ पहुँचै कोइ सूर बीर नीसान जो गाढ़े ॥³³

गगन मध्य जो कैवल है, बाजत अनहद तूर।

दल हजार को कमल है, पहुँचै गुरु मत सूर ॥

गगन मंडल के कमल में, सतगुरु ध्यान निहार।

चरनदास सुकदेव परस के, मेटे सकल बिकार ॥³⁴

आप एक अन्य पद में कहते हैं :

द्वादसा पलट करि सुरति दो दल धरी, दसो परकार अनहद बजायो ॥

रोक जब नवन कूँ द्वार दसवें चढ़ी, सून्य के तख्त अनँद बढ़ायो ॥

सहस दल कमल को रूप अद्भुत महा, अमी रस उमंग आ झरि लगायो ॥³⁵

इस मण्डल में शब्द की ज्योति जगमगा रही है और अनहद शब्द की दस प्रकार की सुन्दर, सुरिली धुनें गूँज रही हैं। इसे ही पूर्ण सन्तों ने परमात्मा की सच्ची आरती कहा है। सन्त चरनदास जी इस अखण्ड आरती का वर्णन इस प्रकार करते हैं :

गगन मंडल में आरति कीजै, उत्तम साज सकल साजि लीजै।

सुखमन अमृत कुंभ धरावै, मनसा मालिनि फूल चढ़ावै ॥

घीव अखंडा सोहं बाती, त्रिकुटी ज्योति जलै दिन राती।

पवन साधना थाल करीजै, ता में चौमुख मन धर लीजै ॥

रबि ससि हाथ गहौ तिहि माहीं, खिन दहिने खिन बाँये लाई।

सहस कैवल सिंहासन राजै, अनहद झाँझरि नित हीं बाजै ॥

यहि बिधि आरति साँची सेवा, परम पुरुष देवन की देवा।

चरनदास सुकदेव बतावै, ऐसी आरति पार लगावै ॥³⁶

आप पहले रूहानी मण्डल सहँसदल कैवल में प्राप्त होनेवाले शब्द के आनन्दमय अमृत का उल्लेख करते हैं और फिर शब्द की धुनों और शब्द के प्रकाश का इस प्रकार वर्णन करते हैं :

अवधू सहस दल अब देख।

श्वेत रँग जहाँ पैखरी छवि, अग्र डोर विशेष ॥

अमृत वरषा होत अति झरि, तेज पुंज प्रकास।

नाद अनहद बजत अद्भुत, महा ब्रह्मविलास ॥

घंट किंकिणि मुरलि बाजै, शंखध्वनि मन सांन।

ताल भेरि मृदंग बाजत, सिन्धु गर्जन जान ॥

काल की जहाँ पहुँच नाहीं, अमर पदवी पाव।

जीति आठौं सिद्धि ठाढ़ी, गगन मध्ये आव।

करै गुरु परताप करणी, जाय पहुँचै सोय।

चरणदास शुकदेव किरपा, जीव ब्रह्म होय ॥³⁷

सन्त चरनदास जी अपने शब्द 'सो साधी ऐसी योग युक्ति गति भारी'³⁸ में इस अवस्था को इस प्रकार बयान करते हैं :

ऐसेहि लोक अमरपद पहुँचे, सूरज कोटि उज्यारी।

श्वेत सिंहासन सतगुरु परशे, करि दरशन बलिहारी ॥

आपा बिसरि परम सुख पायो, उनमन लागी तारी।

चरणदास शुकदेव दया सों, जन्म मरण छुटि बारी ॥³⁹

आप अपने एक शब्द 'अवधू ऐसी मदिरा पीजै'⁴⁰ में बताते हैं कि अनहद शब्द में ऐसा अद्भुत रस, ऐसी मस्ती और खुमारी है जिसे पाकर मन संसार की किसी दूसरी वस्तु की ओर मुँह नहीं करता। आप यह भी कहते हैं कि शब्द ही वह प्रेममय अमृत है जिसे पीकर आत्मा अमर होती है। आपका अभिप्राय है कि शब्द और प्रेम एक ही वस्तु के दो नाम हैं:

जो चाखै यह प्रेम सुधारस, निज पुर पहुँचै सोई।

अमर होय अमरा पद पावै, आवागमन न होई॥

गुरु शुकदेव किया मतवारा, तीनि लोक तृण बूझा।

चरणदास रणजीत भये जब, आनंद आनंद सूझा॥⁴¹

रामानन्द कबीर नामदे, अमर हुए जिन-जिन पिया।

गुरु शुकदेव करी जब किरपा, चरणदास को सो दिया॥⁴²

आप 'पीवै कोइ यह प्याला मतवारा'⁴³ में बताते हैं कि जिसके अन्दर अनहद शब्द की भट्ठी खुल जाती है, उसका मन इस प्रकार रस में डूब जाता है कि नवधा भक्ति, पूजा, संयम आदि की भी उसे सुध नहीं रहती:

नवधा नेम अरु संयम पूजा, बिसरी सब कहा कहिये।

धूमत रहैं महारस छाके, स्वर्ग मुक्ति ना चहिये॥⁴⁴

शब्द और मन

हर प्रकार की रूहानी साधना का मूल उद्देश्य मन को वश में करना है, क्योंकि जब तक मन आँखों के पीछे से उतरकर नौ द्वारों के रास्ते भोगों की ओर दौड़ता फिरता है, आत्मा कभी सिमटकर अन्दर स्थिर नहीं हो सकती। सन्त चरनदास जी कहते हैं:

इन्द्रिन के बस मन रहै, मन के बस रहै बुद्ध।

कहो ध्यान कैसे लगै, ऐसा जहाँ बिरुद्ध॥⁴⁵

होना तो यह चाहिए था कि मन बुद्धि के कहने में होता और इन्द्रियाँ मन के हुक्म में होतीं, पर इस समय सारा क्रम उलटा है, इसलिए मन और इन्द्रियाँ शक्तिशाली होकर नीचे और बाहर की ओर भाग रही हैं।

मन लज्जत का आशिक्र है। जब तक इसे इन्द्रियों के भोगों से ऊँची और निर्मल लज्जत नहीं मिलती, यह कभी इनकी ओर से मुँह नहीं मोड़ सकता। हठ-मार्गी, ज्ञान-मार्गी और त्याग-मार्गी जबरदस्ती मन को संसार और इन्द्रियों की ओर से मोड़ने की कोशिश करते हैं। यह मन आगे कहीं लगता नहीं। पलट कर संसार में ही भटकना शुरू कर देता है। सच्चाई यह है कि जितना किसी वस्तु को दबाते हैं उतनी ही अधिक शक्ति से वह उछलती है। सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि मन को वश में करने का एकमात्र साधन इसे शब्द में लीन करना है। शब्द रस से भरा अमृत है। शब्द आनन्द का सागर है। शब्द मस्ती और खुमारी का अखूट भण्डार है। अन्तर में शब्द की मीठी, रसमय धुनें सुनकर अभ्यासी के रोम-रोम में आनन्द के फव्वारे फूटते हैं। शरीर, मन और इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। न अपने आप की सुध-बुध रहती है और न दुनिया की। शब्द की अलौकिक लज्जत के मुकाबले इन्द्रियों के भोग फीके लगने शुरू हो जाते हैं। मन अपने आप काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार से मुक्त हो जाता है और शान्त होकर एकाग्र हो जाता है:

जब से अनहद घोर सुनी।

इन्द्री थकित गलित मन हूवा आसा सकल भुनी॥

धूमत नैन सिथिल भइ काया अमल जु सुरत सनी।

रोम रोम आनन्द उपज करि आलस सहज भनी।

मतवारे ज्यों शब्द समाये अन्तर भीज कनी।

करम भरम के बन्धन छूटे दुबिधा बिपति हनी।

आपा बिसरि जक्त कूँ बिसरो कित रहिं पाँच जनी।

लोक भोग सुधि रही न कोई भूले ज्ञानि गुनी॥

हो तहाँ लीन चरनहीं दासा कहै सुकदेव मुनी।

ऐसा ध्यान भाग सँ पैये चढ़ि रहै सिखर अनी॥⁴⁶

मन का अपने घर पहुँचना

सन्त चरनदास जी एक अन्य शब्द में बताते हैं कि मन का असल स्थान या निज-घर दूसरा रूहानी मण्डल त्रिकुटी है। इस मण्डल में इसे अपार आनन्द प्राप्त था। जब यह निज-घर को छोड़कर माया की रचना में उतरा तभी से उस अद्भुत आनन्द की खोज में है। यह इन्द्रियों के भोगों, विषय-विकारों, शराबों-कबाबों की लज्जतों, संसार के वैभव और मान-बड़ाई में उस सुख की तलाश करता है। इसे किसी वस्तु में वह आनन्द नहीं मिलता, इसलिए यह एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी वस्तु की ओर भटकता फिरता है। मन बार-बार अपने मोह के पात्र और रस के आधार पर बदलता है, क्योंकि इसे सच्चे व निर्मल, स्थिर और निश्चल रस की प्राप्ति नहीं होती। आप समझाते हैं कि जैसे ही मन शब्द की डोर को पकड़कर और सतगुरु के नूरी स्वरूप में लीन होकर गगन मण्डल या अपने निज-घर में पहुँचता है, इसे उस अद्भुत आनन्द की प्राप्ति हो जाती है जिसके लिए यह अनगिनत जन्मों से तड़प रहा था। त्रिकुटी में निरन्तर बरस रहे शब्द के रसमय अमृत को पीने से मन की जन्म-जन्मान्तरों की प्यास बुझ जाती है। मन इस क्रूर इस आनन्द में लीन हो जाता है कि इन्द्रियों के भोगों, विषय-विकारों, काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार की ओर इसका ध्यान ही नहीं जाता। इस प्रकार इन्द्रियाँ मन के वश में आ जाती हैं।

कर्मों का सम्बन्ध भी मन से है। आत्मा परमात्मा की भाँति निःकर्म है। मन ही इसे इन्द्रियों के तट पर घसीटकर ले जाता है और वही इससे विभिन्न प्रकार के कर्म करवाता है जो इसे आवागमन के बन्धन में जकड़ देते हैं। जब मन अपने स्रोत में समा जाता है तो आत्मा इसके पंजे से आजाद हो जाती है। जब मन और आत्मा की गाँठ खुल जाती है तो आत्मा पुण्य-पाप और आवागमन के बन्धनों से मुक्त हो जाती है। इस प्रकार न केवल आत्मा मोह-माया, आसा-मनसा की जंजीरें तोड़ देती है, बल्कि इसके अन्दर अपने मूल, उस परमात्मा के लिए तीव्र प्रेम उमड़ आता है। उस समय अन्तर में प्रियतम का सच्चा विरह पैदा होता है और आत्मा उसके वियोग में बिलखती है :

सुधि बुधि सब गइ खोय री मैं इस्क दिवानी।
तलफत हूँ दिन रैन ज्यों मछली बिन पानी।
बिन देखे मोहिं कल न परत है देखत आँख सिरानी*।
सुधि आये हिय में दव लागै नैनन बरखत पानी॥†
जैसे चकोर रटत चंदा को जैसे पपिहा स्वाँती।
ऐसे हम तलफत पिय दरसन बिरहबिथा यहि भाँती॥
जब ते मीत बिछोहा हूवा तब ते कछु न सुहानी।
अंग अंग अकुलात सखी री रोम रोम मुरझानी॥
बिन मनमोहन भवन अंधेरो भरि भरि आवै छाती।
चरनदास सुकदेव मिलावो नैन भये मोहिं घाती॥‡⁴⁷

मन के अपने स्रोत में समा जाने के बाद उसके पंजे से आजाद हुई निर्मल आत्मा की अवस्था का वर्णन करते हुए चरनदास जी कहते हैं :

जब सँ मन चंचल घर आया।
निर्मल भया मैल गये सगरे तीरथ ध्यान जो न्हाया॥
निर्बासी हूँ आनंद पाये या जग सँ मुख मोड़ा।
पाँचौ भई सहज बस मेरे जब इनका रस छोड़ा।
भय सब छूटे अब को लूटै दूजी आस न कोई।
सिमटि सिमटि रहा अपने माहीं सकल बिकल नहिं होई॥
निज मन हूआ मिटि गा दूआ को बैरी को मीता।
बंध मुक्ति का संसय माहीं जन्म मरन की चीता॥⁴⁸

सन्त चरनदास जी का ही नहीं, बल्कि सभी पूर्ण सन्तों के उपदेश का सार मन को शब्द द्वारा वश में करके मन और आत्मा की गाँठ खोलना है। आदि ग्रन्थ की वाणी है :

* सिरानी=बीतना, थकना अर्थात् आँखें उनकी राह देखती हुई थक गईं।

† दव=आग की लपट।

‡ घाती=दुःखदायी।

नामु मिलै मनु त्रिपतीऐ बिनु नामै ध्रिगु जीवासु ॥⁴⁹

राम नामि मनु बेधिआ अवरु कि करी वीचारु ॥

सबद सुरति सुखु ऊपजै प्रभ रातउ सुख सारु ॥⁵⁰

अर्थात्, हिरन की भाँति भटकता हुआ मन जब भी शान्त होकर निज-घर जायेगा शब्द के आनन्द में लीन होकर ही जायेगा; जब भी आत्मा को परमात्मा से मिलाप का परम सुख प्राप्त होगा, मन और आत्मा को शब्द में लवलीन करके ही होगा। दूसरे किसी भी साधन से यह सम्भव नहीं है। गुरु अमरदास जी फ़रमाते हैं कि मन को निर्मल करने और मन तथा आत्मा को अपने-अपने ठिकाने पहुँचाने वाली एकमात्र शक्ति शब्द है:

सबदि मरै मनु निरमलु संतहु एह पूजा थाइ पाई ॥⁵¹

गुरु अमरदास जी एक अन्य पद में फ़रमाते हैं कि जब हम आँखों में गुरु के ज्ञान का सुरमा डालते हैं अर्थात् सतगुरु द्वारा समझाई युक्ति के अनुसार सुमिरन और ध्यान की सहायता से मन को अन्दर आँखों के पीछे एकाग्र करके शब्द के प्रकाश में लीन करते हैं, तब मन मान जाता है, वश में आ जाता है और आत्मा को सच्ची दरगाह में पहुँचने की सच्ची शोभा प्राप्त हो जाती है:

गुर गिआन अंजनु सचु नेत्री पाइआ ॥

अंतरि चानणु अगिआनु अंधेरु गवाइआ ॥

जोती जोति मिली मनु मानिआ हरि दरि सोभा पावणिआ ॥⁵²

स्वामी जी महाराज फ़रमाते हैं कि मन को वश में करने का, आत्मा को मन के पंजे से छुड़ाकर निज-घर वापस ले जाने का एकमात्र साधन सुरत को शब्द में लीन करना है। दूसरे किसी साधन से यह मन नहीं मानता:

कोटि जतन से यह नहिं माने। धुन सुन कर मन समझाई ॥⁵³

गुरु की प्रीत कर पहिले। बहुरि घट शब्द को सुनना ॥

मान दो बात यह मेरी। करें मत और कुछ जतना ॥

हार जब जाय मन तुझ से। चढ़ा दे सुरत को गगना ॥⁵⁴

मानसरोवर

सन्त चरनदास जी आत्मा की रूहानी चढ़ाई के बारे में एक अन्य स्थान पर बड़े सुन्दर शब्दों में कहते हैं:

तासु के ऊपरै अमी को ताल है झिलमिली जोत परकास चमकै ॥

नूर जगमग करै खेल अगाध है बेद हूँ कहे नहिं पार पावैं ॥⁵⁵

त्रिकुटी से ऊपर शब्द रूपी अमृत का सरोवर है जिसे सन्तों-महात्माओं ने अमृतसर, मानसरोवर, त्रिवेणी, संगम, प्रयागराज आदि नामों से पुकारा है। शब्द के इस अति निर्मल सरोवर में स्नान करके आत्मा पर से संस्कारों की मलिनताएँ भी उतर जाती हैं और वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। इसी को साधु-सन्तों की भाषा में मूल की पहचान, गुरुमुख गति की प्राप्ति या हंस अवस्था की प्राप्ति कहते हैं।

सन्त चरनदास जी कहते हैं कि शब्द के मानसरोवर में स्नान करके कौआ हंस का रूप धारण कर लेता है, अर्थात् जीव मनमुख से गुरुमुख बन जाता है। आत्मा में दूध (शब्द) और पानी (माया के भोग) को अलग करने की शक्ति पैदा हो जाती है और यह विषय-विकारों की सीपियों को छोड़कर शब्द के मोती चुगने लगती है। आपका आशय है कि आत्मा इस अवस्था में मन, माया, विषय-विकारों, कर्मों-संस्कारों के सब पदें उतारकर अपना निर्मल रूप धारण कर लेती है:

मान सरोवर न्हाइये हेली सदा बसन्त निहार ॥

बिना सीप मोती बने हेली बिन गूँद फूलन हार ॥

बिन दामिन चमकार है हेली बिन सूरज उँजियार ॥

अनहद उत बाजे बजैं हेली अचरज बहुतक ख्याल ॥

तेज पुंज की सेज पै हेली कागा होहिं मराल ॥⁵⁶

बाँसुरी की तान

तीसरे रूहानी मण्डल दसवें द्वार में पहुँचकर शब्द के अमृत-कुण्ड में स्नान कर निर्मल हुई आत्मा को सन्त चरनदास जी सुन्दर, सुकुमारी, ब्रज-वनिता

कहते हैं। भाव यह है कि सतलोक रूपी ब्रज मण्डल की रहनेवाली आत्मा मन और माया की मैल उतारकर अति सुन्दर, पवित्र और उज्ज्वल हो जाती है। जब निर्मल हुई आत्मा और ऊपर की ओर उड़ान भरती है तो इसे शब्द की बाँसुरी की वह मधुर, रसीली धुनें सुनाई देती हैं जो इसे बरबस अपनी ओर खींचती हैं। इन धुनों को सुनकर इसके अन्दर अनादि काल से सोया मुरलीधर गोपाल अर्थात् परमात्मा का प्रेम हिलोरे लेने लगता है। बाँसुरी की यह तान आत्मा रूपी राधा के अन्दर परमात्मा रूपी मनमोहन से मिलाप करने की तीव्र इच्छा पैदा करती है और यह बड़ी उमंग से प्रियतम से मिलाप करने के लिए ऊपर की ओर उड़ान भरती है :

टेरि लई सबही ब्रज वनिता, मुरली मधुर बजाय बिहारी।

सुनत श्रवण धुनि होय प्रेमवश, विकल भई सुन्दरि सुकुमारी ॥⁵⁷

वा मुरलिया ने हेली मेरे प्राण हरे।

जब बाजत पिय के मुख लागी, सुनि धुनि तन की सुधि बिसरे ॥⁵⁸

ऊँचे रूहानी मण्डलों में सुनाई देनेवाली शब्द की मुरली या बाँसुरी का कई सन्तों-महात्माओं ने उल्लेख किया है। गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं कि अन्दर रूहानी मण्डलों में पखावज, रबाब, बाँसुरी और घुँघरुओं का मनोहर संगीत हो रहा है जिसे सुनकर मन खुशी से झूम उठता है :

कर करि ताल पखावजु नैनहु माथै वजहि रबाबा ॥

करनहु मधु बासुरी बाजै जिहवा धुनि आगाजा ॥

निरति करे करि मनूआ नाचै आणे घूघर साजा ॥⁵⁹

साई बुल्लेशाह कहते हैं कि वह मनमोहन प्रियतम रूहानी मण्डलों में शब्द की अद्भुत बाँसुरी बजा रहा है। इस बाँसुरी की धुन, कुल-मालिक के पास से आ रही है। बाँसुरी की यह धुन सारी सृष्टि का आधार है। जो इसके पीछे चलता है, वह भी उस मुकाम पर पहुँच जाता है जहाँ से बाँसुरी की धुन आ रही है :

बंसी अचरज कान्ह बजाई।

.....

इस बंसी दा लंमा लेखा, जिसने ढूँडा तिस ने देखा।

सादी इस बंसी दी रेखा, एस वजूदों सिफत उठाई।⁶⁰

पलटू साहिब शब्द की बाँसुरी का उल्लेख करते हुए कहते हैं :

बंसी बाजी गगन में मगन भया मन मोर।

मगन भया मन मोर महल अठवें पर बैठा।

जहाँ उठै सोहंगम सब्द सब्द के भीतर पैठा।⁶¹

हुजूर स्वामी जी महाराज फ़रमाते हैं कि बाँसुरी की धुन भँवरगुफा (चौथा रूहानी मण्डल) से आ रही है। शब्द की यह अद्भुत बाँसुरी कोई पूर्ण साधु ही सुन सकता है। इस बाँसुरी को सुनते ही आत्मा विरह के करारे तीरों से बिंध जाती है। इस बाँसुरी की धुन के सहारे आत्मा शब्द के स्रोत सतलोक में पहुँचकर सार शब्द में समा जाती है :

मुरलिया बाज रही। कोइ सुने संत धर ध्यान ॥

सो मुरली गुरु मोहि सुनाई। लगे प्रेम के बान ॥

पिंडा छोड़ अंड तज भागी। सुनी अधर में अपूर्ब तान ॥

पाया शब्द मिली हंसन से। खँच चढ़ाई सुरत कमान ॥

यह बंसी सतनाम बंस की। किया अजर घर अमृत पान ॥

भँवरगुफा ढिंग सोहं बंसी। रीझ रही मैं सुन सुन कान ॥

इस मुरली का मर्म पहिचानो। मिली शब्द की खान ॥⁶²

आगे ही आगे

आप एक अन्य पद में शब्द के सहारे आत्मा की मंज़िल-दर-मंज़िल चढ़ाई का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा शब्द के सहारे अपने अहं को मिटाकर और प्रेम-रूप होकर उच्चतम रूहानी मण्डल में पहुँचकर अपने प्रियतम से मिलाप कर लेती है और प्रेम-प्याला पीकर अपने आप को प्रियतम पर न्योछावर कर देती है :

सातवें महल पर कोटि सूरज दिपैं। आठवें महल अवगति गोसाईं॥
 रूप अद्भुत तहाँ देखि अचरज जहाँ। देखिया दरस तब बिपति जाई॥
 सुकदेव की सहा सों धारना गहा सो। अपने पीव के भवन आई॥
 चरनदास आपा दिया प्रेम प्याला पिया। सीस सदके किया पूजि पाई॥⁶³

सहज अवस्था

सन्त चरनदास जी कहते हैं कि शब्द के अभ्यास द्वारा साधक निज-घर पहुँच जाता है। उसे सहज अवस्था प्राप्त हो जाती है। यही सच्चे ज्ञान की अवस्था है जिसमें मन, माया और काल के हर प्रकार के प्रभाव से मुक्त हुई आत्मा परमात्मा से अभेद हो जाती है। अहं, ममता, मैं-मेरी के बन्धन को तोड़ चुकी आत्मा को हर ओर परमात्मा ही परमात्मा दिखायी देता है :

सहजगति ज्ञान समाधि लगाई।
 रूप नाम जहाँ किरिया छूटी, हों मैं रहन न पाई॥
 बिन आसन बिन संजम साधन, परमात्म सुधि पाई।
 सिव सक्ती मिलि एक भये हैं, मन माया निहुराई॥
 मगन रहों दुख सुख दोउ मेटे, चाह अचाह मिटाई॥
 जीवन मरन एक सूँ लागै, जब तें आप गँवाई॥
 मैं नाहीं नख सिख हरि राजें, आदि अन्त मध्याई।
 संका कर्म कौन कूँ लागै, का की होय मुक्ताई॥
 सकल आपदा ब्याधि तरी सब, दुई कहाँ मो माहीं।
 सब हमहीं रामै नहिँ पैये, सब रामै हम नाहीं॥
 नित आनन्द काल भय नाहीं, गुरु सुकदेव समाधी।
 चरनदास निज रूप समाने, यह तौ समझ अगाधी॥⁶⁴

इसे सन्त चरनदास जी चौथे पद की प्राप्ति, परमात्मा के निज-धाम की प्राप्ति, बेगमपुर या अमरपुर की प्राप्ति का नाम भी देते हैं :

परसिया देस जहाँ भेस नाहीं।
 घाट तिस लखि जहाँ बाट सूझै नहीं, सुरति के चाँदने संत जाई॥

चंद खोड़स दिपैं गंग उलटी बहै, सुखमना सेज पर लम्प दमकै।
 तासु के ऊपरै अमी को ताल है, झिलमिली जोत परकास चमकै॥

 नूर जगमग करै खेल आगाध है, बेद हूँ कहे नहिँ पार पावैं।
 गुरुमुखी जाइ हैं अमर पद पाइ हैं, सीस का लोभ तजि पंथ घावैं॥
 तीन सुन छेदि रनजीत चौथे बसै, जन्म औ मरन फिर नाहिँ होई।
 चरनदास करि बास सुकदेव बकसीस सूँ, पूज बेगम पुरी अमर सोई॥⁶⁵

सार

सन्त चरनदास जी के रूहानी उपदेश का सार यह है कि शब्द परमात्मा का निज-रूप है। यह परमात्मा की भाँति ही शक्ति-रूप, ज्ञान-रूप, प्रेम-रूप और आनन्द-रूप है। जैसे-जैसे आत्मा शब्द में लीन होती जाती है, यह भी परमात्मा की भाँति शक्ति, ज्ञान, प्रेम और आनन्द का रूप होती जाती है। शब्द के निरन्तर अभ्यास द्वारा आत्मा शरीर के बन्धन तोड़कर, मन और माया के देश को पार करके सदा के लिए शब्द या परमात्मा में ही विलीन हो जाती है। इस अभ्यास को ही सन्तों-महात्माओं ने नाम-मार्ग, शब्द-मार्ग, सुरत-शब्द-मार्ग या सुरत-शब्द योग कहा है। इसे ही प्रेम-मार्ग, भक्ति-मार्ग या प्रेम-भक्ति का मार्ग कहा है। सभी पूर्ण सन्तों ने इसी को परमात्मा की प्राप्ति का एकमात्र साधन और मार्ग माना है।

कबीर साहिब कहते हैं :

नाम रटत इस्थिर भया, ज्ञान कथत भया लीन।
 सुरत सबद एकै भया, जलही द्वैगा मीन॥⁶⁶

गुरु अमरदास जी फ़रमाते हैं :

सबदि मिलहि ता हरि मिलै सेवा पवै सभ थाइ॥⁶⁷

सन्त दादू दयाल जी का कथन है :

दादू गावै सुरति सों, बाणी बाजै ताल।
 यहु मन नाचै प्रेम सों, आगैं दीनदयाल॥⁶⁸

सन्त पलटू साहिब के अनुसार:

सुरति सुहागिनि उलटि कै मिली सबद में जाय।
मिली सबद में जाय कन्त को बसि में कीन्हा।
चलै न सिव कै जोर जाय जब सक्ती लीन्हा।⁶⁹

स्वामी जी महाराज भी कहते हैं:

बिना गुरु भेदी कौन लखाये। सुरत बिन शब्द कभी नहीं जाये॥
दया अस कीन्ही राधास्वामी आये। पड़ी मैं उनके चरन धाये॥⁷⁰
सुरत शब्द संग करे बिलास। यों राधास्वामी ढिंग बास॥⁷¹

कर्म और फल

कर्म का नियम बहुत सूक्ष्म और जटिल है। कर्म किये बिना जीव जगत् में रह नहीं सकता और कर्म का फल भोगे बिना जगत् से आज़ाद नहीं हो सकता।

प्रत्येक जीव हर पल मन में किये संकल्पों के अनुसार मन द्वारा, वचन द्वारा और शरीर द्वारा अच्छा या बुरा कर्म करके दूसरे जीवों को सुख या दुःख, लाभ या हानि पहुँचाता है। किसी को भी मनसा, वाचा या कर्मणा से दुःख या हानि पहुँचाना पाप है और सुख या लाभ पहुँचाना पुण्य है। प्रत्येक पुण्य और पाप का फल भोगना पड़ता है।

एक जन्म में किये सभी कर्म उस एक जन्म में भोग लिए जाते तो जीवात्मा की दशा इतनी दर्दनाक न होती। पर होता यह है कि जीव एक जन्म में कर्म करता अधिक है और भोगता कम है। कारण यह है कि पल भर में किये कुकर्म का फल भोगने में लम्बा समय लग सकता है। कई हत्याएँ एक क्षण में की जा सकती हैं, किन्तु उनका फल भोगने के लिए समय चाहिए। जो भी हिंसा, अत्याचार और व्यभिचार करते हैं, उनका फल भोगने के लिए और जो अनेक प्रकार के पुण्य कर्म करते हैं, उनका फल भोगने के लिए भी बार-बार देह के बन्धनों में आना पड़ता है। काल का एजेंट धर्मराज, समस्त कर्मों का हिसाब रखता है। उसने कर्मों के क़ानून और चौरासी का चक्कर चलाया हुआ है ताकि जीवात्मा सदैव सृष्टि में क़ैद रहे और कभी भी परमपिता से मिल न पाये।

पिछले जन्मों में किये हुए जो कर्म हम इस जन्म में भोग रहे हैं, वे हमारा प्रारब्ध हैं। प्रारब्ध, होनी या भाग्य किसी विरोधी शक्ति ने यों ही

अपने मन से नहीं लिखा है। यह हमारे पिछले जन्मों की उपज है। प्रारब्ध के लिए किसी दूसरे को दोष देना मूर्खता है। प्रारब्ध कर्मों का भुगतान करते समय सब्र रखना चाहिए और परमात्मा का शुक्रगुजार होना चाहिए क्योंकि ऋण चुकाने से सिर का बोझ हलका होता है और आत्मा पर चढ़ा कर्मों का जंग उतरता है।

पिछले कर्म भोगते हुए हम जो नये कर्म करते हैं, वे क्रियमान कर्म कहलाते हैं। ये क्रियमान कर्म ही अगले जन्म का प्रारब्ध बन जायेंगे, इसलिए नये कर्म सोच-विचार कर करने चाहिए। अज्ञानी जीव कर्म मन की मर्जी से करना चाहता है और उनका फल भी मन की मर्जी से लेना चाहता है। यह असम्भव है। प्रत्येक कर्म का फल उस कर्म के ही अनुसार निर्धारित होता है। विष पीकर अमृत के प्रभाव की आशा रखना, अग्नि में हाथ डालकर ठण्डे और सुखदायक स्पर्श की आशा रखना, हत्या करके फाँसी लगने से बचने की आशा रखना अपने आप को धोखा देना है।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य कर्म तो अधिक करता है पर एक जन्म में फल वह केवल कुछ ही कर्मों का भोग पाता है। इस प्रकार हर जन्म के बहुत-से अनभोगे कर्म जमा होते रहते हैं। इन अनभोगे कर्मों के एकत्रित भण्डार को संचित कर्म कहते हैं। ये कर्म ही मनुष्य के प्रबल बन्धन हैं। क्रियमान कर्मों पर किसी सीमा तक रोक लगायी जा सकती है, प्रारब्ध कर्मों को मालिक का भाणा मानकर दाँतों तले जिह्वा दबाकर भुगत सकते हैं, पर जब तक संचित कर्मों का लेखा समाप्त नहीं होता, काल के नगर से आज्ञादी नहीं मिल सकती।

कर्म का फल भोगना आवश्यक है। इसलिए कर्मों का हिसाब रखने और फल देने का काम काल ने धर्मराज को सौंप रखा है। धर्मराज के दूत जीव के हर कर्म का लेखा रखते हैं। धर्मराज के दरबार में झूठ, रिश्वत या सिफारिश नहीं चलती। कोई मित्र-सम्बन्धी वहाँ सहायक नहीं बन सकता। धर्मराज का तराजू सही तोलता है। वहाँ दूध का दूध और पानी का पानी कर दिया जाता है। जीव को प्रत्येक कर्म का लेखा दिखाया, समझाया जाता है और फिर उसे प्रत्येक कर्म का फल भुगतना पड़ता है:

पाप पुन लेखा लिखैं जम बैठे थाना।
कहा हिसाब तुम देहुगे जब जाहि दिवाना॥
मात पिता कोइ ह्वैं नहीं सब हीं बेगाना।
द्रव्य जहाँ पहुँचै नहीं नहिं मीत पिछाना॥
एक सों एकहिं होयगी ह्वैं साँच तुलाना।
काहू की चालै नहीं छनै दूध अरु पाना॥¹

कर्म और फल के सिद्धान्त का सबसे अधिक गम्भीर वर्णन सन्त चरनदास जी की *नासकेत लीला* नामक रचना में मिलता है जो नचिकेता की प्रसिद्ध पौराणिक कथा पर आधारित है। *नासकेत लीला* में ऋषि उद्दालक के सुपुत्र नासकेत (नचिकेता) की भिन्न-भिन्न नरकों और स्वर्गों की यात्रा और उनमें लागू हो रहे कर्म और फल के नियम का विस्तृत वर्णन है।

नासकेत सबसे पहले इस भ्रम का खण्डन करता है कि शुभ कर्म मुक्ति या प्रभु-प्राप्ति का साधन हैं। बहुत-से लोग तो परमात्मा के बारे में सोचते तक नहीं। जो लोग किसी न किसी प्रकार परमात्मा की प्राप्ति की ओर ध्यान देते हैं, वे भी जप-तप, दान-पुण्य, तीर्थ, व्रत, होम-यज्ञ, लोक-हित और लोक-सेवा आदि के कामों को ही प्रभु-भक्ति मान लेते हैं। वे समझते हैं कि हमारे पुण्य कर्मों से हमारे पाप नष्ट हो जायेंगे और हमारा परमात्मा से मिलाप हो जायेगा। नासकेत स्पष्ट करता है कि पुण्य न तो पापों को खत्म कर सकते हैं और न ही परमात्मा से मिला सकते हैं। पुण्य पुण्यों के और पाप पापों के लेखे में जमा होते हैं और दोनों का अलग-अलग हिसाब देना पड़ता है। इसके लिए जीव को बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है।

नासकेत समझाता है कि पुण्य और पाप दोनों ही जीव के पाँव में पड़ी बेड़ियाँ हैं। घोर पाप नरकों में ले जाते हैं तो श्रेष्ठ पुण्य स्वर्गों में ले जाते हैं पर दोनों का फल समाप्त होने पर जीव को पुनः मर्त्य-लोक में जन्म लेना पड़ता है। जब तक जीव परमात्मा की भक्ति द्वारा परमात्मा से मिलाप नहीं करता, उसे परम ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और वह आवागमन के बन्धन

से मुक्त नहीं हो सकता। केवल भक्ति द्वारा तीन गुणों की रचना को पार कर चौथे पद में पहुँचकर ही जीव कर्मों के बन्धन से आजाद हो सकता है :

धर्मराय जब पकड़ बुलावै। पाप पुण्य का न्याव चुकावै ॥
पापी पठवै नरक मँझारी। पुण्यी पठवै स्वर्ग मँझारी ॥
पाप पुण्य क्षीण हो जावै। फिर वह मृत्युलोक में आवै ॥²

अग्निहोत्र कर सुरग सिधारै। फेर जन्म पिरथी पर धारै ॥
कर्मों ही से आवै जावै। बिना जोग नहिं थिरता पावै ॥
पाप पुण्य दोऊ बेड़ी पग में। इन कूँ तोड़ चलै हरिमग में ॥
भक्ति जोग अरु निर्मल ज्ञानो। इन सँ मुक्ति होय सत जानो ॥
तीनों में सरधा जोड़ करै ॥ निहचै भवसागर सँ तरै ॥
बास लहै चौथे पद माहीं। जनम मरन फिर होवे नाहीं ॥³

नासकेत एक संकेत यह भी करता है कि हर प्रकार की भक्ति परमात्मा की प्राप्ति का साधन नहीं है। इस सन्दर्भ में वह उपदेश देता है कि जिस इष्ट की कोई पूजा और भक्ति करता है, उसी इष्ट को वह प्राप्त होता है। केवल निराकार परमेश्वर की भक्ति ही निराकार प्रभु की प्राप्ति का साधन बन सकती है :

जिस जिस देवत कूँ कोइ धावै। ताके लोक माहिं वह जावै ॥⁴

सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवता तथा जल, पत्थर और भूत और भवानी आदि इष्टों की पूजा में लगे लोग आवागमन के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते। देवी-देवता और उनके धाम नश्वर हैं। जब तक हम प्रभु-भक्ति द्वारा अपने मूल की पहचान नहीं करते और आत्मा को अमर और अविनाशी प्रभु में लीन नहीं करते, हम कभी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते :

आतम ज्ञान बिना नहिं मुक्ता। बेद भेद करि देखा जोय ॥
ब्रह्मा सेस महेस पूज करि। बस वह लोक रहत नहिं सोय ॥

जल पाहन अरु भूत भवानी। पूजि पूजि भरमा सब कोय ॥
चरनदास तत बिरला जानै। आवागवन दुख बहुरि न होय ॥⁵

नासकेत एक रहस्य यह खोलता है कि धर्मराज ने अपने दूतों को यह हुक्म दे रखा है कि तुम किसी दशा में भी पूर्ण साधु या उसके सेवकों के निकट नहीं जा सकते। नासकेत पूर्ण साधु के दर्शन और शरण को हर प्रकार के कर्मों के नाश का अति सुगम साधन बताता है। पूर्ण साधु कौन है? वह पूर्ण साधु उसे कहता है जो अपने आप को राम में विलीन कर चुका है और सदा राम के ध्यान में मग्न रहता है। पूर्ण साधु के दर्शन और शरण से क्या अभिप्राय है? पूर्ण साधु के उपदेश के अनुसार नाम की कमाई करना उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास का सूचक है। उसके उपदेश के अनुसार मन व माया के मण्डलों को पार करके अपनी आत्मा को उसके शब्द-रूप में लीन कर देना उसका सच्चा दर्शन और सच्ची शरण प्राप्त कर लेना है। ऐसी अवस्था में शिष्य के सभी कर्मों का नाश हो जाता है। वह मोक्ष या चौथे पद का अधिकारी बन जाता है। यही सहज अवस्था की प्राप्ति है जो पुण्य और पाप, जन्म और मरण, दुःख और सुख के द्वैत से मुक्त है :

साधुरूप कूँ ऐसे जानो। हरि की देह मिले पहिचानो ॥
वे तो हैं परमेश्वर प्यारे। रहै राम का बाना धारे ॥
जिनके दरशन पातक नासैं। जनम मरन की छूटै गासैं ॥
किरपा कर निज भेद बतावैं। चौथे पद आनन्द दरसावैं ॥
ऐसे साधुन कूँ कहिं देखो। हरि सम जिनकूँ जान बिसेखो ॥
साधु बसैं जहाँ तुम मत जइयो। उनके सेवक कूँ मत गहियो ॥⁶

गुरु अर्जुन देव जी ने भी लिखा है कि धर्मराय ने अपने दूतों को हुक्म दे रखा है कि तुम भूलकर भी पूर्ण साधु और शब्द की कमाई में मग्न अभ्यासियों के निकट न जाओ अन्यथा तुम भी और मैं भी पेरे जायेंगे :

जह साधू गोबिद भजनु कीरतनु नानक नीत ॥
णा हउ णा तू णह छुटहि निकटि न जाईअहु दूत ॥⁷

गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं :

तिन जमु नेड़ि न आवै गुर सबदु कमावै कबहु न आवहि हारि जीउ ॥⁸

नासकेत एक अन्य गूढ़ बात यह बताता है कि सात सूक्ष्म स्वर्ग देव-लोक में स्थित हैं, पर आठवाँ अद्भुत स्वर्ग मर्त्य-लोक में है। सातों सूक्ष्म स्वर्गों से बढ़कर वह अलौकिक स्वर्ग मनुष्य-देह है। सात स्वर्ग तो अपने पुण्य-कर्मों से मिलते हैं, पर मनुष्य-शरीर वह अनुपम स्वर्ग है जिसकी दात परमपिता परमेश्वर की अपार कृपा से प्राप्त होती है। दस दरवाज़ों वाला शरीर वह अनूठा स्वर्ग है जिसमें परमात्मा ने अनन्त पदार्थ, अनन्त दृश्य, अनहद शब्द का अखूट भण्डार और कुल खण्डों और ब्रह्माण्डों को रख दिया है। यही नहीं, वह परमात्मा स्वयं इस शरीर के अन्दर बैठा हुआ है। इस स्वर्ग में बैठकर जीव परमार्थ कमा सकता है, परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और परमात्मा का रूप बन सकता है। वास्तव में यह स्वर्ग वह दयालु पिता बख्शाता ही इसलिए है कि जीवात्मा इस अवसर का लाभ उठाकर निज-घर पहुँच सके और सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो जाये। जो लोग इस अवसर को व्यर्थ गँवा देते हैं, वे युगों-युगों तक पछताते हैं क्योंकि यह अवसर बार-बार नहीं मिलता :

स्वर्ग लोक इक और अनूठा। सो वह मृत्युलोक में डीठा ॥
वह भी बड़भागन सँ पावै। हरि किरपा पुन्य से बन आवै ॥
अचरज मनुषा देह कूँ, स्वर्ग लोक ही जान।
तामें आये होत है, परमेश्वर पहिचान ॥
ऐसा स्वर्ग लोक नहिं दूजा। तामें आकै सब कुछ सूझा ॥
तामें भोगै भोग अपारा। तामें दीखै अति गुलजारा ॥
मूरख याका भेद न पाया। तामें सब ब्रह्माण्ड समाया ॥
तामें पावै ब्रह्म विचारै। तामें आकै तत्त्व निहारै ॥
जाके दीखै दस दरवाजे। तामें अनहद बाजे बाजें ॥
करम धरम बहुतै तप कीना। ताते हरि ने नर तन दीना ॥

ऐसा पाया स्वर्ग गँवावै। कलप कलप बहुतै पछतावै ॥

जो कोई ह्याँ सँ गिर जावै। मनुषा देह बहुरि नहिं पावै ॥⁹

नरकों के प्रसंग में नासकेत हृदय-विदारक कष्टों का वर्णन करता है और बताता है कि पाप करने की अवधि कम होती है, पर पाप भोगने का समय लम्बा होता है। वह कहता है कि एक जन्म में किये पापों का फल भोगने के लिए जीवात्मा को युगों तक नरकों की आग में जलना पड़ता है, इसलिए जीव को संसार में सोच-समझकर कर्म करने चाहिएँ :

एक जनम के सुख के काजा। एक कल्प भुगतौ नर्क साजा ॥¹⁰

अठारह सूक्ष्म नरकों के अलावा नासकेत ने दृश्यमान संसार या मर्त्य-लोक को भी एक नरक ही कहा है। वह कहता है कि जीव-हत्या करनेवाले, लोगों को ज़हर देकर मारनेवाले, शराब आदि नशों का सेवन करनेवाले, पराये धन का लोभ करनेवाले, दूसरों की निन्दा करनेवाले, चोरी, डकैती, ठगी करनेवाले, प्रभु-भक्तों को दुःखी करनेवाले तथा अन्य विभिन्न प्रकार के पाप करनेवाले लोग इस मर्त्य-लोक में अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं। मांसाहारी ब्राह्मण और उसको दान देनेवाले यजमान दोनों गीदड़ की योनि में जाते हैं :

हत गउवाँ पातक कियो भारी। विष दे मनुष मारिहू डारी ॥
अपने गुरु के घर के माहीं। देखें खोटी दिष्ट बुराई ॥
सो निषिद्ध काया धर आवैं। ह्याँ चंडाल जौन ही पावैं ॥
मारैं राह झूँठ बहु बोलैं। सो रोगी हो जग में डोलैं ॥
जो सोना जग माहिं चुरावैं। जनम पाय कुष्ठी हो जावैं ॥
जो मदिरा पी भये मतवाले। जिनके दाँत हुये नख काले ॥
ब्राह्मण पुस्तक पढ़ि न विचारा। पावै जनम नाग ही कारा ॥
और जिन पाप जान कर कीन्हा। वाहू जनम सर्प का लीन्हा ॥
.....
विप्पर भिष्टल माँस अहारी। देत दान जिनकूँ ग्रहचारी ॥
दोनों गीदड़ को तन पावैं। नासकेत यह खोल दिखावैं ॥

जो नर परतिरिया कूँ ताकै। पावै जनम सुवर को आकै ॥
जो नारी पर पुरुष लुभानी। सो वे सूरी होती जानी ॥

विप्र साध पैरों जिन मारे। जनमत पिंगल भये बिचारे ॥

जो काहू का अन्न चुरावै। होवे बहिरा सुना न जावै ॥

जान सीख गुरु सँ फिर जावैं। सो शरीर कोढ़ी को पावैं ॥¹¹

कर्म और फल सम्बन्धी उपरोक्त चर्चा का सार यह है कि आत्मा परमात्मा की भाँति निःकर्मी, निःकलंक, ज्ञान-रूप और आनन्द-रूप है। मन ही इससे कर्म कराता है। मन आशा-तृष्णा की प्रबल लहरें पैदा करके जीवात्मा को इन्द्रियों द्वारा संसार के भोगों की ओर खींचता है। इस प्रकार कर्मों का क्रम प्रारम्भ हो जाता है।

मन द्वारा भ्रम में डाला हुआ जीव अनेक कर्म कर चुका है और आगे के लिए लगातार कर्म करता चला जा रहा है। जब तक पिछले जन्मों के संचित कर्मों का हिसाब समाप्त नहीं होता और आगे के लिए मन विषय-वासना, आशा-तृष्णा से नहीं निकलता, जीवात्मा कभी भी कर्मों के बन्धनों को तोड़कर निज-घर नहीं जा सकती।

छुटकारे का साधन : सत्संग

इस विषम स्थिति से निकलने के लिए सबसे पहले जीवात्मा को संसार, काल, मन और अपने आप की वास्तविकता समझाने की आवश्यकता है। यह कार्य पूर्ण साधु करता है। सन्त चरनदास जी उपदेश करते हैं कि जीव को सांसारिक, व्यावहारिक और पाखण्डी वृत्ति वाले लोगों का साथ त्यागकर परमात्मा के सच्चे भक्तों की संगति में रहना चाहिए। परमात्मा के भक्तों की संगति में अनेक लाभ सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। मन की मायापूर्ण वृत्ति बदल जाती है और इसके अन्दर अपना, जगत् और परमात्मा का ज्ञान पैदा होता है। इसकी दुर्मति दूर होती है और इसका झुकाव बाहरमुखी न होकर

अन्तर्मुखी होता है। इस प्रकार सन्तों का सत्संग मन की मलिनताओं को धोने के लिए साबुन का काम करता है :

सत संगति को साबुन लेकर ममता मैल बहावैं।¹²

सत संगति फल पाइये मिटै कुबुद्धि विकार।¹³

भवसागर जो उतरो चाहै सतसंगति की चढ़ ले नावरे।¹⁴

हमें आवागमन के चक्कर से छुटकारा दिलाने के लिए साधुजन जो कुछ करते हैं, उसका बखान अपने एक मुख से कोई क्या कर सकता है। सबसे बड़े परोपकारी साधुजन की महिमा शेषनाग अपने हजार मुखों से तो क्या, दो हजार मुखों से भी नहीं कर सकते। साधुजन के केवल एक घड़ी के संग से जो लाभ होता है, वह हजार वर्षों की तपस्या से भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए सन्त चरनदास जी हमें प्रभु-भक्त साधुजनों की संगति में जाने, उनसे नामदान की भिक्षा माँगने और उनके परम पवित्र चरणों की शरण लेकर उनकी सेवा में लगने का उपदेश देते हैं। सभी प्रकार के पापों का नाश करने, पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति करने और प्रेम के रस में मस्त होकर अपने जीवन का कायाकल्प करने का यही एकमात्र साधन है :

साधू महिमा को कहै, सोभा अधिक अपार।

रसना दोय हजार से, सेषहु जावैं हार ॥*

तप के बरस हजार हों, सत संगति घड़ि एक।

तौ भी सरवरि ना करै, सुकदेव किया बिवेक ॥^{† 15}

करौ नर हरि भक्तन को संग।

दुख बिसरै सुख होय घनेरो तन मन उलटै अंग ॥

* रसना...हजार=एक हजार जिह्वा वाले शेषनाग की यदि दुगुनी अर्थात् दो हजार जिह्वा हो जायें, तब भी वह साधु की महिमा नहीं कर सकेगा।

† सरवरि=बराबरी।

हैं निःकाम मिलो संतन सूँ नाम पदारथ मंग।*
 जेहि पाये सब पातक नासैं उपजै ज्ञान तरंग॥
 जो वै दया करैं तेरे पर प्रेम पिलावैं भंग।
 जाके अमल दरसहो हरि को नैनन आवैं रंग॥
 उनके चरन सरनहीं लागो सेवा करो उमंग।
 चरनदास तिनके पग परसन आस करत हैं गंग॥¹⁶

गुरु रामदास जी कहते हैं कि लकड़ियों का कितना बड़ा ढेर क्यों न हो, आग की एक चिनगारी सारे ढेर को जलाकर राख कर देती है। इसी प्रकार मनमुखों, पापियों के कितने भी बुरे-खोटे पाप क्यों न जमा हों, पूर्ण साधु की संगति में उनको नष्ट किया जा सकता है:

आनि आनि समधा बहु कीनी पलु बैसंतर भसम करीजै॥
 महा उग्र पाप साकत नर कीने मिलि साधू लूकी दीजै॥¹⁷

गुरु अर्जुन देव जी का कथन है:

महिमा साधू संग की सुनहु मेरे मीता॥
 मैलु खोई कोटि अघ हरे निरमल भए चीता॥¹⁸

कबीर साहिब प्ररमाते हैं:

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी हूँ से आध।
 कबीर संगति साध की, कटै कोटि अपराध॥¹⁹

वे यह भी कहते हैं:

सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
 सात समुँद की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय॥²⁰

* मंग=माँगो।

सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि मन लज्जत का आशिक्र है। यह ठीक है कि इस समय मन में संसार के भोगों की तृष्णा है, पर जब इसे साधु-संगति में जाकर यह पता लगेगा कि जो विभिन्न रस मैं इन्द्रियों के भोगों में से लेता आ रहा हूँ, इनसे बहुत ऊँचा और निर्मल रस मेरे अन्दर आँखों के पीछे है तो स्वाभाविक तौर पर इसके अन्दर उस अद्भुत रस की प्राप्ति की लालसा पैदा होगी:

मन कूँ सतसंगति लै जावो। कानों हरि जस कथा सुनावो॥
 भाँति भाँति के रँग ललचावै। तौ हरि के रंग क्यों न रँगवै॥²¹

आप ज्ञान देते हैं कि मन एक ही समय दो स्थानों पर नहीं हो सकता। मन की इस विवशता से लाभ उठाना चाहिए। यदि मन को जगत् और जगदीश की असलियत का ज्ञान देनेवाली साधु-संगति में रखा जाये और इस संगति द्वारा इसके अन्दर परमात्मा की भक्ति और नाम की कमाई का शौक पैदा किया जाये, तो धीरे-धीरे इसे इन्द्रियों के भोगों की ओर से मोड़कर परमात्मा की भक्ति में जोड़ा जा सकता है:

तौ या को ज्ञानी ही कीजै। जक्त ओर जाने नहिं दीजै॥
 कै दीजै हरि ही कूँ ध्यानू। राम भक्ति में या कूँ सानू॥²²

सत्संग के प्रेम और भक्ति के वातावरण का लाभ उठाकर सुमिरन और ध्यान की सहायता से मन आँखों के पीछे आकर अनहद शब्द से जुड़ जायेगा। जब इसे अनहद शब्द का अमृत पीने को मिलेगा तो यह अपने आप इन्द्रियों के भोगों की ओर से उदासीन हो जायेगा। शब्द की लज्जत पाकर मन के अन्दर निज-घर लौटने की तीव्र अभिलाषा पैदा हो जायेगी। नाम का अमृत पीकर इस पर चढ़ा जगत् के मोह का जंग उतर जायेगा और यह परमात्मा के प्रेम के रंग में रँग जायेगा। इस प्रकार मन हर प्रकार के कर्म और धर्म, भय और भ्रम से मुक्त हो जायेगा:

कै कीजे यह जोगी पूरा। याहि सुनावो अनहद तूरा॥
 या मन कूँ कीजे बैरागी। या कूँ कीजे सरबस त्यागी॥

जग रँग उतरि ब्रह्म रँग लागै। जा ते कर्म भर्म भय भागै॥
चरनदास सुकदेव बतावैं। मन फेरन की राह दिखावैं॥²³

आप कहते हैं कि शब्द परमात्मा का रूप है। यह परम निर्मल और परम चेतन है। यह घोर पापों की मैल धोकर आत्मा को निर्मल बना देता है:

ब्रह्म हत्या अरु नारि की, बालक हत्या होय।
राम नाम जो मन बसै, सब कूँ डारै खोय॥²⁴

कबीर साहिब कहते हैं:

जबहिं नाम हिरदे धरा, भया पाप का नास।
मानो चिनगी आग की, परी पुरानी घास॥²⁵

दादू साहिब के अनुसार हर प्रकार के पापों के जमा होने का मूल कारण परमात्मा के नाम को भूलना है। जब नाम से लिव जुड़ जाती है तो हर प्रकार के पापों की मलिनताएँ धुल जाती हैं:

जेता पाप सब जग करै, तेता नाँव बिसारैं होइ।
दादू राम सँभालिये, तौ एता डारै धोइ॥²⁶

सन्त चरनदास जी उपदेश करते हैं कि परमात्मा के नाम में परमात्मा के सब गुण विद्यमान हैं। नाम में लीन होकर आत्मा सहज ही उन सब गुणों को ग्रहण कर लेती है। नाम का अमृत पीकर आत्मा अनन्त शान्ति से भर जाती है। शब्द से अभेद हुई आत्मा जगत् के मोह से छूट जाती है और इसके अन्दर परमात्मा का सच्चा प्रेम जाग उठता है। इसके अन्दर से जगत् की आशा-तृष्णा निकल जाती है और केवल परमात्मा में लीन होने की तड़प बाक्री रह जाती है। इससे आत्मा सहज ही विषय-विकारों और उनसे उत्पन्न होनेवाले पापों की पकड़ से आज़ाद हो जाती है।

आप कहते हैं, 'अगले पिछले अब के कीये पाप कटैं सब तेरे।' शब्द या नाम के अभ्यास द्वारा प्रारब्ध, क्रियमान और संचित - हर प्रकार के कर्मों

का प्रभाव नष्ट हो जाता है। शब्द की डोरी के सहारे मन, माया और काल की सीमा पार करके आत्मा चौथे लोक, अमरपुर में पहुँच जाती है। इस प्रकार आत्मा आशा और तृष्णा, कर्म और फल, आवागमन, चौरासी, नरकों के कष्ट और मर्त्य-लोक के सभी दुःखों से सदा के लिए मुक्त हो जाती है:

अब तू सुमिरण कर मन मेरे।
अगले पिछले अब के कीये, पाप कटैं सब तेरे॥
यम के दंड दहन पावक की, चौरासी दुख पेरे।
भर्म कर्म सबही कटि जैहैं, जगत् ब्याध उरझेरे॥
पैहै शक्ति मुक्ति गति आनंद, अमरहिलोक बसेरो।
जन्मै मरै न योनी आवै, या जग करै न फेरो॥
सुमिरण साधन माहिं शिरोमणि, जो सुमिरण करि जानै।
काम क्रोध मद पाप जरावै, हरि बिन और न मानै॥
गुरु शुकदेव दियो है सुमिरण, बिन जिह्वा करि लीजै।
चरणदास कहै घेरि घेरि करि, अर्ध ऊर्ध मन दीजै॥²⁷

ध्यानी को मन लीन होय अनहद सुनै।
आप अनाहद होय बासना सब भुनै॥
पाप पुन्य छुटि जायँ दोऊ फल ना रहैं।
होय परम कल्याण जो तिरगुन ना गहैं॥²⁸

इन्द्रियों के भोग और मन के विकार

सांसारिक लोग संसार को सुखों की खान समझकर इन्द्रियों के भोगों और मन के विकारों के पीछे दौड़ते हैं। वे दुनिया की भोग-सामग्रियाँ इकट्ठी करते हैं, दुनिया को भोगते हैं और दुनिया की तृष्णाएँ हृदय में लेकर यहाँ से चले जाते हैं। ये तृष्णाएँ उन्हें खींचकर पुनः संसार में ही ले आती हैं। सन्त चरनदास जी कहते हैं:

अरे नर हरि का हेत न जाना।

उपजाया सुमिरन के काजे, तैं कछु औरै ठाना ॥¹

अर्थात्, ऐ जीव, तुझे मनुष्य की अनमोल देह परमात्मा की प्राप्ति के लिए दी गयी है जिससे तू आवागमन के चक्कर से सदा के लिए आजाद हो जाये। जिस संसार को तू सुख की नगरी समझता है, जिन भोगों के लिए तू सदा बेचैन रहता है और जिन चीजों की प्राप्ति को तूने जीवन का मुख्य उद्देश्य मान रखा है, कभी गम्भीरता से उनकी असलियत भी समझने की कोशिश कर।

सन्त चरनदास जी अज्ञानी जीव के सम्मुख यह रहस्य खोलते हैं कि रचना में और मनुष्य के अन्तर में दो प्रकार की शक्तियाँ काम कर रही हैं। एक शब्द या नाम की शक्ति है, जिसका ध्येय परमात्मा से बिछुड़ी आत्मा को पुनः परमात्मा से मिलाना है। दूसरी काल और माया की शक्ति है, जो जीवात्मा को इस त्रिलोकी में कैद रखना चाहती है।

इस त्रिलोकी का प्रबन्ध कुल-मालिक ने काल के सुपुर्द कर रखा है। त्रिलोकी का सारा कार्य चेतन आत्माओं के सहारे चल रहा है। जड़ संसार

अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता। सभी आत्माएँ यदि त्रिलोकी के पार चली जायें तो त्रिलोकी उजड़ जायेगी। इसलिए त्रिलोकी के शासक काल का सदा यह प्रयत्न रहता है कि कोई भी आत्मा किसी भी दशा में शब्द की धुन और प्रकाश को पकड़कर परमात्मा से मिलाप न कर पाये।

जीव को परमात्मा से दूर और रचना में कैद रखने के लिए काल ने हर जीव के पीछे अपने कारिन्दे (कर्मचारी) मन को लगा रखा है। मन ने पाँच इन्द्रियों और पाँच विकारों का ताना-बाना बुन रखा है। माया जीव को मोह लेने के लिए जगत् में रंग-बिरंगी शक्तों और पदार्थों को पैदा करती है। वह संसार में अनेक प्रकार के आकर्षण, रस और प्रलोभन पैदा करती है। मन जीवात्मा के अन्दर इनकी लालसा की प्रबल तरंगें पैदा करता है। इन तरंगों के अधीन जीवात्मा इन्द्रियों के घाट पर उतरती है और इन्द्रियों द्वारा संसार की वस्तुओं को भोगती है। अज्ञानी जीव यह नहीं जानता कि जिन भोगों और विकारों को वह सुख के साधन समझकर अपनाने की कोशिश करता है, वे वास्तव में उसके शत्रु द्वारा उसे मायामय संसार से बाँधकर रखने के षड्यन्त्र के अंग हैं। शरीर, मन और इन्द्रियाँ तो साधन-मात्र हैं, पर मनुष्य को यह चुनाव करना है कि वह इनका प्रयोग संसार के झूठे और नश्वर भोगों की प्राप्ति के लिए करना चाहता है या इन्हें सच्चे सुख-शान्ति के स्रोत परमेश्वर की प्राप्ति का साधन बनाना चाहता है।

सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि संसार काल द्वारा रचा गया कर्म और उसके फल का एक झूला है। यह झूला पुण्य और पाप के दो स्तम्भों के सहारे खड़ा है। इस झूले पर तृष्णा की तख्ती रखी हुई है। आशा रूपी सहेली झूला झुला रही है। पाँच इन्द्रियाँ और पच्चीस प्रकृतियाँ झूला झूल रहे जीव को मीठे-मीठे गीत सुना रही हैं। वे जीव को भ्रम में डालकर नाना प्रकार के कर्मों में उलझाती हैं। साधारण नर-नारी ही नहीं, बड़े-बड़े योगी और तपस्वी भी खुशी-खुशी आशा और तृष्णा, कर्म और उसके फल, पुण्य और पाप का यह झूला झूल रहे हैं।

झूला कभी ऊपर जाता है, कभी नीचे आता है। जीवात्मा अपने कर्मों का फल भोगने के लिए कभी उच्च योनियों में जाती है, कभी निचली योनियों

में। यह पापों का फल भोगने के लिए नरकों में और पुण्यों का फल भोगने के लिए स्वर्गों में जाती है। आपका आशय है कि माया तृष्णा को, तृष्णा कर्म को और कर्म फल को उत्पन्न करता है जिसके कारण जीवात्मा बन्धन में पड़कर सदा आवागमन में क़ैद रहती है और परमात्मा से मिलाप नहीं कर पाती :

भागौ साथिन हे यहि झूले मत झूल ।
 अरी हेली भर्म भूमि या देस की जी ॥
 भागौ साथिन हे मैं मेरी बँधी डोर ।
 अरी हेलि तृस्ना पटरी जित धरी जी ॥
 भागौ साथिन हे कर्म बृच्छ की बेलि ।
 अरी हेली बारी फल लगे बिष भरे जी ॥
 भागौ साथिन हे दुर्मति हरियर दूब ।
 अरी हेली छल रूपी फूले फूल हैं जी ॥
 भागौ साथिन हे पाप पुन दोउ खम्भ ।
 अरी हेली नर्क स्वर्ग झोटा लगै जी ॥
 भागौ साथिन हे झूलत चावहिं चाव ।
 अरी हेली नर नारी सब झूलहिं जी ॥
 भागौ साथिन हे तपसी जोगी गये भूल ।
 अरी हेली फल चाहत अरु कामना जी ॥
 भागौ साथिन हे आसा झुलावत नारि ।
 अरी हेली पाँच पचीस मिलि गावहिं जी ॥²

आप इस पद में ये अर्थपूर्ण वचन कहते हैं, 'छल रूपी फूले फूल हैं जी' और 'फल लगे बिष भरे जी'। आपका अभिप्राय है कि बाहर से देखने में इस कर्म-भूमि के बाग में लगे फल बहुत सुन्दर और मनमोहक प्रतीत होते हैं, पर वास्तव में ये छल से भरे और विषैले हैं। छल से भरे इसलिए हैं कि इन फलों को पैदा करनेवाले का लक्ष्य जीव का सुख नहीं, जीव को बन्धन में जकड़ना है। ये विषैले और विनाशकारी इसलिए हैं कि जितने

अधिक फल जीव खाता है, उतना ही अधिक अपने आप से, अपने निज-घर से और अपने मूल, उस परमात्मा से दूर होता जाता है। इसलिए जो फल इसे आकर्षक और सुखदायक प्रतीत होते हैं, वास्तव में वे दुःखदायक और विनाशकारी हैं। बाबा फ़रीद भी संकेत करते हैं कि विषय-विकार और इन्द्रियों के भोग चीनी में लिपटी ज़हर की गंदलों के समान हैं, 'फ़रीदा ए विसु गंदला धरीआं खंडु लिवाड़ि।' ³ आप सावधान करते हैं कि कर्मों के फल खाने में शक्कर जैसे मीठे हैं, पर इनका प्रभाव ज़हरीला है: 'देखु फ़रीदा जि थीआ सकर होई विसु।' ⁴

सन्त चरनदास जी शब्द के अन्त में उपदेश देते हैं :

भागौ साथिन हे इत तजि उत कूँ चाल ।
 अरी हेली अमर नगर सुकदेव के जी ॥⁵

जब तक जीवात्मा जगत् की आशा-तृष्णा के इस अस्थिर, भ्रममय, मायामय झूले से नहीं उतरती, यह अमर लोक या परमधाम नहीं पहुँच सकती। आप एक अन्य पद में कहते हैं :

बहु रूपी बहु तरंग यह, बहु तरंग बहु चाव ।
 बहुत भाँति संसार में, करि करि घने उपाव ॥⁶
 तैं मन कूँ जाना नहीं, करी न या की सार ।
 चौरासी छूटी नहीं, उपजा बारम्बार ॥
 मन ने आयु गँवाइया, ज्ञान बुझायो दीव
 करम लगे भरमत फ़िरो, मिलो न अपने पीव ॥⁷

मन और आत्मा की बैठक आँखों के पीछे है और आँखों के पीछे ही परमात्मा के शब्द की ध्वनि और शब्द के प्रकाश का अमृत बरस रहा है। मन आँखों के पीछे एकाग्र और स्थिर होने के बदले जीवात्मा को नौ द्वारों द्वारा संसार और इसके भोगों की ओर खींचकर ले जाता है। ऐसी दशा में ध्यान आँखों के पीछे कैसे एकाग्र हो सकता है और आत्मा अन्तर में शब्द के अमृत को कैसे पी सकती है ?

इन्द्रिन के बस मन रहै, मन के बस रहै बुद्ध।
कहो ध्यान कैसे लगै, ऐसा जहाँ बिरुद्ध॥⁸

आँखें रंग-बिरंगे रूपों, आकारों की ओर दौड़ती हैं, कान राग-रंग की महफ़िलों की ओर जाते हैं, नाक की इन्द्रिय विभिन्न प्रकार की सुगन्धियों की ओर दौड़ती है, जिह्वा भाँति-भाँति के रसों की खोज करती है और त्वचा सुन्दर शक्लों के स्पर्श और आलिंगन की प्रेरणा देती है। पाँचों इन्द्रियाँ मन के नचाये नाचती हैं और जीव को जगत् से बाँधकर जगत् के रंग में रँग देती हैं। पाँचों इन्द्रियाँ जीव को आकृष्ट कर अपने-अपने घाट की ओर लाती हैं जहाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार नामक पाँच विकार उसकी बरबादी का सामान तैयार करते हैं। इस प्रकार ये सभी विरोधी शक्तियाँ जीव को बुरी तरह जगत् से जकड़े रखती हैं:

बहु बैरी घट में बसैं, तू नहिं जीतत कोय।
निस दिन घेरे ही रहैं, छुटकारा नहिं होय।
मनही खेलै खेल सब, मन ही कर अभिमान।
मन हीह जग है रहेव, अब सुन मन का ज्ञान॥⁹

पाँचों विकार दिन-रात अपने विष-भरे डंक मारते रहते हैं। काम में खयाल नीचे गिरता है और मन चंचल होता है। काम की अग्नि तन और मन को जलाती है तथा जीव को बेचैन रखती है। काम का मारा जीव न धर्म की परवाह करता है, न लोकलाज की। वह अच्छी या बुरी जगह नहीं देखता, भले-बुरे का विचार नहीं करता और ऐसे कुकर्म करता है जो उसका लोक और परलोक दोनों बिगाड़ देते हैं और उसे नरकों का अधिकारी बना देते हैं:

तन मन जाँरे काम हीं, चित कर डाँवौडोल।
धरम सरम सब खोय के, रहै आप हिये खोल॥
नर नारी सब चेतियो, दीन्हो प्रगट दिखाय।
पर तिरिया पर पुरुस हो, भोग नरक को जाय॥¹⁰

काम शक्ति को नष्ट करता है, मन को मलिन करता है, विवेक का हास करता है और परमार्थ का सत्यानाश कर देता है। काम सन्तान की उत्पत्ति का साधन है, व्यभिचार और भोग-विलास का नहीं। शक्ति एक ही है, चाहे उसे विषय-वासनाओं की पूर्ति के लिए खर्च लें, चाहे रूहानी तरक्की के लिए:

पर नारी कै आपनी, दोनों बुरी बलाय।
घर बाहर की आग ज्यों, देवै हाथ जलाय॥¹¹

क्रोध बड़ा जालिम है। इससे खयाल फैलता है और बुद्धि भ्रष्ट होती है। यह दया के दैवी गुण का गला दबा देता है और हिंसा के शैतानी ज़हर का संचार करता है। क्रोध शत्रुता, दंगा-फ़साद और युद्ध की जड़ है। क्रोधी दूसरे की जान लेने तक को तैयार हो जाता है। क्रोध व्यक्तियों, परिवारों, क्रौमों और मुल्कों के सर्वनाश का कारण बनता है। क्रोध के अधीन किये गये कर्म न केवल जीव को इस जगत् में ही परेशान और तंग करते हैं, बल्कि उसका परमार्थ भी बरबाद कर देते हैं। क्रोध के कारण मनुष्य सन्तों-महात्माओं तथा गुरुदेव तक का तिरस्कार और निरादर कर देता है और परमात्मा की भक्ति से भी दूर हट जाता है:

वह बुद्धि भ्रष्ट करि डारै। वह मारहिं मार पुकारै॥
वह सब तन हिंसा छावै। कहिं दया न रहने पावै॥
वह गुरु सँ बोलै बेंड़ा। साधौं सँ डोले ऐंड़ा।
वह हरि सँ नेह छुटावै। वह नरक माहिं ले जावै॥¹²

सन्त चरनदास जी ने लोभी की तुलना चींटी, बन्दर और पक्षी से की है, जिनकी लालसा कभी सन्तुष्ट नहीं होती। लोभी व्यक्ति नीच और अधर्मी होता है। लोभ का मन्त्री झूठ और पत्नी तृष्णा है। लोभी बिना सोचे-समझे चलता है। वह हर समय और हर स्थान पर अपने छल-कपट का जाल बिछाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। वह भूल जाता है कि ठगी और बेईमानी से इकट्ठे किये गये पदार्थ अन्त-समय साथ नहीं जा सकते और अन्ततः उसे हर कर्म का हिसाब देना पड़ेगा:

लोभ नीच बर्नन करूँ, महा पाप की खानि।
 मंत्री जा का झूठ है, बहुत अधर्मी जानि॥
 तृस्ना जा की जोय है, सो अंधा करि देय।
 घटी बढी सूझै नहीं, नहीं काल का भेय॥
 दम्भ मकर छल भगल जो, रहत लोभ के संग।*
 मुए नरक ले जायँगे, जीवत करै अतंग॥† 13

मोह महाबली है। इसके रेशमी धागे जितने सूक्ष्म हैं, उतने ही मजबूत भी हैं। मोह बुद्धि और विवेक का शत्रु है। यह जीव को स्वार्थी और खुदगर्ज बना देता है। मोह मीठा जहर है। लोग इसके हाथों दुःखी भी होते हैं, पर फिर भी हँस-हँस कर इसके फन्दे में अपना सिर डालते जाते हैं। मोह का मारा जीव संसार में अनेक मुसीबतें सहन करता है, पर मोह का त्याग नहीं करता। मोह भय और चिन्ता की खान है, काँटों की सेज है, पर फिर भी लोग प्रसन्नतापूर्वक इसी सेज पर लेटते हैं। सचमुच मोह का जादू बहुत प्रबल है :

मोह बली सब सूँ अधिक, महिमा कही न जाय।
 जा कूँ बाँधो जग सबै, छूटै ना बौराय॥

 जब लग जग सूँ प्रीति है, तब लग दुख अपार।
 भय भारी चिन्ता घनी, भवन पिछानौदार॥‡ 14

अभिमान या अहंकार के विषय में सन्त चरनदास जी का कथन है : 'मुक्ति मूल आधीनता, नरक मूल अभिमान'¹⁵। अहंकार नरकों में ले जाने का मूल कारण है। अहंकार शुभ गुणों का सत्यानाश कर देता है और मन को दुर्गुणों से भर देता है। अभिमान जीव को अन्धा कर देता है और उसमें

* भगल=धोखेबाजी।

† अतंग=दुःखी, हैरान।

‡ पिछानौदार=काँटों से भरा हुआ।

मित्र और शत्रु, भले और बुरे की तमीज़ नहीं रहने देता। अहंकारी किसी दूसरे को अपने समान नहीं समझता। वह दूसरों को कीड़े-मकोड़े समझता है और सबको घृणा की दृष्टि से देखता है। सन्त चरनदास जी कहते हैं कि सुन्दरता, जवानी, धन-दौलत, कुल, जाति, विद्या, पद, शासन आदि का अभिमान वही कर सकते हैं जिन्होंने मौत और काल को भुला रखा है। अभिमानी का पतन अवश्य होता है। जब तक मनुष्य अभिमान या अहंकार का त्याग नहीं करता, वह कभी भी आवागमन से छुटकारा पाकर परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता :

अभिमानी चढ़ि कर गिरे, गये बासना माहिं।
 चौरासी भरमत भये, कबहीं निकसै नाहिं॥
 अभिमानी मीजे गये, लूट लिये धन बाम।
 निरअभिमानी हो चले, पहुँचे हरि के धाम॥

 उन काल नहीं पहिचाना। सो मार करै घमसाना॥
 गुरु सुकदेव चितावैं। तोहि परगट नैन दिखावैं॥
 जम बाँधि पकरि ले जावैं। वै बहुतै त्रास दिखावैं॥
 जब कहाँ जाय अभिमाना। मोर नीका सुन यह ताना॥¹⁶

आप सावधान करते हैं कि पाँचों विकार अनेक प्रकार के छल-कपट का प्रयोग कर जीवात्मा को संसार में बाँधकर रखने का प्रयत्न करते हैं। ये जीव से विभिन्न प्रकार के कुकर्म करवा लेते हैं जो अनेक प्रकार के तापों-सन्तापों के कारण बन जाते हैं। इन विकारों से बँधा व्यक्ति कभी भी मुक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता। वह मर्त्य-लोक में दुःख भोगता है और नरकों की अग्नि में जलता है। उसका किसी हालत में त्रिलोकी से छुटकारा नहीं हो सकता। कर्मों के बन्धन में जकड़ा वह बार-बार मृत्यु-लोक, स्वर्ग और पाताल में जन्म लेता है और इस प्रकार सदा आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है :

पाँचौ चोर महा दुखदाई। सो या जग में देहिं फँसाई ॥
 तन मन कूँ बहु ब्याधि लगावैं। कायक बाचक पाप चढ़ावैं ॥
 फिर चौरासी माहिं फिरावैं। जठर अग्नि में ताहि तपावैं ॥
 जन्म मरन भारी दुख पावैं। मनुष देहि का सर्बस जावैं ॥
 तीन लोक में डोलै हाला। सुर पुर मृत्यु और पाताला ॥
 कैसे मुक्ति धाम कूँ पावैं। जो इन्द्रिन के बस हो जावैं ॥¹⁷

करनी का महत्त्व

हम बीमारी, बेरोजगारी और दुःखों-संकटों में घिर जाते हैं तो प्रायः कहते हैं कि 'हमारा प्रारब्ध ही ऐसा है', 'हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा था'। कुछ परमार्थी जीव सतगुरु की शरण में जाकर नामदान प्राप्त कर लेते हैं, सतगुरु से परमेश्वर-भक्ति की युक्ति सीख लेते हैं, पर सतगुरु के हुक्म के अनुसार आवश्यक परहेज करते हुए नाम की कमाई को पूरा समय नहीं देते। वे प्रायः कहते हैं, 'अभी समय नहीं आया। हम निर्बल जीव क्या कर सकते हैं। सतगुरु दया-मेहर करके स्वयं सबकुछ कर देंगे।' उन लोगों की भी कमी नहीं जो सतगुरु की, सत्संग की और नाम की महिमा करते हुए नहीं थकते। वे लोगों को गुरु-भक्ति और नाम-भक्ति के सम्बन्ध में लम्बे-लम्बे भाषण देते हैं, पर स्वयं इन दोनों से ही कोरे हैं। ऐसे लोग भी हैं जो परमार्थ में बड़े जोश से क्रदम रखते हैं, पर जब मांस-शराब और विषय-विकारों के त्याग, हक्र हलाल की कमाई और नेक पवित्र रहनी के नियमों के पालन का प्रश्न उठता है तो कतराने लगते हैं। सन्त चरनदास जी सावधान करते हैं कि कथनी के सूरमा बनने से काम नहीं चल सकता, केवल करनी के सूरमा ही लोक और परलोक, स्वार्थ और परमार्थ में सफल हो सकते हैं:

कथनी के सूरु बहु जाने। करनी में कायर अरु याने ॥^{*1}

प्रत्येक क्षेत्र में केवल निजी प्रयत्न से ही उन्नति होती है। खेतीबाड़ी, दुकानदारी, विद्या, संगीत, विज्ञान, डॉक्टरी, वकालत आदि में जो लोग उन्नति

* याने=बच्चे अर्थात् निर्बल।

करते हैं, उद्यम और संघर्ष से ही करते हैं। पर जब परमार्थ का सवाल आता है तो लोग यह कह देते हैं कि स्वयं सतगुरु दया-मेहर करके नाम जपवा लेंगे, बुराइयों और पापों से छुड़ा देंगे। ऐसा कहना अपने आप को धोखा देना है। जो कोई भी परमार्थी कार्य में आलस्य या देर करते हैं, उन्हें उसकी क्रीमत चुकानी पड़ती है। वे अपनी यात्रा को जितना लम्बा करते हैं, उतनी ही देर मंजिल के सुख से दूर रहते हैं।

सन्तजन किसी को डरा, धमकाकर कुछ कराना नहीं चाहते और न ही वे किसी को लोभ या लालच दिखलाते हैं। वे केवल समझा-बुझाकर तथा लाभ-हानि बताकर जीव को प्रेरणा देते हैं। वे परमार्थ में उन्नति की युक्ति समझाते हैं, मंजिल तक पहुँचने का मार्ग बताते हैं, आन्तरिक सफ़र के साथी बन जाते हैं, पर सफ़र तो हर व्यक्ति को स्वयं तय करना होता है और मंजिल पर निजी प्रयत्न से ही पहुँचा जा सकता है। शिक्षक विद्यार्थी की पढ़ने-लिखने में पूरी सहायता करता है, पर परीक्षा के समय हर विद्यार्थी को प्रश्न स्वयं ही हल करने पड़ते हैं। कहा गया है: 'उद्यम के आगे लक्ष्मी, पंखे के आगे पवन'। परमात्मा उनकी सहायता करता है जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं। अध्यापक सब विद्यार्थियों को एक जैसी लगन, सहानुभूति और प्रेम से पढ़ाता है, पर प्रत्येक विद्यार्थी की प्राप्ति अलग-अलग होती है, क्योंकि प्रत्येक विद्यार्थी की लगन, उत्साह और प्रयत्न में अन्तर होता है। परमात्मा परम दयालु और समदर्शी है। उसकी प्रत्येक जीव पर एक जैसी दया-मेहर हो रही है। संसार में स्वार्थ और परमार्थ दोनों के क्षेत्र में अलग-अलग व्यक्तियों में जो अन्तर दिखायी देता है, उसका कारण उनकी अपनी-अपनी करनी है। सतगुरु भी परमेश्वर का रूप है। वह भी सब जीवों को एक ही साधन और मार्ग का भेद देता है तथा सभी शिष्य सतगुरु के एक जैसे प्रेम, सहायता और दया-मेहर के अधिकारी होते हैं। पर प्राप्ति प्रत्येक जीव की अलग-अलग होती है, क्योंकि इस प्राप्ति में जीव के अपने उद्यम, पुरुषार्थ या करनी का बड़ा हाथ होता है। सच तो यह है कि अधिक प्रयत्न करनेवाले विद्यार्थी अध्यापक के अधिक ध्यान के अधिकारी बन जाते हैं। तन-मन से सतगुरु के बताये मार्ग पर चलनेवाले साधक सतगुरु का काम

आसान करते हैं। इसलिए वे सतगुरु की और अधिक प्रसन्नता और सहायता के पात्र बन जाते हैं।

सन्त चरनदास जी विस्तारपूर्वक समझाते हैं कि अच्छे गुण धारण करने के लिए, बुरी वासनाओं से मुक्त होने के लिए तथा तन-मन को साधकर साधु बनने के लिए जीव को करनी करने की ज़रूरत पड़ती है। रूहानियत कहने-सुनने का नहीं, करने का विषय है। आप समझाते हैं कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार से मुक्त होने के लिए तथा शील, क्षमा, सन्तोष, विवेक और दीनता धारण करने के लिए करनी और संघर्ष करना पड़ता है।

आप कहते हैं कि वास्तविक महिमा करनी की है, कथनी की नहीं। करनी के बिना कथनी उसी प्रकार है जिस प्रकार चन्द्रमा के बिना रात, शस्त्र के बिना सूरमा, आभूषणों के बिना सुन्दरी और अनुभव के बिना विद्वान। करनी के बिना कथनी अपने साथ उसी प्रकार एक धोखा है जिस प्रकार बाँझ स्त्री का बच्चे से खाली पालने को झुलाना। करनी-विहीन वाचक ज्ञानी दूसरों को वैराग्य और त्याग का उपदेश देता है, पर स्वयं परिवार के मोहजाल को तोड़ नहीं सकता। ऐसे कथनी के सूरमा और करनी के कायर अनेक पाखण्डी अपना और दूसरों का अहित कर जाते हैं। इसके विपरीत परमात्मा के सच्चे भक्त करनी के सूरमा होते हैं। वे जो कुछ कहते हैं अनुभव के आधार पर कहते हैं। वे स्वयं परमात्मा से अभेद होकर दूसरों को परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग बताते हैं:

करनी की गति और है कथनी की औरै।

बिन करनी कथनी कथैं बक बादी बौरै॥

करनी बिन कथनी इसी ज्यों ससि बिन रजनी।*

बिन सस्तर ज्यों सूरमा भूषन बिन सजनी॥

ज्यों पंडित कथि कथि भले बैराग सुनावै।

आप कुटुंब के फँद पड़े नाहीं सुरझावैं॥

बाँझ झुलावै पालना बालक नहिं माहीं।

* इसी=ऐसी।

बस्तु बिहीना जानिये जहँ करनी नाहीं ॥
 बहु डिंभी करनी बिना कथि कथि करि मूए।
 संतों कथि करनी करि हरि के सम हूए ॥
 कहैं गुरु सुकदेव जी चरनदास बिचारौ।
 करनी रहनी दृढ़ गहौ थोथी कथनी डारौ ॥²

सन्त चरनदास जी ने एक लम्बे पद में इस बात पर बल दिया है कि उद्यम, पुरुषार्थ या करनी लोक और परलोक, स्वार्थ और परमार्थ दोनों में सफलता की कुंजी है। इसलिए आलस्य और सुस्ती छोड़कर पूरे सामर्थ्य और शक्ति से दीन और दुनिया दोनों में सफलता के लिए प्रयत्न करना चाहिए:

कारज लोक प्रलोक के, बिन करनी हों नाहिं।
 करनी हीं सँ होत है, करनी सब के माहिं ॥³

आपने 'करनी' का यह लम्बा प्रसंग एक संवाद के रूप में रचा है जिसमें शिष्य प्रश्न करता है और सतगुरु अपने उत्तर द्वारा शिष्य की शंकाओं का समाधान करता है। कुछ स्थानों पर शिष्य परमात्मा और सतगुरु की दया-मेहर की महिमा करता है, पर सतगुरु प्रत्येक उत्तर में करनी, यत्न या उद्यम पर जोर देता है। सतगुरु बार-बार समझाता है कि परमात्मा या सतगुरु की दया-मेहर के इन्तजार में नहीं बैठे रहना चाहिए और न ही होनी, भाग्य या प्रारब्ध का बहाना बनाकर निकम्मे बन जाना चाहिए। जीवन के हर प्रकार के हालात में उद्यम या पुरुषार्थ का पल्ला मजबूती से पकड़े रहना चाहिए और पूरी शक्ति व पक्के इरादे से सफलता के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

शब्द के आरम्भ में शिष्य प्रश्न करता है कि क्या कारण है कि संसार में कुछ लोग अनपढ़, गरीब और दुःखों में घिरे दिखायी देते हैं, कुछ पढ़े-लिखे, धनवान और सुखी हैं। कुछ लोग महलों में मौज उड़ाते हैं और कुछ गरीबों को चबाने के लिए चने भी नहीं मिलते। सतगुरु उत्तर देते हैं:

जिन जैसी करनी करी, तैसे ही फल पाय।
 भुगतत हैं वै जगत में, ता कूँ बदला पाय ॥⁴

आप विस्तारपूर्वक समझाते हैं कि संसार के ही नहीं, बल्कि नरकों-स्वर्गों के सुख-दुःख भी जीव को अपनी करनी से ही मिलते हैं। आप सावधान करते हैं कि प्रारब्ध करनी से जन्म लेता है, इसलिए महत्ता करनी की है। दुःख, संकट, बीमारी को प्रारब्ध या होनी कहकर कायरों की तरह हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठ जाना चाहिए। अपनी ओर से पूरी शक्ति और बहादुरी से इनमें से निकलने का प्रयत्न करना चाहिए:

होनहार को बहुत बतावैं। पै ता को कछु मरम न पावैं ॥
 कहैं कि होनी होय सो होई। ता कूँ मेटि सकै नहिं कोई ॥
 या कूँ समुझि उपाय न करिया। सरधा तजि कायर ह्वै परिया ॥

 जानत नाहिं जो पिछली करनी। अब के भई जो होनी भरनी ॥⁵

आप कहते हैं कि अब का प्रारब्ध पिछली करनी का फल है तो अब की करनी भविष्य के प्रारब्ध का निर्माण करेगी। आप सविस्तार समझाते हैं कि कर्मों का फल कभी-कभी तो इसी जन्म में मिल जाता है, इसलिए प्रारब्ध का बहाना करने के बजाय प्रत्येक कर्म को नया कर्म समझकर सावधानीपूर्वक चलना चाहिए:

परालब्ध अरु भाग कहावै। पिछले करमन से उपजावै ॥
 अब के करै सो आगे आवै। कछू कछू फल अभी दिखावै ॥⁶

आप उदाहरण देते हैं कि कई लोग घर-गृहस्थी की जिम्मेदारियों का डटकर मुकाबला करने की बजाय साधु का भेष धारण कर लेते हैं। वास्तव में वे कायर हैं। स्वार्थ कमाना परमार्थ कमाने से बहुत आसान है। जो लोग स्वार्थ में सफलता प्राप्त नहीं कर सके, वे परमार्थ में भला कैसे सफल हो सकते हैं? वास्तविक सूरमा वही है जो दुनियावी या परमार्थी, जिस कार्य के लिए भी आगे बढ़े, सफलता के लिए जान की बाज़ी लगा दे:

सूरा वही जो करनी करै, दया धरम लै सन्मुख अरै ॥
 पाँव धरे सो नाहिं उठावै। करनी करता चला जु जावै ॥

फिरै जबहिं फल लै कर आवै। सो वह सूर मल्ल कहावै ॥
कायर बीचहिं सँ फिर आवै। सो वह करनी कूँ बिसरावै ॥⁷

सन्त चरनदास जी अपने विचारों की पुष्टि के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त देते हैं जो इस प्रकार है :

नदी के तट पर बसे एक सुन्दर शहर में बहुत धनवान और खुशहाल लोग रहते थे। उनमें यह रिवाज था कि किसी व्यक्ति को एक वर्ष के लिए अपना राजा नियुक्त कर लेते थे। वे वर्ष भर उसकी देवता की भाँति पूजा करते और उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करते। वर्ष के अन्त में उसे नदी के पार घने जंगल में छोड़ देते जहाँ वह जंगली जानवरों का आहार बन जाता और शहर के लोग एक वर्ष के लिए फिर एक नया राजा नियुक्त कर लेते।

यह क्रम काफी वर्षों तक चलता रहा। एक बार एक ऐसा व्यक्ति राजा बनाया गया जिसने राजा बनते ही सोच लिया कि राज्य की अवधि एक वर्ष के लिए है। उसने राज्य की अवधि की समाप्ति का खयाल रखते हुए और अपने से पहले हुए राजाओं की दुर्दशा को याद करते हुए, नदी के पार के उस जंगल का सर्वेक्षण किया जिसमें वर्ष की समाप्ति पर अन्य राजाओं की भाँति उसे भी भेजा जाना था। उसने दूर-दूर तक जंगल कटवा दिया। कारीगर भेज कर नदी के पार एक सुन्दर महल बनवा लिया। उसने अपनी नगरी में से सुख और आराम की सभी सुन्दर वस्तुएँ उस महल में भिजवा दीं और बहुत-सी ज़मीन-जायदाद महल के नाम करके महल अपने एक विश्वसनीय व्यक्ति को पुरस्कार में दे दिया। वर्ष की समाप्ति पर राजा प्रसन्नतापूर्वक नदी के पार चला गया और वहाँ जाकर राज्य करने लगा। आप इस दृष्टान्त का परमार्थी आशय समझाते हुए कहते हैं कि जीव रूपी राजा काया रूपी नगरी में परमार्थी करनी करके सदा के लिए परम धाम के सुखों का स्वामी बन सकता है। करनी के बिना कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता :

सुभ करनी कूँ करि वह राजा। अपने महलन जाय बिराजा ॥
इत से भी उत सुख बहु भारी। ना कोइ बैरी ना जंजारी ॥
अपनी करनी से सुख पावै। रहै असोक न चिंता आवै ॥

कहि सुकदेव चरन हीं दासा। सुभ करनी करि पाया बासा ॥
ऐसे मानुस देह कूँ, जानहु नगर समान।
राजा या में जीव है, सुभ करनी परमान ॥
नाहिं तो चौरासी जंगल है। भाँति भाँति का जितहीं भय है ॥
पसू पसू कूँ जित भखि जावै। नित भय मानि नहीं सुख पावै ॥
बहु दुख पावै खोटी करनी। जैसी करनी तैसी भरनी ॥
भूप उमरि अपनी किया, अपना पूरन काम।
ऐसे ही सुभ कर्म सँ, तुम हूँ पावो धाम ॥⁸

आप जोर देकर कहते हैं :

करनी सँ भये इन्द्र हूँ, करनी ब्रह्मा सोय।
करनी सँ ईसुर भये, सुकदेवा कहै सोय ॥
.....
चारौ जुग के माहिं जो, करनी हीं परधान।
गुरु सुकदेवा कहत है, चरनदास उर आन ॥⁹

जिसे जो कुछ मिला है करनी से मिला है, जो कुछ मिलेगा करनी से ही मिलेगा। सन्त चरनदास जी जीव को बार-बार प्रोत्साहित करते हैं कि दृढ़ता, धैर्य, विश्वास, उत्साह और श्रद्धा से सन्तमत के सिद्धांतों पर चलने का प्रयत्न करो। प्रभु-भक्ति में, नाम-भक्ति में दृढ़ और परिपक्व बनो। मनमत का मार्ग त्यागकर गुरुमुखता के मार्ग पर चलने के लिए पूरी तरह प्रयत्न करो, क्योंकि करनी ही आत्मा को परमात्मा बनाने वाला महामन्त्र है :

कोटि यही उपदेस है, यही जु सगरी बात।
करनी हीं बलवंत है, यों सुकदेव दिखात ॥
मन की करनी ज्ञान है, परमात्म लखि लेय।
ब्रह्म रूप है जाय जब, छूटै सब हीं भेय ॥
.....
करनी हीं सँ पाइये, पारब्रह्म का खोज।

सतगुरु पै चल जाइये, मैटै सब हीं सोज ॥
 बिना किये कछु होय ना, आपहि लेहु बिचार ॥
 करनी देखी दूर लौं, सोचा बारम्बार ॥
 चरनदास तो सँ कहँ, उठि उद्यम कूँ लाग ॥
 आलस सकल गँवाय कै, बिषयन में मत पाग ॥¹⁰

गुरु नानक देव जी के विषय में भाई गुरदास जी लिखते हैं :

रेतु अकु आहारु करि, रोड़ा की गुर करी विछाई ॥
 भारी करी तपस्या, वडे भागु हरि सिउ बणि आई ॥¹¹

आगरा के परम सन्त स्वामी जी महाराज कई वर्ष एक कोठरी में सुरत-
 शब्द का अभ्यास करते रहे। आप अपनी वाणी में लिखते हैं :

यह करनी का भेद है, नाहीं बुद्धि बिचार ।
 बुद्धि छोड़ करनी करो, तो पावो कुछ सार ॥¹²

सतगुरु की दया तो सदा रहती है, पर साथ ही सतगुरु की आज्ञा मानकर
 करनी करना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना आवागमन से छुटकारा
 नहीं हो सकता। इसी लिए स्वामी जी महाराज ने स्पष्ट किया है :

बिना सतगुरु बिना करनी। छुटे नहिं खान का फिरना ॥¹³

अमीर खुसरो का कथन है कि जिस विद्या पर अमल की मोहर नहीं
 लगी, वह निर्जीव, मृत शरीर के समान है :

इल्म कज अमल निशानेस नेस्त, कालबीदी दारद वजानेस नेस्त ॥¹⁴

कबीर साहिब सावधान करते हैं :

कथते हैं करते नहीं, मुख के बड़े लबार ।
 मुँहड़ा काला होयगा, साहिब के दरबार ॥¹⁵

गुरु अर्जुन देव जी चेतावनी देते हैं :

अवर उपदेसै आपि न करै ॥ आवत जावत जनमै मरै ॥¹⁶

हज़रत ईसा कहते हैं कि आप रूहानी उपदेश को सुनकर ही सन्तुष्ट न
 हो जायें, इन पर अमल भी करें। केवल सुनना, और करना कुछ नहीं, अपने
 आप को धोखा देने के समान है।*

* But be ye doers of the word, and not hearers only, deceiving your own selves.¹⁷

विश्वास और सूरमापन

सन्त चरनदास जी ने परमार्थ में उन्नति और सफलता के लिए पक्की टेक और अटूट भरोसे पर बहुत जोर दिया है। आप फ़रमाते हैं कि सच्चे परमार्थी या साधु का सबसे बड़ा गुण टेक और भरोसा है। दृढ़ विश्वास के बिना भक्ति-मार्ग पर चलना असम्भव है। आप बतलाते हैं कि सभी सन्तों-महात्माओं और धर्म-ग्रन्थों ने विश्वास की महिमा का गुणगान किया है, क्योंकि विश्वास ही प्रभु-प्राप्ति का वास्तविक आधार है:

साधौ भेष वहीं जामें टेक है।

टेक नहीं तो कहा भरोसो, टेक बिना नर तेक है ॥*

टेक बिना कैसी सतवंती, टेक बिना नहिं शूरमां।

टेक बिना दाता भी नाहीं, टेक बिना योगी बूबना ॥†

टेक बिना नहिं भक्ता हरि को, टेक बिना नहिं सिद्ध है।

टेक बिना सब भर्मत डोलें, टेक बिना नहिं ऋद्धि है ॥

साधु संत अरु वेद कहत हैं, टेक पकरि चढ़ धाम कूँ।

चरणदास शुकदेव बतावैं, टेक मिलावैं राम कूँ ॥¹

परमार्थ के चार स्तम्भ हैं – परमात्मा, सतगुरु, नाम और सत्संग। ये चारों विश्वास की धरती पर खड़े हैं। हमने स्वयं परमात्मा के दर्शन नहीं किये। कहा जाता है कि सतगुरु परमेश्वर का रूप होता है, पर हमें इसका कोई निजी अनुभव नहीं। हम सुनते हैं कि नाम परमात्मा का रूप है और

* तेक=तुच्छ।

† बूबना=मूर्ख।

परमात्मा से मिलाप का एकमात्र साधन है। पर जब तक स्वयं नाम की कमाई द्वारा इसकी शक्ति का अनुभव नहीं करते, हम निजी तौर पर इसके बारे में कुछ नहीं कह सकते। सत्संग की महिमा का अनुभव भी सत्संग में जाकर ही हो सकता है। पर जब तक परमात्मा में, सतगुरु में, नाम में और सत्संग में विश्वास पैदा नहीं होता, परमार्थ का 'क, ख, ग' शुरू ही नहीं होता।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विश्वास का बहुत महत्त्व है। लाखों-करोड़ों के व्यापार विश्वास पर चलते हैं। हवाई जहाजों, समुद्री जहाजों और रेल के चालकों पर विश्वास करके ही हम अपनी अमूल्य जान उनके सुपुर्द कर यात्रा करते हैं। हम कभी किसी डॉक्टर से यह नहीं कहते कि पहले मुझे ठीक करो, फिर तुम पर और तुम्हारी दवाई पर विश्वास करूँगा। हम किसी अध्यापक से यह नहीं कहते कि पहले एम. ए. पास कराओ, फिर तुम्हारी योग्यता और एम. ए. पास कराने की युक्ति पर विश्वास करेंगे। इसी प्रकार सतगुरु से यह नहीं कह सकते कि पहले परमात्मा के दर्शन कराओ, फिर तुम्हारी युक्ति और शक्ति पर भरोसा करेंगे। इसके विपरीत जब डॉक्टर, अध्यापक और सतगुरु पर विश्वास करके उनके मार्ग-दर्शन में चलते हैं तो रोग से मुक्त हो जाते हैं, विद्या ग्रहण कर लेते हैं और परमात्मा के दर्शन करने में सफल हो जाते हैं।

भरोसे का अर्थ अन्ध-विश्वास नहीं है। यह ठीक है कि केवल बुद्धि के सहारे परमार्थ के किसी पहलू की तह तक पहुँचना असम्भव है, पर जितनी बुद्धि, जितना विवेक और तर्क परमात्मा ने बख़्शा है, उसकी पूरी तसल्ली कर लेने पर ही विश्वास पैदा होता है। सतगुरु की शरण लेने से पूर्व सतगुरु के बारे में और नामदान प्राप्त करने से पूर्व नाम की युक्ति के विषय में पूरी छानबीन कर लेनी चाहिए। हर प्रकार की शंकाओं का समाधान हो जाना चाहिए। पर जब एक बार सतगुरु और नाम को ग्रहण कर लें तो दृढ़ता और विश्वास के साथ सतगुरु के वचन में रहकर नाम का अभ्यास करना चाहिए। सफ़र शुरू करने से पहले मंजिल को जा रहे रास्ते, पथ-प्रदर्शक और मंजिल तक पहुँचने के साधन के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है,

पर एक बार विश्वास हो जाने पर पूरी शक्ति के साथ और पूरी रफ्तार से सफ़र तय करने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर सफ़र शुरू करने के बाद कभी एक सड़क पकड़ेंगे, कभी दूसरी, कभी एक पथ-प्रदर्शक लेंगे, कभी दूसरा और कभी सवारी के एक साधन का प्रयोग करेंगे और कभी दूसरे का, तो मंज़िल पर पहुँचना कठिन ही नहीं, असम्भव हो जायेगा। मंज़िल पर प्रयत्न पहुँचाता है, पर जब तक हम पूरे भरोसे और दृढ़ विश्वास के साथ प्रयत्न नहीं करते, मन डाँवाँडोल रहता है और उद्यम में पाँव लड़खड़ाते हैं। ऐसी दशा में हम दिशाहीन होकर शिथिल पड़ जायेंगे या कुमार्ग पर चले जायेंगे। इसके विपरीत, दृढ़ विश्वास के साथ मार्ग पर चलने से हमारा विश्वास अनुभव में बदल जायेगा।

परमार्थ की सम्पूर्ण नींव प्रेम के सहारे खड़ी है। प्रेम का आवश्यक पहलू विश्वास है। जिससे हम तन-मन से प्रेम करते हैं, स्वाभाविक ही हमारे हृदय में उसके लिए भरोसा होता है, विश्वास होता है। विश्वास की कमी का अर्थ प्रेम की कमी है और जब तक हृदय में परमात्मा, सतगुरु, नाम और सत्संग का प्रेम नहीं है, हम परमार्थ में उन्नति कैसे कर सकते हैं? मन में यह पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि जो कुछ मिलेगा, परमात्मा की भक्ति से मिलेगा, सतगुरु की दया-मेहर और मार्ग-दर्शन से मिलेगा और जब भी मन और माया के बन्धन तोड़कर परमात्मा से मिलाप कर सकेंगे, शब्द या नाम की कमाई द्वारा ही कर सकेंगे। यह नहीं कि मार्ग में विघ्न, रुकावटें और उतार-चढ़ाव आ जायें तो हम परमात्मा को छोड़ दें और सतगुरु, नाम और सत्संग की ओर पीठ कर लें। सतगुरु और नाम में विश्वास का वास्तविक अर्थ तन-मन से सतगुरु की बतायी युक्ति के अनुसार नाम की कमाई करना है, क्योंकि करनी द्वारा ही वह अनुभव प्रकट होता है जो विश्वास को पर्वत जैसा अडिग बना देता है।

सन्त चरनदास जी सच्चे परमार्थी को वह अडिग विश्वास वाला सूरमा बताते हैं जो विश्वास के शस्त्र से लैस होकर नाम की कमाई की रण-भूमि में उतरता है। रण-भेरी सुनते ही उसका मन चाव से फूला नहीं समाता। उसके चेहरे पर लाली प्रकट हो जाती है और उसका मस्तक चमक उठता

है। वह एक-मन, एक-चित्त होकर लगन और उत्साह से आगे ही आगे पैर बढ़ाता जाता है। वह कभी भी दायें-बायें या आगे-पीछे नहीं देखता। उसके मन में किसी प्रकार की दुविधा या चिन्ता नहीं होती। उसकी दृष्टि निरन्तर मंज़िल पर होती है और वह आगे बढ़ता जाता है। मार्ग में कितने ही संकट, कठिनाइयाँ या उतार-चढ़ाव आयें, उसका विश्वास नहीं डगमगाता। वह शत्रुओं के सब वारों का सामना करता है, पर रण-भूमि में कभी पीठ नहीं दिखाता। वह सिर कुरबान करता है, सिद्ध (सच्चाई) नहीं छोड़ता। आप कहते हैं कि साधु का असली धर्म ही यह है कि वह अपनी टेक निभाने में पूरी तरह दृढ़ रहे और अपने बाने को लाज न आने दे। पर्वत की तरह अडिग विश्वास वाले साधु को ही परमार्थ की रण-भूमि में उतरना चाहिए। टेक और श्रद्धा में पूरा प्रेमी सूरमा ही विजयी होकर घर लौटता है और लोक-परलोक में शोभा प्राप्त करता है:

साधू पैज गहै सोइ शूरा।

वाके मुख पर नूर रहै, जब बाजै मारूतूरा ॥

.....

या बाने को नेम यही है, पग धरि फिर न उठावै।

जो कछु होय सो आगे हि आगे, आगे ही को धावै ॥

रण में पैठि झड़ाझड़ खेलै, सन्मुख शस्तर खावै।

खेत न छोड़ै व्हाँई जूझै, तबही शोभा पावै ॥

गुरु शुक्रदेव दियो है हेला, ऐसा होय सो आवै

चरणदास बाना संतन का, तो ले शीस चढ़ावै ॥²

आप सावधान करते हैं कि अगर कोई कायर व्यक्ति परमात्मा, सतगुरु, नाम और सत्संग का विश्वास खोकर अन्य साधनों और मार्गों को अपनाता है, तो वह लोक-परलोक में ख़्बार होता है। आप उपदेश करते हैं कि मनुष्य-शरीर का अमूल्य अवसर बार-बार नहीं मिलता। इसलिए कभी भी, किसी भी हालत में परमात्मा, सतगुरु, नाम और सत्संग का विश्वास नहीं छोड़ना चाहिए। जो भरोसा छोड़ देता है, रास्ते से भटक जाता है, वह

कुसंगति में फँसकर निरादर पाता है। इसलिए हर प्रकार के संकट का सामना करते हुए सतगुरु के बताये मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते रहना चाहिए। सिर दे देना चाहिए, जान न्योछावर कर देनी चाहिए, पर विश्वास नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि विश्वास छोड़ने से जग-हँसाई होती है और मंजिल भी हाथ नहीं आती:

साधो टेक गई जाको सब गयो।

लाज गई अरु काज गये सब, वचन धर्म कछु ना रह्यो॥

जग में हाँस फाँस हिय माहीं, कायरपन यों दहि गयो।

अब पछिताये होत कहा है, वह पानप तेरो बहि गयो॥*

पैज तजी मुख कारो हूवो, धिक धिक जीवन तासु को।

बोध गयो ओछे की संगति, यह प्रताप कुबास को॥

चरणदास शुकदेव कहैं यों, टेक न देवो शिर देवो।

बार बार नर देह न पड़ये, अपयश जग में क्यों लेवो॥³

सन्त चरनदास जी परमार्थी को प्रेम और विश्वास में पतिव्रता के समान दृढ़ होने को कहते हैं। पतिव्रता पति-प्रेम की साक्षात् मूर्ति होती है। उसका पति से अथाह और अटल प्रेम होता है, इसलिए उसके अन्दर पति के प्रति अटल विश्वास होता है। प्रेम और विश्वास का श्रृंगार करनेवाली पतिव्रता सेवा, आज्ञा-पालन, त्याग और कुरबानी की भी मूर्ति होती है। उसके ध्यान का एकमात्र केन्द्र उसका पति होता है। वह स्वप्न में भी पराये पुरुष की कल्पना नहीं करती। उसे पति के घर का दुःख भी प्रिय होता है। वह किसी भी दशा में पराये घर के सुखों की लालसा नहीं करती। इस प्रकार सच्चा परमार्थी केवल परमात्मा के ही प्रेम और ध्यान में मग्न रहता है। उसके लिए परमात्मा रूपी प्रियतम का प्रेम त्यागकर किसी अन्य इष्ट, देवी-देवता आदि की पूजा करना भक्ति के आदर्श से गिरना है।

* पानप=तेज, नूर।

सच्चे परमार्थी का सिर झुकता है तो एक राम के आगे, वह भाणा मानता है तो एक राम का, वह नाम जपता है तो एक राम का और विश्वास करता है तो एक राम का। वह अपने आप को बिना शर्त राम के आगे समर्पित कर देता है। जब वह पूरी तरह राम की शरण में आ जाता है, पूरी तरह राम का हो जाता है तो राम भी उस पर रीझकर उसे अपना बना लेता है और परम धाम के पूर्ण सुखों का स्वामी बना देता है। आपका तात्पर्य यह है कि प्रेम से विश्वास जागता है और विश्वास हर प्रकार की करनी और प्राप्ति का आधार बनता है:

पतिव्रता वहि जानिये, आज्ञा करै न भंग।

पिय अपने के रंग रतै, और न सोहै ढंग॥

अपने पिय कूँ सेइये, आन पुरुष तजि देह।

पर घर नेह निवारिये, रहिये अपने गेह॥

अज्ञाकारी पीव की, रहै पिया के संग।

तन मन सूँ सेवा करै, और न दूजो रंग॥

रंग होय तौ पीव को, आन पुरुष बिषरूप।

छाँह बुरी पर घरन की, अपनी भली जुधूप॥

अपने घर का दुख भला, पर घर का सुख छार।

ऐसे जानै कुल बधू, सो सतवंती नार॥

पति की ओर निहारिये, औरन सूँ क्या काम।

सबै देवता छोड़ि कै, जपिये हरि का नाम॥

खसम तुम्हारो राम है, इत उत रुख मत मारि।

चरनदास यों कहत हैं, यही धारना धारि॥

यह सिर नवै तो राम कूँ, नाहीं गिरियो टूट।

आन देव नहिं परसिये, यह तन जावो छूट॥

पतिव्रता कूँ ब्रत गहो, बिभिचारिन अंग टार।

पति पावै सब दुख नसैं, पावै सुख अपार॥

जब तू जानै पीव हीं, वह अपनो करि लेहि।

परम धाम में राखि कर, बाँह पकरि सुख देहि॥⁴

किन्तु परमात्मा के प्रति हमारे विश्वास का हाल यह है:

कुछ रेख दे कुछ भेख दे। कुछ निगाहे वाले शेख दे॥
कुछ लाटां वाली देवी दे। ते कुछ कुछ बाबे नानक दे॥⁵

हम सन्तों-महात्माओं के वचनों के आधार पर परमात्मा की भक्ति के लिए तैयार हो जाते हैं, पर साथ ही साथ देवी-देवताओं, तीर्थों, मूर्तियों और ग्रन्थों की भक्ति में भी लगे रहते हैं। सन्तों के सत्संग में जाते हैं और साथ ही क्रब्रों, श्मशानों, भैरो, दुर्गा, शीतला, गुजरे हुए पीरों-फ़क़ीरों की पूजा भी करते रहते हैं। यह विश्वास का ही नहीं, प्रेम का भी मज़ाक़ उड़ाना है। जब तक हृदय में एक परमात्मा का अटूट, अडिग विश्वास पैदा नहीं होता, परमार्थ में उन्नति का स्वप्न भी नहीं देखा जा सकता। सन्त चरनदास जी समझाते हैं कि सच्चे परमार्थी के हृदय में केवल निराकार परमेश्वर का प्रेम और विश्वास समाया होता है। परमात्मा और परमात्मा का प्रेम ही उसकी असली टेक होती है। वह न देवी-देवताओं की अर्चना-पूजा करता है, न तीर्थों में भटकता है और न ही किसी अन्य प्रकार के कर्मकाण्ड के प्रति आकर्षित होता है। उसके ध्यान का एकमात्र केन्द्र वह परमपिता परमेश्वर होता है:

प्रभु जू सरन तिहारी आयो।
जो कोइ सरन तिहारी नाहीं भ्रम भ्रम दुख पायो॥
औरन के मन देवी देवा मेरे मन तुहि भायो।
.....
तीरथ बरत सकल फल त्याग्यो चरन कमल चित लायो॥⁶

आप फ़रमाते हैं कि माया और काल के भ्रम में पड़े मनमुख, गृहस्थ और त्यागी कभी तीर्थों की ओर दौड़ते हैं, कभी तरह-तरह के भेष धारण करके अनेक प्रकार के कर्मकाण्ड का सहारा लेते हैं। वे यह नहीं जानते कि केवल सन्तजन ही परमात्मा के चरण-कमलों का ध्यान करना जानते हैं। ऐसे सन्तों के दर्शन से हर प्रकार के पाप-सन्ताप की मैल धुल जाती है। अज्ञानी लोग यह समझने का प्रयत्न नहीं करते कि उस निराकार परमेश्वर की भक्ति

हीरे के समान है, जब कि तीर्थों और मूर्तियों की भक्ति काँच के समान है। इसलिए परमात्मा के सच्चे भक्तों या सन्तों के चरण-कमलों की शरण को छोड़ किसी अन्य देवी-देवता की ओर दौड़ना व्यर्थ है:

हमारे चरन कैवल को ध्यान॥
मूरख जगत भरमता डोलै चाहत जल अस्नान॥
सब तीरथ वाही सूँ प्रगटे गंगा आदिक जान।
साकित गिरही बानेधारी हैं सब हीं अज्ञान॥
हरि सों हीरा छाँड़ दियो है पूजें काँच पखान।
हरि चरन की महिमा जानें हैं वे संत सुजान॥
जिनसे ये सब पातक नासैं नित होवै कल्याण।
भोंदू नर माया के चरे इनको कह पहिचान॥
चरनदास सुकदेव गुरु ने दीन्हो अंजन ज्ञान।
साँचो प्रीतम जानि परो है बिसरि गयो सब आन॥⁷

आप उपदेश करते हैं कि सतगुरु और उसके बताये साधन और मार्ग में अटल, अटूट विश्वास होना चाहिए। आप फ़रमाते हैं कि कितने भी संकट आयें और कितना ही विरोध हो, रण-भूमि में उतरा हुआ सूरमा, पति के साथ सती होने के लिए निकली पतिव्रता और दान का प्रण पूरा करने के लिए निकला दानी जान दे देते हैं, पर अपना प्रण या धर्म नहीं छोड़ते। इसी प्रकार परमात्मा के सच्चे भक्त हर प्रकार के दुःख, संकट और रुकावटों का डटकर सामना करते हैं। वे अपना तन, मन और धन सबकुछ न्योछावर कर देते हैं, पर प्रभु-भक्ति, सतगुरु-भक्ति और नाम-भक्ति के मार्ग से कभी विचलित नहीं होते। उनका क्रदम सदा आगे ही बढ़ता है और वे हर स्थिति में अपने प्रण को अवश्य निभाते हैं:

साधो टेक हमारी ऐसी।
कोटि यतन करि छूटै नाहीं, कोउ करो अब कैसी॥
यह पग धरो सँभाल अचल हो, बोल चुके सोइ बोली।
गुरु मारग में ले मन दीन्हो, अब इत उत नहिं डोली॥

जैसे शूर सती अरु दाता, पकरी टेक न टारैं।
 तन करि धन करि मुख नहिं मोड़ैं, धर्म न अपनो हारैं ॥
 पावक जारो जल में बोरो, टूक टूक करि डारो।
 साधु संगति हरि भगति न छाँड़ैं, जीवन प्राण हमारो ॥
 पैज न हारूँ दाग न लागे, नेक न उतरै लाजा।
 चरणदास शुकदेव दया सँ, सब विधि सुधरै काजा ॥⁸

आप एक अन्य पद में फ़रमाते हैं कि सच्चा प्रभु-भक्त और गुरु-भक्त अपना ध्यान सब ओर से हटाकर राम-नाम में लीन कर देता है। वह जप-तप, पूजा-पाठ, दान-पुण्य, तीर्थ-व्रत या अन्य किसी प्रकार की पूजा और भक्ति की ओर मुख नहीं करता। जिस प्रकार कामी का ध्यान सदा स्त्री में, लोभी का माया में और नशेबाज़ का नशीले पदार्थ में रहता है, उसी प्रकार परमात्मा के भक्त का ध्यान परमात्मा के शब्द या नाम में रहता है। जिस प्रकार हमारे अनेक प्रयत्न करने पर भी हारिल पक्षी पकड़ी हुई लकड़ी नहीं छोड़ता, उसी प्रकार परमात्मा का भक्त किसी भी दशा में राम-नाम की ओर से ध्यान नहीं हटाता। राम-नाम उसके रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है। नाम के बिना उसका जीवित रहना ही असम्भव हो जाता है:

हमारे राम नाम की टेक टारी ना टरै।
 लाख करो कोइ कोटि करो जी, काहू तैं कुछ नाहिं सरै ॥
 ज्यों कामी कूँ तिरिया प्यारी, ज्यों लोभी को दाम।
 अमलदार कूँ अमल पियारो, ऐसे हम कूँ राम ॥
 दुष्ट छुटावै गहि गहि पकरो, हारिल की लकड़ी भई।
 अब कैसे करि छुटे मोसों, रोम रोम तन मन मई ॥⁹

आप फ़रमाते हैं कि परमात्मा के भक्त की परमात्मा और उसके नाम के प्रति इतनी गहरी और प्रबल प्रीति होती है जितनी सूरमा की शस्त्र से, बनिये की तराजू से, मकड़ी की तार से, पतिव्रता की पति से, कामी की स्त्री से, कंजूस की धन से और बालक की माता से होती है। जिस प्रकार दीपक को तेल से, अग्नि को ईंधन से और मछली को जल से अटूट प्यार होता है,

उसी प्रकार परमात्मा के भक्तों का सतगुरु की संगत और परमात्मा के नाम से प्यार होता है। एक बार सतगुरु की शरण में आकर वे फिर उन्हें कभी नहीं छोड़ते और अडिग विश्वास से उनके बताये भजन-सुमिरन में लगे रहते हैं:

साधो जो पकरी सो पकरी।
 अब तो टेक गही सुमिरण की, ज्यों हारिल की लकरी ॥
 ज्यों शूरा ने शस्त्र लीन्हो, ज्यों बनिये ने तखरी।
 ज्यों सतवंती लियो सिंधौरा, तार गह्यो ज्यों मकरी ॥^{*}
 ज्यों कामी कूँ तिरिया प्यारी, ज्यों किरपण कूँ दमरी।
 ऐसे हम कूँ राम पियारे, ज्यों बालक कूँ ममरी ॥[†]
 ज्यों दीपक कूँ तेल पियारो, ज्यों पावक कूँ समरी ॥[‡]
 ज्यों मछली कूँ नीर पियारो, बिछुरे देखै यमरी ॥
 साधों के संग हरि गुण गाऊँ, ताते जीवन हमरी।
 चरणदास शुकदेव दृढ़ायो, और छुटी सब गमरी ॥^{§ 10}

सन्त चरनदास जी साधु या सन्त को सूरमा कहते हैं:

साधू पैज गहै सोइ शूरा।
 वाके मुख पर नूर रहै, जब बाजै मारूतूरा ॥¹¹
 ना कोइ संत समान है सूर।

 सुरत को तीर हृदय को तरकस ध्यान कमान बनावै।
 प्रेम हाथ सँ खेंचन लागै चोट निसाने लावै ॥

 चित में चाव चौगुनो उनके सुनि सुनि अनहद तूरा।

* सिंधौरा=सिंदौरा अर्थात् सिंदूरदानी, जिसे लेकर पतिव्रता स्त्री पति के शव के साथ सती हुआ करती थी।

† ममरी=माता।

‡ पावक=अग्नि; समरी=हवा।

§ गमरी=चिन्ता, परवाह।

अगम पंथ सूँ पग न डिगावै होय जाय चकचूरा ॥
मन हुलास आस धर पिय की सुनत खेत में धावै ।
चरनदास सुकदेव कहत हैं अमर लोक पद पावै ॥¹²

ये दोनों वर्णन शब्द के अभ्यास के सम्बन्ध में हैं। आप फ़रमाते हैं कि जिस साधक के मन में सतगुरु और शब्द का पक्का भरोसा होता है, वह सूरमा की भाँति दृढ़तापूर्वक शब्द की कमाई करता है। उच्च रूहानी मण्डलों में शब्द की धारा इतनी प्रबल होती है कि केवल विश्वास और धैर्य से सज्जित सूरमा ही इस धारा के सम्मुख खड़ा हो सकता है। आप कहते हैं कि शब्द में चकनाचूर हो जानेवाला, शब्द की धारा में अपना अस्तित्व खो देने वाला प्रेमी ही सच्चा सूरमा है और वही सतलोक की बादशाहत का अधिकारी बनता है।

पलटू साहिब का कथन है: 'मीठ बहुत सतनाम है पियत निकारै जान।' ¹³ मीराबाई कहती हैं, 'सबद सुनत मेरी छतियाँ कं पै।' ¹⁴ अर्थात्, शब्द का अभ्यास कोई खाला जी का घर नहीं। इसे पाना और इसमें रम जाना अत्यन्त वीरता और बहादुरी का काम है। कबीर साहिब के शब्दों में:

गगन दमामा बाजिओ परिओ नीसानै घाउ ॥
खेतु जु मांडिओ सूरमा अब जूझन को दाउ ॥
सूरा सो पहिचानीऐ जु लरै दीन के हेत ॥
पुरजा पुरजा कटि मरै कबहू न छाडै खेतु ॥¹⁵

गुरु नानक साहिब भी कहते हैं कि शब्द की वाणी की धारा इतनी प्रबल है कि केवल महाबली, योद्धा या सूरमा ही उस धारा के आगे खड़े रह सकते हैं। ऐसे सूरमा, योद्धा या महाबली वही हैं जिन्होंने अपना अस्तित्व शब्द में फ़ना या विलीन कर दिया है, जिनके रोम-रोम में शब्द या राम समा गया है:

करम खंड की बाणी जोरु ॥ तिथै होरु न कोई होरु ॥
तिथै जोध महाबल सूर ॥ तिन महि रामु रहिआ भरपूर ॥¹⁶

चेतावनी

सन्त चरनदास जी की वाणी में चेतावनी के बहुत-से शब्द हैं। आप शरीर और इन्द्रियों के भोगों तथा सांसारिक रिश्तों की असारता बतलाते हुए जीवात्मा को बार-बार मनुष्य-जन्म की महत्ता समझाते हैं, ताकि जीवात्मा संसार के मोह को त्यागकर परमात्मा के प्रेम में लीन हो सके।

मनुष्य-जन्म का दुर्लभ अवसर

सन्त चरनदास जी जीवात्मा को बार-बार चेतावनी देते हैं कि मनुष्य-देह परमात्मा की ओर से बख्शा गया दुर्लभ वरदान है। आत्मा के चौरासी लाख योनियाँ भोगने के बाद परमात्मा यह अवसर उसे अपनी भक्ति के लिए बख्शता है ताकि मनुष्य सदा के लिए आवागमन के बन्धनों से आजाद हो जाये। इन्द्रियों के भोग तो पशु भी भोगते हैं। काम, क्रोध, नींद, भूख, प्यास और सन्तान का प्यार पशु-पक्षियों में भी होता है। मनुष्य-शरीर का वास्तविक महत्त्व प्रभु-भक्ति, सतगुरु-भक्ति, नाम-भक्ति और सत्संग द्वारा अपनी लिव परमात्मा के चरण-कमलों से जोड़ने में है, जिससे मनुष्य इस दुःख-सन्ताप के संसार से आजाद होकर सदा के लिए निज-धाम में पहुँच जाता है जो परम सुख का भण्डार है। जो व्यक्ति इस दुर्लभ अवसर को इन्द्रियों के भोगों, विषय-विकारों और संसार के झूठे धन्धों में बरबाद कर देता है, वह फिर चौरासी के लम्बे चक्कर में पड़ जाता है:

भरमि भरमि चौरासी आयो, मनुषा देही पाई।

या तन की कछु सार न जानी, फिर आगे चौरासी आई ॥

आँख उघारि समुझ मन माहीं, हिरदय करौ बिचारा।
ऐसा जन्म बहुरि कब पैहौ, बिरथा खोवौ जग ब्यौहारा ॥¹

आप सावधान करते हैं कि मनुष्य-जन्म का सुअवसर बार-बार नहीं मिलता। मनुष्य-जन्म को उस उद्देश्य की सिद्धि में लगाना चाहिए जिसके लिए यह दिया गया है, नहीं तो अनन्त काल तक अपनी नासमझी का दुःखदायक फल भोगना पड़ेगा:

भर्मत भर्मत मनुष भयो है, ऊँचे आय चढ़ो रे।
लख चौरासी योनि भुगत करि, फिर तामें न परो रे ॥
अबके चूके बहु पछितैहो, मान वचन तू मोरे।
चरणदास शुकदेव कहत हैं, हरिपद सुरति धरो रे ॥²

आप उपरोक्त पद में 'हरिपद सुरति धरो रे' का उपदेश देते हैं। आप भक्ति-हीन प्राणी की तुलना तेली के बैल और धोबी के गधे से करते हैं जो सारा दिन पराये धन्धे में लगे रहते हैं, बेहद दुःख उठाते हैं, पर जिन्हें इसका कुछ भी लाभ नहीं होता। उनका मालिक उन्हें सारा दिन बेदर्दी से काम में लगाये रखता है और रात को गन्दगी के ढेर पर छोड़ देता है। इसी प्रकार परमात्मा की भक्ति से मुँह फेर लेनेवाले प्राणी अपना लोक और परलोक दोनों बिगाड़ लेते हैं:

अरे नर अफल जन्म मत खो रे।
ज्यों तेली को बैल फिरत है, निशिदिन कोल्हू धोरे ॥^{*}
भक्ति विहीने खर ह्वे आये, ढोवत बोझा रोरे।
साँझ भये वाकूँ वाको पति, घूरे ऊपर छोरे ॥^{†3}

आप परमात्मा की भक्ति और साधु की संगति के लिए मिले दुर्लभ जन्म को स्त्री, सन्तान, धन-दौलत, महल-बैंगले और संसार की झूठी मान-बड़ाई

* धोरे=निकट।

† घूरे=कूड़ा डालने की जगह।

की प्राप्ति के लिए नष्ट करनेवाले व्यक्ति को मूर्ख और अज्ञानी कहते हैं। वह लोक-परलोक में कभी सच्चा सुख प्राप्त नहीं कर सकता। वह चौरासी के दुःखदायक चक्कर में ही पड़ा रहता है:

फिरि फिरि मूरख जन्म गँवायो।
हरि की भक्ति साधु की संगति, गुरु के चरनन में नहिं आयो ॥
धन के जोरन को दृढ़ कीन्हो, महल करन ब्रत धारो।
टेक पकड़ करि नारी सेई, सिर पर बोझ लियो अति भारो ॥
हैं हैं दुख नाना बिधि केरो, तन मन रोग बढ़ायो।
जीवत मरत नहीं सुख पैहौ, आवा गवन कूँ बीज जगायो ॥⁴

आप परमात्मा की भक्ति को अपना सच्चा काम और संसार के धन्धों को पराया और झूठा काम कहते हैं। आप चेतावनी देते हैं कि पराये और झूठे कामों में उलझे रहनेवाले व्यक्ति मनुष्य-जन्म से लाभ प्राप्त करने के बजाय अपने बहुमूल्य स्वासों की मूल पूँजी भी व्यर्थ ही बरबाद कर डालते हैं। वे मूढ़ यह नहीं समझते कि परमात्मा के नाम की भक्ति के बिना दुनिया और देह के बन्धनों से मुक्ति पाना असम्भव है:

औसर खोवै पर के काजे, अपनो मूल गँवावै रे।
बिन हरिनाम नहीं छुटकारो, बेद पुरान बतावै रे ॥⁵

आप उपदेश करते हैं:

भरमत भरमत आइया, पाई मानुख देंह।
ऐसो औसर फिर कहाँ, नाम सिताबी लेह ॥⁶

आप कहते हैं कि परमात्मा ने मनुष्य-देह का जो वरदान बख्शा है, इसका लाभ उठाकर परमात्मा की भक्ति का मार्ग अपनाना चाहिए। सत्संग के साबुन से मन की मलिनताएँ धोकर आत्मा को परमात्मा के भजन या शब्द में लीन करना चाहिए। शरीर के अन्दर शब्द की अद्भुत धुनें दिन-रात गूँज रही हैं। आत्मा इन धुनों में लीन होकर सच्चे आनन्द का रस लेती हुई

सहज ही भवसागर को पार कर निज-घर लौट सकती है। मनुष्य-जन्म को सफल बनाने का यही एक उपाय है :

आवो साधो हिलि मिलि हरि जस गावैं ।
 प्रेम भक्ति की रीति समुझ करि हित सँ राम रिझावैं ॥

 अब की औसर भलो बनो है बहुरि दाँव कब पावैं ।
 भजन प्रताप तरैं भव सागर उर आनंद बढ़ावैं ॥
 सतसंगति को साबुन लेकर ममता मैल बहावैं ।
 मन कूँ धो निरमल करि उज्जल मगन रूप हो जावैं ॥
 ताल पखावज झाँझ मजीरा मुरली संख बजावैं ।
 चरनदास सुकदेव दया सँ आवागवन मिटावैं ॥⁷

आप चेतावनी देते हैं :

रे नर जन्म पदारथ खोया रे ।
 बीती अवधि काल जब आया, शीस पकरि कै रोया रे ॥
 अब क्या होय कहा बनि आवै, माहिं अविद्या सोया रे ।
 साधु संग गुरु सेव न चीन्ही, तत्त्व ज्ञान नहिं जोया रे ॥
 आगे से हरि भक्ति न कीन्ही, रसना राम न पोया रे ।
 चौरासी यम दंड न छूटै, आवागमन का दोया रे ॥
 जो कछु किया सोई अब पावो, वही लुनौ जो बोया रे ।
 साहिब साँचा न्याव चुकावै, ज्यों का त्योहीं होया रे ॥
 कहूँ पुकारे सब सुनि लीजो, चेति जाव नर लोया रे ।
 कहैं शुकदेव चरणहीदासा, यह मैदान यह गोया रे ॥⁸

आप उपदेश करते हैं :

रे नर क्यों गवाँवै जनम ।
 आयु तेरी जाय बीती, नाहिं जानै मरम ॥
 जनम पा हरिभजन करि ले, देह को यही धरम ।

लोक अरु परलोक सुधरै, रहै तेरी शरम ॥
 भक्ति सम कछु नाहिं दीखै, योग यज्ञ तप करम ।
 आन धर्म विचार त्यागो, मेट थोथे भरम ॥
 चरणदास सतसंग मिलि कै, आव हरि की शरण ।
 राम सुखदाई सुमिरि ले, वही तारण तरण ॥⁹

गुरु अर्जुन साहिब सावधान करते हैं :

लख चउरासीह जोनि सबाई ॥ माणस कउ प्रभि दीई वडिआई ॥
 इसु पडड़ी ते जो नरु चूकै सो आइ जाइ दुखु पाइदा ॥¹⁰

दादू साहिब भी सचेत करते हैं :

बार बार यहु तन नहीं, नर नारायण देह ।
 दादू बहुरि न पाइये, जनम अमोलिक येह ॥¹¹

पलटू साहिब कहते हैं :

पलटू नर तन पाइ कै, भजै नहीं करतार ।
 जमपुर बाँधे जाहुगे, कहौं पुकार पुकार ॥¹²

स्वामी जी महाराज भी बार-बार चेतावनी देते हैं :

मिली नर देह यह तुम को । बनाओ काज कुछ अपना ॥¹³
 यह तन दुर्लभ तुमने पाया । कोटि जन्म भटका जब खाया ॥
 अब या को बिरथा मत खोवो । चेतो छिन छिन भक्ति कमावो ॥¹⁴
 अब यह देह मिली किरपा से । करो भक्ति जो कर्म दहा ॥¹⁵

शरीर नश्वर है

मनुष्य-जन्म एक दुर्लभ अवसर और अमूल्य वरदान है, पर शरीर मिट्टी के खिलौने के समान क्षण भर का मेहमान है। ओले की भाँति यह शीघ्र

ही नष्ट हो जानेवाला है। यह काँच के बरतन के समान है जो मामूली-सी ठोकर लगते ही चकनाचूर हो जाता है। ऐसे जर्जर और क्षणभंगुर शरीर का अभिमान या भरोसा करना निपट मूर्खता है:

या तन को कहा गर्व करत है, ओला ज्यों गलजावै रे।

जैसे बर्तन बनो काँच को, ठबक लगे बिगसावै रे।¹⁶

तन का तनिक भरोसा नहीं, काहे करत गुमाना रे॥

ठोकर लगे नेकहूँ चलतै, करि हैं प्रान पयाना रे॥¹⁷

आप चेतावनी देते हैं कि शरीर का एक क्षण का भी भरोसा नहीं है। पता नहीं किस पल शरीर के पिंजरे से प्राणों का पक्षी उड़ जाये। साँस गिनती के हैं। खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते, पल-पल साँसों की पूँजी घटती जा रही है। जिस धन-दौलत या पद का जीव मान करता है और जिससे आकर्षित होकर यह जीवन के मूल उद्देश्य को भी भुला देता है, वह देखते-देखते पराया हो जाता है या नष्ट हो जाता है। संसार चला-चली का मेला है। सदा के लिए न कोई पहले जग में रह सका है, न भविष्य में रह सकेगा। धर्म-ग्रन्थ और सन्त-महात्मा जीवात्मा को चेतावनी देते हैं कि तू शरीर और संसार को सत्य समझने की मूर्खता त्यागकर राम-नाम से लिव जोड़, क्योंकि वही सारभूत वस्तु है और उसी की प्राप्ति से मानव-जीवन सफल हो सकता है:

दम का नहीं भरोसा रे, करि ले चलने का सामान।

तन पिंजरे सों निकसि जायगो, पल में पक्षी प्रान॥

चलते फिरते सोवत जागत, करत खान अरु पान।

क्षण क्षण क्षण क्षण आयु घटत है, होत देह की हान॥

माल मुल्क अरु सुख सम्पति में, क्यों हूवा गलतान।

देखत देखत बिनशि जायगो, मत करि मान गुमान॥

कोई रहन न पावै जग में, यह तू निश्चय जान।

अजहूँ समुझि छाँड़ि कुटिलाई, मूरख नर अज्ञान॥

टेरि चितावैं ज्ञान बतावैं, गीता वेद पुरान।

चरणदास शुकदेव कहत हैं, रामनाम उर आन॥¹⁸

सन्त चरनदास जी चेतावनी देते हैं: 'आज मरै कै कोटि बर्स लौं अंत नहीं ठहराय।' ¹⁹ आयु चाहे कितनी भी लम्बी क्यों न हो जाये, पर मृत्यु निश्चित ही है। जो योगी-योगीश्वर यह दावा करते थे कि हमने मौत को वश में कर लिया है, आज उनकी हस्ती का कुछ पता नहीं। रावण और कुम्भकर्ण जैसे वीर मिट्टी में मिल गये। हिरण्यकश्यप ने वरदान प्राप्त किया था कि उसकी मौत न इनसान के हाथों से और न हैवान के हाथों से होगी, न सूर्य के रहते होगी, न सूर्य के डूबने पर होगी, न घर के अन्दर और न घर के बाहर होगी, न ज़मीन पर और न आसमान पर होगी। ऐसा वर प्राप्त करने के बाद भी हिरण्यकश्यप की मौत हुई। इसी प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा सौ अपराधों के क्षमा किये जाने का वरदान पाने वाला शिशुपाल भी आखिर उनके हाथों मारा गया। शंकर से अमर जीवन का वरदान पानेवाले भी जीवित न रह सके। इसलिए आप उपदेश करते हैं: 'छाँड़ि जगत की आस', अर्थात् संसार में सदा जीवित रहने की मूर्खतापूर्ण आशा छोड़कर हमें परमात्मा की भक्ति द्वारा अमर जीवन को प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए:

थिर नहिं रहना है आखिर मौत निदान॥

देखत देखत बहुतक बिनसे आवत तुम्हरी बारि।

जतन करो कोइ नाना बिधि के बचै नहीं नर नारि॥

वे जोगेस्वर बस करि मौतै जड़ दियौ बज्र किवाड़।

हैं बैठे ज्यों मरना नहीं माटी हैं गये हाड़॥

कित गये रावन कुंभकरन से हरनाकुस सिसुपाल।

संकर दियो अमर बर जिनको सो भी खाये काल॥

यह तन बरतन काँच को रे ठेस लगे खुलि जाय।

आज मरै कै कोटि बर्स लौं अंत नहीं ठहराय॥

बीतत अवधि चलावा आवै छाँड़ि जगत की आस।

गुरु सुकदेव चितावैं तो कूँ समुझ चरन हीं दास॥²⁰

मौत गरीब-अमीर, निर्बल-बलवान, राजा-रंक, अनपढ़-विद्वान, स्त्री-पुरुष का भेद नहीं करती। बड़े-बड़े राजा, योद्धा, ऋषि-मुनि और गुणी-ज्ञानी भी मौत के समक्ष बेबस और लाचार हो गये। मौत से न रिश्तेदार-सम्बन्धी बचा सकते हैं, न धन-दौलत और न राज-पाट। जब धरती, सूर्य, चन्द्र, सितारे, खण्ड-ब्रह्माण्ड नश्वर हैं तो मनुष्य की भला क्या गिनती है? केवल वह परमपिता परमेश्वर अमर, अविनाशी है। इसलिए मन को उस प्रभु की भक्ति में लीन करना चाहिए। सन्त-सतगुरु की संगति का लाभ उठाकर सुमिरन और ध्यान की सहायता से सुरत को शब्द या नाम से जोड़ने में ही हमारा कल्याण है। तभी हम अमरत्व की प्राप्ति कर सकते हैं:

क्या दिखलावै सान यह कुछ थिर न रहैगा।
 दारा सुत अरु माल मुलुक का कहा करै अभिमान॥
 रावन कुंभकरन हरनाकुस राजा कर्न समान।
 अरजुन नकुल भीम से जोधा माटी हुए निदान॥
 छिन छिन तेरो तन छीजत है सुन मूरख अज्ञान।
 फिर पछताये कहा होयगा जब जम घेरै आन॥
 बिनसैं जल थल रबि ससि तारे सकल सृष्टि की हानि।
 अजहूँ चेत हेत करु हरि सँ ताही को पहिचान॥
 नवधा भक्ति साधु की संगति प्रेम सहित कर ध्यान।
 चरनदास सुकदेव हिं सुमिरौ जो चाहौ कल्याण॥²¹

शरीर बालू के ढेर और बिजली की चमक के समान अस्थिर और चंचल है। जब शरीर ही अपना पक्का साथी नहीं है तो शरीर द्वारा जिन वस्तुओं और व्यक्तियों को हम अपना बनाने का प्रयत्न करते हैं, वे भला किस तरह अपने बन सकते हैं? जब काल का झपट्टा पड़ता है तो संसार के सब साज-सामान, महल-बँगले आदि यहीं के यहीं पड़े रह जाते हैं। जिन वस्तुओं को सारी आयु 'मेरी, मेरी' कहते नहीं थकते, उनमें से कोई भी वस्तु मृत्यु के समय साथ नहीं जाती। इसलिए जीवात्मा को शीघ्र से शीघ्र मायामय पदार्थों का मोह त्यागकर परमात्मा के भजन में लग जाना चाहिए:

यह तन बालू का सा डेरा।
 जैसे दामिनि दमक चमक को, क्षण नहीं रहत उजेरा॥
 मैड़ी मण्डप मुल्क खजानो, अरु परिवार घनेरा।
 सो सब कौतुक सो दीखत है, राम सँभार सबेरा॥
 गज घोड़ा अरु चाकर चेरा, आखिर कोई न तेरा।
 जिनके कारण भर्मत डोलै, करता मेरा मेरा॥
 थोड़े से जीवन के काजे, बहुतै करत बखेरा।
 काल बली की खबर नहीं जब, करहिं अचानक घेरा॥
 कहैं शुकदेव समझ नर भोंदू, छाँड़ि विषय उरझेरा।
 चरणदास हरिनाम भजन बिन, कैसे होय निबेरा॥²²

शरीर क्षणभंगुर है, यह मात्र छलावा है। बीमारी, बुढ़ापे, जहर, तीर या तलवार के जख्म आदि का बहाना करके मौत शरीर को नष्ट कर देती है। चाहे जितने मर्जी दान-पुण्य, जप-तप कर लें, ग्रह-नक्षत्र और देवी-देवताओं की पूजा कर लें, प्राणायाम, धौती, वस्ति, नेती आदि क्रियाएँ कर लें, शरीर को मौत के आघात से नहीं बचाया जा सकता। जीवन झूठ और मौत सत्य है। जीवन अनिश्चित और मौत निश्चित है। आप सावधान करते हैं कि पिछली अवधि तो संसार के झूठे धन्धों में बीत गयी है, बाक़ी भी कहीं इसी तरह व्यर्थ न चली जाये। जीवन के रहते-रहते परमात्मा की भक्ति, नाम के सुमिरन, गुरु-भक्ति और सत्संग में समय लगाकर मनुष्य-जन्म का वास्तविक ध्येय पूरा कर लेना चाहिए:

छिन भंगी छल रूप यह तन ऐसा रे॥
 जा को मौत लगौ बहु बिधि सँ नाना अंग ले बान।
 बिख अरु रोग सस्त्र बहुतक हैं और बिघन बहु हान॥
 निस्चै बिनसै बचै न क्यों ही जतन किये बहु दान।
 गृह नच्छत्र अरु देव मनावैं साधैं प्रान अपान॥
 अचरज जीवन मरिबो साँचो यह औसर फिर नाहिं।
 पिछले दिन ठगियन संग खोये रहे सो योंहीं जाहिं॥

जो पल है सो हरि कूँ सुमिरौ साध संगति गुरुसेव।
चरनदास सुकदेव बतावैं परम पुरातन भेव ॥²³

बाबा फ़रीद जी लिखते हैं:

जे सउ वर्हिआ जीवणा भी तनु होसी खेह ॥²⁴

फिर कहते हैं:

फरीदा किथै तैडे मापिआ जिन्ही तू जणिओहि ॥
तै पासहु ओइ लदि गए तूं अजै न पतीणोहि ॥²⁵

अर्थात्, अगर कोई संसार में सदा रह सकता तो हमसे पहले आये लोग यहाँ से क्यों चले जाते? यक्ष ने युधिष्ठिर से पूछा कि संसार की सबसे आश्चर्यजनक बात कौन-सी है? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि सबसे आश्चर्यजनक बात यह है कि लोग प्रतिदिन दूसरों को मरते देखते हैं, फिर भी अपनी मृत्यु को भूले रहते हैं। हम गहरी नींव खुदवाकर सुन्दर और मजबूत महल बनवाते हैं। पुराणों में मार्कण्डेय को सबसे लम्बी आयु वाला ऋषि माना गया है। उसने अपने रहने के लिए कुटिया भी नहीं बनाई थी। वह क्षणभंगुरता की निशानी के रूप में सिर पर एक तिनका रखा करता था। किसी ने पूछा कि आप कोई मकान या कुटिया क्यों नहीं बनाते? मार्कण्डेय ने उत्तर दिया कि मकान या झोंपड़ी तब बनाऊँ जब ज़िन्दगी का कोई भरोसा हो। सन्त नामदेव जी कहते हैं:

गहरी करि कै नीव खुदाई ऊपरि मंडप छाए ॥
मारकंडे ते को अधिकाई जिनि त्रिण धरि मूंड बलाए ॥²⁶

मित्र-सम्बन्धी

मनुष्य मित्र-सम्बन्धियों को अपना समझकर अपना बहुमूल्य जीवन उनके लेखे लगा देता है। वह उनके मोह में इस प्रकार खो जाता है कि अपनी मौत को भी भूल जाता है और जीवन का वास्तविक उद्देश्य भी आँखों से

ओझल कर देता है। सन्त चरनदास जी सावधान करते हैं कि संसार के सब रिश्ते स्वार्थ से जुड़े हुए हैं। जब तक इच्छाएँ पूरी होती रहती हैं, सब मित्र-सम्बन्धी अपना समझते हैं, पर न कष्ट में कोई किसी का साथ देता है और न अन्त समय में ही कोई साथ जाता है। आप उपदेश करते हैं कि संसार में कोई किसी का सच्चा मित्र, हितैषी या रिश्तेदार नहीं है। इसलिए इनके मोह में पड़कर जीवन को गँवाना नहीं चाहिए। अपना तो केवल एक परमात्मा है, इसलिए उसे ही अपना बनाने का प्रयत्न करना चाहिए:

अपना हरि बिन और न कोई।

मातु पिता सुत बंधु कुटुंब सब स्वारथ हीं के होई ॥

घर की नारि बहुत हीं प्यारी तिन में नाहीं दोई।

जीवत कहती साथ चलूँगी डरपन लागी सोई ॥

.....

या जग में कोई हितू न दीखै मैं समझाऊँ तोई।

चरनदास सुकदेव कहैं यों सुनि लीजै नर लोई ॥²⁷

प्रत्येक व्यक्ति का अपना अनुभव है कि जब धन पास होता है तो सब रिश्तेदार, मित्र, सम्बन्धी रिश्ते स्थापित करके उसे घेर लेते हैं। जब कोई मुसीबत आती है तो सभी साथ छोड़कर इधर-उधर खिसक जाते हैं। जिन रिश्तेदारों के लिए जीव बन्दर के समान घर-घर नाचता फिरता है, उनमें से कोई अन्त-समय साथ नहीं देता। जिस देह से वह इतना मोह करता है, उसी देह को अपवित्र, गन्दा या पलीत कहकर झटपट घर से निकालने की कोशिश करते हैं और अन्त में जलाकर राख कर देते हैं। आप सावधान करते हैं कि मनुष्य संसार में मुट्ठी बन्द करके आता है, पर जाते समय खाली हाथ जाता है। दुःख इस बात का है कि मनुष्य स्वासों की अमूल्य पूँजी और मनुष्य-जन्म का अमूल्य अवसर जड़ और चेतन माया अर्थात् धन-दौलत और स्त्री आदि के मोह में नष्ट कर लेता है और मरते समय तक झूठे संसार की झूठी वस्तुओं में ही खोया रहता है। सत्संग, गुरु-सेवा और राम-नाम के सुमिरन की ओर ध्यान ही नहीं देता:

हरि बिन कौन तुम्हारो मीता।
 कुटुंब सँघाती स्वारथ लागे, तेरी काहूको नहिं चीता।
 तैं प्रभु ओरी सों मुख मोड़ा, झूठे लोगन सों हित कीता॥
 अरु तैं अपनी आँखों देखा, कई बार दुख सुख हो बीता।
 सम्पति में सबही घिरि आवैं, विपति परे अधिकी दुख दीता॥

 धरि धरि स्वांग फिरै तिन कारण, कपि ज्यों नाचत ताता धीता।
 मुये न संगी होहिं तिहारे, बाँध जलावैं देह पलीता॥
 गुरु सेवा सतसग न कीन्ही, कनक कामिनी सों करि प्रीता।
 चरणदास शुकदेव कहत हैं, मरत मरत हरिनाम न लीता॥²⁸

जो रिश्तेदार प्यार और सहानुभूति का नाटक खेलते हुए नहीं थकते, वे अन्त समय में मुँह मोड़ लेते हैं। लोग शीघ्र से शीघ्र मुर्दे को घर से निकालना चाहते हैं। जिसके प्यार का दम भरते थे और जिसके गुणगान करते नहीं थकते थे, उसको बाँधकर चिता पर रख देते हैं और आग लगा देते हैं। आप चेतावनी देते हैं कि जीवित के लाखों मित्र-सम्बन्धी हैं, पर मृतक का कोई संगी-साथी नहीं। जीव का एकमात्र सच्चा मित्र और हितैषी परमपिता परमेश्वर है। जीव को चाहिए कि झूठे रिश्तेदारों का मोह त्यागकर परमात्मा से जो सच्चा उपकारी, मित्र और हितैषी है, प्रेम कर ले और परम पद की प्राप्ति करके सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त हो जाये:

साजन थे सो दुर्जन हूये, तन को बाँध निकारा।
 चिता सँवारि लिटा करि तामें, ऊपर धरा अँगारा॥
 ढह गया महल चहल थी जामें, मिलि गया माटी माहीं।
 पुत्र कलत्र भाई अरु बांधव, सबही ठोक जलाई॥
 देखत ही का नाता जग में, मुये सगा नहिं कोई।
 चरणदास शुकदेव कहत हैं, हरि बिन मुक्ति न होई॥²⁹

सन्त चरनदास जी जीव को चेतावनी देते हैं:

दुनिया मगन भये धन धाम।
 लालच मोह कुटुब के पागे, बिसरि गये हरिनाम॥
 एक घरी छुटकारो नाहीं, बाँध रहे आठों याम।
 पाँच प्रहर धंधे में माते, तीन प्रहर सँग बाम॥*
 फूले फिरत महा गर्वाये, पवन भरे ये चाम।
 दीप कलश ज्यों विनशि जायगो, या तन को यहि काम॥
 साधु संग गुरुसेव न कीन्ही, सुमिरे ना श्रीराम।
 चरणदास शुकदेव कहत हैं, कैसे पावै ठाम॥³⁰

कबीर साहिब लिखते हैं:

जब लगु तेलु दीवे मुखि बाती तब सूझै सभु कोई॥
 तेल जले बाती ठहरानी सूना मंदरु होई॥
 रे बउरे तुहि घरी न राखै कोई। तू राम नामु जपि सोई॥
 का की मात पिता कहु का को कवन पुरख की जोई॥
 घट फूटे कोऊ बात न पूछै काढहु काढहु होई॥
 देहुरी बैठी माता रोवै खटीआ ले गए भाई॥
 लट छिटकाए तिरीआ रोवै हंसु इकेला जाई॥
 कहत कबीर सुनहु रे संतहु भै सागर कै ताई॥
 इसु बंदे सिरि जुलमु होत है जमु नही हटै गुसाई॥³¹

हुजूर स्वामी जी महाराज भी सावधान करते हैं:

क्यों फिरत भुलानी जगत में, दिन चार बसेरा।
 स्वारथ के संगी सभी, जिन तुझ को घेरा।
 मात पिता सुत इस्तरी, कोई संग न हेरा।³²

* बाम=स्त्री।

आप उपदेश करते हैं :

कार्य मात्र बरतो इन माहीं। बहुत मोह में बहु दुख पाई ॥³³

जगत जाल में फँसो न भाई। निस दिन रहो भजन में ॥

साध गुरु का कहना मानो। रहो उदास जगत में ॥³⁴

जीवन का लक्ष्य तथा उसकी सिद्धि

सन्त चरनदास जी के सम्पूर्ण उपदेश पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि आपने जगत् को मन, माया और काल का क्षणभंगुर, नश्वर खेल माना है। आपने जीव को सांसारिक भोगों से बचे रहने के लिए सावधान किया है। आपने संसार के रिश्तों, सम्बन्धों, मान-बड़ाई को तुच्छ, असार, नश्वर और क्षणभंगुर कहा है। आपने परमात्मा की भक्ति द्वारा परमात्मा की प्राप्ति को मानव-जीवन का एकमात्र उद्देश्य माना है। पिछले अध्यायों में स्थान-स्थान पर सन्त चरनदास जी के विचारों की अन्य सन्तों-महात्माओं के विचारों से समानता दिखलाकर यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि सभी सन्तों-महात्माओं का यही मत है।

ऐसे विचारों को पढ़कर कुछ लोग घबरा जाते हैं। उन्हें ऐसा लगता है कि सन्तजन उनसे संसार का सुख छीनना चाहते हैं और उनके उद्यम के पाँवों में बेड़ियाँ डालना चाहते हैं। सन्तों के इन विचारों को ये लोग पलायनवादी कहते हैं। वे दलील देते हैं कि हमें संसार को सुधारने और जीवन में अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना चाहिए। ऐसे शिकवों का वास्तविक कारण यह है कि उन्हें न सन्तों की रूहानी पहुँच या उनके अनुभव की वास्तविकता का ज्ञान है और न वे सन्तों के समान व्यापक दृष्टि से संसार की और अपनी वास्तविकता को देखने में समर्थ हैं। सन्त चरनदास जी या किसी भी सन्त-महात्मा के विचारों के मर्म को समझने और उनसे पूरा लाभ उठाने के लिए कुछ बातों को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

पहली बात यह है कि संसार अपने आप नहीं बना है। यह परमात्मा की रचना है। दूसरी बात यह है कि यह रचना अपूर्ण और नश्वर है। तीसरी बात

यह है कि अपूर्ण और नश्वर रचना के सुख भी सदा अपूर्ण और नाशवान ही होंगे। पूर्ण परमात्मा चाहता तो रचना को पूर्ण बना सकता था, पर इस समय यह कठोर सत्य हमारे सामने है कि सर्वज्ञ परमात्मा ने कुछ उचित कारणों से रचना को अपूर्ण और नश्वर बनाया है। जिस जगत् को पूर्ण, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान परमात्मा ने अपूर्ण रचा है, वह सीमित इनसानी अक्ल और प्रयत्न से पूर्ण नहीं हो सकता। संसार में हजारों सन्त-महात्मा, गुरु-पीर, अवतार-पैगम्बर, समाज-सुधारक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, डॉक्टर, इंजीनियर आदि आ चुके हैं। उनके करोड़ों वर्षों के प्रयत्नों के बावजूद संसार आज तक पूर्ण नहीं बन सका।

रचना को बने करोड़ों ही नहीं असंख्य वर्ष हो चुके हैं, पर आज तक ऐसा प्रबन्ध नहीं हो सका कि सब लोग जन्म से ही पढ़े-लिखे, गुणी-ज्ञानी, नेक-पवित्र हों और प्रेम, सेवा, त्याग और अहिंसा की मूर्ति हों। हम अनपढ़ों को पढ़ा सकते हैं, रोगियों को रोग-मुक्त कर सकते हैं, पर अविद्या के रोग को नष्ट नहीं कर सकते। और क्या हमने बुढ़ापे और मौत पर विजय प्राप्त कर ली है?

यह रचना द्वैत, द्वंद्व, विरोध या संघर्ष का अखाड़ा है। प्रत्येक मनुष्य के अन्दर मन और आत्मा के बीच सदा युद्ध छिड़ा रहता है और संसार में भी काल की शक्तियों का दयाल की शक्ति के साथ संघर्ष निरन्तर जारी है। विरोध और संघर्ष के अखाड़े में अनेक प्रकार के भय, चिन्ता और त्रास छाये रहते हैं और हरएक को अपनी हस्ती के विनाश का भय सदा घेरे रहता है। एक ओर संसार की वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है और दूसरी ओर अपने हाथ में आई वस्तुओं के छिन जाने का भय बना रहता है। ऐसी रचना में कभी पूर्ण शान्ति, निश्चिन्तता और सुख की आशा करना अपने आप को धोखे और भ्रम में रखना है।

संसार के सुख हमें सुख प्रतीत होते हैं पर वास्तव में ये दुःख के मूल हैं। फिर इस सुख की असलियत क्या है? क्या राजपाट सुख का स्रोत है? घोर तपस्या करके राजा का जन्म प्राप्त होता है और राज-अभिमान में दुराचार करके नरक के भागी बनते हैं।

विषय भोगते समय सुखदायक प्रतीत होते हैं, पर ये शारीरिक और मानसिक शक्ति के ह्रास द्वारा दुःखों के द्वार खोल देते हैं। इसके अतिरिक्त, सांसारिक सुख और दुःख क्रमशः राग और द्वेष के संस्कार उत्पन्न करते हैं और ये संस्कार हमें बार-बार संसार में लाकर नचाते रहते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि संसार के हर प्रकार के भोग और सुख हमें निज-घर के परम सुख से दूर रखने का कारण बनते हैं। ये सुख हमें रचना से बाँधते हैं और रचनाकार से दूर ले जाते हैं। कबीर साहिब कहते हैं कि जिस सुख को हम सुख समझते हैं, वह वास्तव में दुःख का मूल है। इस सुख से तो देवी-देवता भी डरते हैं, पर हम इसे सत्य समझकर इसके लिए तड़पते हैं:

सुखु मांगत दुखु आगै आवै ॥ सो सुखु हमहु न मांगिआ भावै ॥

इसु सुख ते सिव ब्रह्म डराना ॥ सो सुखु हमहु साचु करि जाना ॥¹

गुरु नानक साहिब कहते हैं कि विषय-विकार, इन्द्रियों के भोग हमें बुरी तरह दुःखों की जंजीरों में जकड़ देते हैं:

सुखु मांगत दुखु आगल होइ ॥ सगल विकारी हारु परोइ ॥²

स्वामी जी महाराज सावधान करते हैं कि इन्द्रियों के भोग सुख की नहीं, दुःख की जड़ हैं:

यह सुख फिर दुख मूल दिखाय ॥³

गुरु नानक साहिब फ़रमाते हैं कि परमात्मा के अविनाशी और पूर्ण नाम को भुलाकर अपूर्ण और नश्वर जगत् की शक्तों, पदार्थों और भोगों में सुख की आशा रखनेवाले जुआरियों का दाँव कभी सीधा नहीं पड़ता:

ऐसा जगु देखिआ जूआरी ॥ सभि सुख मागै नामु बिसारी ॥⁴

हमें एक ओर इस संसार की असलियत समझने का प्रयत्न करना चाहिए और दूसरी ओर परमात्मा की अपार महिमा और कृपा का कृतज्ञतापूर्वक

गुणगान करना चाहिए कि उसने पूर्ण, अविनाशी मण्डल में पहुँचने का मार्ग भी रचा है। जब तक हम शरीर में हैं, हमें रोटी, कपड़े, मकान की जरूरत है और ये आवश्यकताएँ हमें पूरी करनी पड़ती हैं। जब तक शरीर में हैं, रिश्तेदारों-सम्बन्धियों से मिलना-जुलना आवश्यक है। कर्मों के भुगतान की दृष्टि से भी इस प्रकार करना अनिवार्य है। किसी भी पूर्ण सन्त ने घर और गृहस्थ को त्यागने का सन्देश नहीं दिया है। कोई भी पूर्ण सन्त जीव को अपाहिज की तरह अकर्मण्य बने रहने का उपदेश नहीं देता।

पूर्ण सन्तों ने अक्सर गृहस्थ का जीवन व्यतीत किया है। चरनदास जी जैसे त्यागी सन्तों ने भी अपनी जीविका का बोझ समाज पर नहीं डाला। कबीर साहिब, गुरु नानक साहिब, सन्त नामदेव, दादू साहिब, पलटू साहिब, स्वामी जी महाराज आदि सभी पूर्ण सन्तों ने हक्र-हलाल की कमाई द्वारा घर-गृहस्थी की सभी ज़िम्मेदारियाँ पूरी करते हुए स्वयं परमात्मा की भक्ति की और विशुद्ध परोपकार की भावना से दूसरे लोगों को परमात्मा की भक्ति का मार्ग दिखाया। उन्होंने अपने शिष्यों और सेवकों को सांसारिक ज़िम्मेदारियों निभाते और हक्र-हलाल की कमाई करते हुए परमात्मा से मिलाप करने की प्रेरणा दी।

सन्तजन जीव को तथाकथित संन्यासी या त्यागी नहीं बनाते। करनी के अध्याय में हम देख चुके हैं कि सन्त चरनदास जी ने जीवन के संघर्ष से घबराने वाले जीवों को कायर कहा है। आप उन लोगों की सख्त आलोचना करते हैं जो घर-गृहस्थी की ज़िम्मेदारियों से घबराकर साधुओं का भेष धारण कर लेते हैं और समाज पर बोझ बन जाते हैं।

सन्तजन जीव को यत्न और उद्यम का त्याग करना नहीं सिखाते, वे जीव के उद्यम का लक्ष्य और दिशा बदलना चाहते हैं। आदि ग्रन्थ की वाणी में इस प्रकार का उपदेश बार-बार आता है। गुरु अमरदास जी कहते हैं:

ध्रिगु ध्रिगु खाइआ ध्रिगु ध्रिगु सोइआ ध्रिगु ध्रिगु कापडु अंगि चड़ाइआ।
ध्रिगु सरीरु कुटंब सहित सिउ जितु हुणि खसमु न पाइआ।⁵

गुरु साहिब फ़रमाते हैं:

तिन का खाधा पैधा माइआ सभु पवितु है जो नामि हरि राते॥

तिन के घर मंदर महल सराई सभि पवितु हहि

जिनी गुरुमुखि सेवक सिख अभिआगत जाइ वरसाते॥⁶

जिसका लक्ष्य परमात्मा, नाम और परमार्थ है, उसका सबकुछ पवित्र है, जिसका लक्ष्य संसार के भोग-विलास हैं, उसका सबकुछ अपवित्र है। गुरु अर्जुन देव जी कहते हैं:

नानक सतिगुरि भेटिऐ पूरी होवै जुगति॥

हसंदिआ खेलंदिआ पैनंदिआ खावंदिआ विचे होवै मुकति॥⁷

पूर्ण सन्तों ने हमारे सामने 'लोक सुखी, परलोक सुहेले' का लक्ष्य रखा है। उनकी युक्ति सम्पूर्ण है। वह युक्ति प्रभु-भक्ति या नाम-भक्ति है जिसके द्वारा जीव इस लोक में सच्चे सुख का अधिकारी बनता है और सदा के लिए परमात्मा में विलीन होकर परम सुख का स्वामी भी बन जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि वह इस स्थूल और नश्वर जगत् के सुखों को अपना लक्ष्य बनाने के बदले इस मनुष्य-शरीर को उस पूर्ण और अविनाशी लोक की प्राप्ति का साधन बनाना चाहता है। जिसे तैरने की युक्ति नहीं आती, नदी का पानी उसे डुबोने का काम करता है। वही पानी युक्ति जाननेवाले को नदी से पार ले जाने का साधन बन जाता है। दुनियादार दुनिया के सुखों को लक्ष्य बनाता है, जब कि प्रभु-भक्त जीवन को प्रभु-प्राप्ति के लक्ष्य की पूर्ति का साधन। सन्त-जन हमसे दुनिया का सुख नहीं छीनना चाहते, वे हमारे सामने आत्मिक आनन्द का वह अद्भुत और अखूट भण्डार खोलना चाहते हैं जिसकी हमने कभी सपने में भी कल्पना नहीं की है।

अन्य सन्तों की तरह सन्त चरनदास जी भी क्षणभंगुर, नश्वर, दुःखदायक मायामय जगत् के बदले पूर्ण, अविनाशी और परम सुखदायी आत्मिक मण्डल की प्राप्ति का लक्ष्य हमारे सामने रखते हैं। आपने आत्मा और परमात्मा के निज-धाम को अमर लोक, निज लोक, चौथा पद, निर्वाण-पद, अगमपुरी,

बेगमपुर आदि नामों से पुकारा है। आप कहते हैं कि वह निश्चल धाम मन, माया और काल द्वारा पैदा की गयी नेकी-बदी, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, उतार-चढ़ाव की सीमा के परे है। वह सदा एक-रस, एक-रंग, एक-रूप रहनेवाला अमर, आनन्द और पूर्ण शान्ति का धाम है :

ताके ऊपर अविचल लोका। पाप पुण्य दुख सुख नहीं शोका ॥
काल न ज्वाल अवधि नहीं होई। रनजीतदास जहाँ सुरति समोई ॥
महा अगोचर गुप्त सों गुप्ता। जहाँ विराजत हैं भगवंता ॥
अमरलोक निज लोक कहावै। चौथा पद निर्वान बतावै ॥
अगमपुरी बेगमपुर ठाऊँ। कहा बुद्धि सो सब गति गाऊँ ॥⁸

उस अमर धाम की अद्भुत लीला और महिमा का वर्णन आपने इस प्रकार किया है :

उलटि चले मठ फोरि इकीसौ गये अभय पद माहीं।
अति उँजियारो अद्भुत लीला कहन सुनन गम नाहीं ॥
जित भये लीन सबै सुधि बिसरी छुटी जगत की ब्याधा।
चरनदास सुकदेव दया सँ लागी सुन्न समाधा ॥⁹

धुर-धाम के इस अद्भुत आत्मिक आनन्द का वर्णन करते हुए आप फिर कहते हैं :

ऐसा देस दिवाना रे लोगो जाय सो माता होय।
बिन मदिरा मतवारे झूमें जन्म मरन दुख खोय ॥
कोटि चंद सूरज उजियारो रबि ससि पहुँचत नाहीं।
बिना सीप मोती अनमोलक बहु दामिनि दमकाहीं ॥
बिन ऋतु फूले फूल रहत हैं अमृत रस फल पागे।
पवन गवन बिन पवन बहत है बिन बादर झरि लागे ॥
अनहद शब्द भँवर गुंजारै संख पखावज बाजैं।
ताल घंट मुरली घनघोरा भेरि दमामे गाजैं ॥

सिद्धि गर्जना अति ही भारी घुँघुरू गति झनकारैं।
रंभा नृत्य करैं बिन पग सँ बिन पायल ठनकारैं ॥
गुरु सुकदेव करैं जब किरपा ऐसो नगर दिखावैं।
चरनदास वा पग के परसे आवा गवन नसावैं ॥¹⁰

आप आत्मा को उपदेश देते हैं, 'यह नहीं अपना देस हेली ह्यां नहीं मन को दीजिये'¹¹। आप समझाते हैं कि जब से आत्मा अपने देश सतलोक से दूर हुई है, यह प्रियतम के वियोग में अपार दुःख भोगती रही है। उस निर्गुण प्रियतम से प्रेम करके उसके देश वापस पहुँचने पर ही यह सदा के लिए सुहागिन हो सकती है। उस सुख-सागर में समाकर यह भी सुख में निमग्न हो सकती है। ऐसा होने पर ही इसके जन्म-मरण के बन्धन सदा के लिए कट सकेंगे और मुक्ति इसके चरणों की दासी बन जायेगी :

टुक निर्गुन छैला सँ, कि नेह लगाव री।
जा को अजर अमर है देस, महल बेगमपुर री ॥
जहाँ सदा सोहागिन होय, पिया सँ मिलि रहु री।
जहाँ आवा गवन न होय, मुक्ति चेरी तेरी ॥
कहाँ चरनदास गुरु मिले, सोई हूँ रहु बौरी।
तब सुख सागर के बीच, कलहरी है रहु री ॥¹²

आप एक अन्य पद द्वारा स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवता और जल, पत्थर, भूत, भवानी आदि इष्टों की पूजा में लगे जीव कभी आवागमन के बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकते। देवी-देवता और उनके धाम नश्वर हैं। जब तक प्रभु-भक्ति द्वारा मूल की पहचान करके आत्मा परमात्मा से अभेद नहीं होती, इसे सच्ची मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती :

आतम ज्ञान बिना नहीं मुक्ता। बेद भेद करि देखा जोय ॥
ब्रह्मा सेस महेस पूज करि। बस वह लोक रहत नहीं सोय ॥

* कलहरी=कलारिन, शराब बेचनेवाली अर्थात् उस देश में पहुँचकर तू सदा मस्त रहेगी।

जल पाहन अरु भूत भवानी। पूजि पूजि भरमा सब कोय ॥
चरनदास तत बिरला जानै। आवा गवन दुख बहुरि न होय ॥¹³

आत्मा रूपी राजकुमारी को परमात्मा रूपी पति से विवाह रचाकर सतलोक की महारानी बनना था, पर जब से इसने अपने परमात्मा रूपी प्रियतम की याद भुलाई है, यह मन, इन्द्रियों और विषय-वासना की दासी बनकर जगत् का कूड़ा-करकट उठा रही है। सन्त चरनदास जी जीवात्मा को सावधान करते हैं कि अरी मूर्खा! तुझे माया ने ठग लिया है और तू विषय-विकारों में फँसकर चौरासी के चक्कर में जा पड़ी है। तू होश में आ, सन्तों के उपदेश को सुन और अपने अन्दर फिर से अपने प्रियतम परमात्मा का प्रेम पैदा कर। तभी तू इस मायावी फाँसी से छुटकारा पा सकेगी और निर्गुण प्रियतम से तेरा मिलाप हो सकेगा:

तू सुन हे लंगर बौरी ॥
तू पाँचौं घेरि पचीसो घेरी बिषै बासना की है चेरी।
बारी बारी दौरी ॥
तैं पिय भूली चौरासी डोली अंग अंग के सुख में फूली।
माया लाई ठौरी ॥
तैं काम क्रोध सूँ नेह लगायो मनमाना सब जग भरमायो।
मोह यार बाँको री ॥
चरनदास सुकदेव बतावैं निर्गुन छैला तोहिं मिलावैं।
जो टुक चेतन हो रही ॥¹⁴

सन्त सावधान करते हैं कि मनुष्य का लक्ष्य इस नश्वर शरीर का अज्ञानतापूर्ण क्षणिक सुख नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे आत्मिक ज्ञान से परिपूर्ण अविनाशी परम सुख और अमर शान्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। सन्त चरनदास जी कहते हैं कि परमात्मा के प्रेमियों को सांसारिक सुख-सुविधाओं के त्याग की ज़रूरत नहीं; केवल अपनी लिव परमात्मा के चरण-कमलों में लगाने की आवश्यकता है। जिनका ध्यान प्रभु-चरणों में

लीन हो जाता है, उनके अन्दर नाम के परम सुख का ऐसा अखूट भण्डार खुल जाता है कि वे अपने आप ही संसार के तुच्छ क्षणिक सुखों की असारता समझ लेते हैं और सदा शब्द के स्थायी परम सुख में निमग्न रहना चाहते हैं। फिर उनका मन स्वाभाविक ही संसार के भोगों और पदार्थों की ओर से विरक्त हो जाता है। उनके त्याग या वैराग्य में किसी प्रकार के यत्न या संघर्ष की आवश्यकता नहीं होती। वे सहज ही वैरागी बन जाते हैं। ऐसे प्रभु-भक्तों को घर और वन समान प्रतीत होते हैं:

जिन कूँ मन बिरकत सदा, रहैं जहाँ चित होय।
घर बाहर दोउ एक सा, डारी दुबिधा खोय ॥
कैं घर में कै बाहरे, जो चित आवै नाम।
दोनों होयँ बराबरी, कै जंगल कै ग्राम ॥¹⁵

आप उदाहरण देते हैं कि कमल का फूल पानी में रहता है, पर उससे सदा अछूता रहता है। इसी प्रकार परमात्मा के भक्तों के पाँव मायावी संसार में रहते हैं, पर उनका मन कभी माया की मलिनताओं से लिप्त नहीं होता। सन्त चरनदास जी इसी प्रकार का निर्लेप जीवन बिताने का उपदेश करते हैं:

जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों अम्बुज सर माहिं।
रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नाहिं ॥¹⁶

एक अन्य उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि संसार में इस प्रकार रहना चाहिए जिस प्रकार जिह्वा मुँह में रहती है। वह घी खाती है, पर घी से चिकनी नहीं होती। आपका तात्पर्य है कि सांसारिक पदार्थों का अपनी ज़रूरत के मुताबिक प्रयोग करने और इनमें लिप्त हो जाने में अन्तर है। सन्तजन आवश्यकतानुसार वस्तुओं का प्रयोग करते हुए निर्लिप्त बने रहने का उपदेश देते हैं:

जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौभी चिकनी नाहिं ॥¹⁷

सन्त चरनदास जी संकेत करते हैं कि त्याग और वैराग्य का सम्बन्ध मन से है, शरीर से नहीं। जगत् के त्याग का वास्तविक अर्थ जगत् की आसा-मनसा या वासना का त्याग है। यदि हम मन में हैं पर मन संसार में है, तो हम वैरागी या त्यागी नहीं हैं। इसके विपरीत अगर हम संसार में हैं पर हमारा मन संसार की विषय-वासनाओं में लिप्त नहीं है, तो हम सच्चे अर्थों में त्यागी या वैरागी हैं। वासना से मुक्त होना ही वास्तव में जगत् से मुक्त होना है:

छोड़ जगत् की बासना, यही जु छुटन उपाव।

हे मन ऐसी धारिये, अब हीं नीको दाँव ॥¹⁸

हम वहाँ होते हैं जहाँ हमारा मन होता है। मायके गयी पतिव्रता स्त्री माता-पिता, बहन-भाइयों, सखी-सहेलियों से मिलती है, पर उसका ध्यान सदा ससुराल में रहनेवाले पति में लगा रहता है। इसी प्रकार परमात्मा के भक्त शरीर से जगत् में रहते हैं, पर उनकी लिव सदा प्रभु के चरण-कमलों में लगी रहती है:

जग माँहीं न्यारे रहो, लगे रहो हरि ध्यान।

प्रथवी पर देही रहै, परमेश्वर में प्रान ॥

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं।

ऐसे जन जग में रहैं, हरि कूँ भूलैं नाहिं ॥¹⁹

‘जहाँ आसा तहाँ बासा’। कोई कंजूस धरती में धन दबा देता है। उसका ध्यान सदा दबे हुए धन में रहता है। वह मरकर सर्प बन जाता है और उस खजाने पर जा बैठता है। इसी प्रकार परमात्मा का भक्त हर पल, हर क्षण परमात्मा के सुमिरन में लीन रहता है। इससे उसका मन सहज ही संसार से निकल आता है और परमात्मा के चरण-कमलों में लीन हो जाता है। ऐसा प्रेमी भक्त जीते-जी सदा अपने प्रियतम के ध्यान में लीन रहता है और अपनी सांसारिक यात्रा पूरी करके उसी में समा जाता है:

ज्यों किरपिन बहु दाम हीं, गाड़ि जिमीं के नीच।

सदा वाहि तकतै रहै, सुरति रहै ता बीच ॥

तन छूटे हो सरप हीं, जा बैठै वा ठौर।

जहाँ आस तहाँ बास है, कहूँ न भरमै और ॥

जग त्यागो बैराग लै, निस्चै मन कूँ लाव।

आठ पहर साठो घरी, सुमिरन सुरति लगाव ॥²⁰

आप सावधान करते हैं कि नश्वर जगत् का प्रेम नश्वर जगत् से बाँधता है और अविनाशी प्रभु का प्रेम अविनाशी प्रभु से मिलाता है। इसलिए झूठे और दुःखदायक जगत् का मोह त्यागकर सच्चे, आनन्द-स्वरूप परमेश्वर से प्रेम करना चाहिए:

मिटते सँ मत प्रीत करि, रहते सँ करि नेह।

झूठे कूँ तजि दीजिये, साँचे में करि गेह ॥²¹

यही उपदेश गुरु नानक साहिब ने भी दिया है कि संसार में इस प्रकार रहो जिस प्रकार कमल पानी में और मुर्गाबी नदी में रहती है। कमल की जड़ें कीचड़ में होती हैं, पर वह कीचड़ और पानी दोनों से अछूता रहता है। मुर्गाबी पानी में रहती है, पर जब चाहती है, सूखे पंखों से उड़ जाती है:

जैसे जल महि कमलु निरालमु मुर्गाई नै साणे ॥

सुरति सबदि भव सागरु तरीऐ नानक नामु वखाणे ॥²²

गुरु गोबिन्द सिंह जी संसार में अपने आगमन के सम्बन्ध में और यहाँ रहने की अपनी विधि के बारे में दो सुन्दर बातें कहते हैं:

मै हो परम पुरख को दासा। देखनि आयो जगत तमासा ॥²³

घर से तमाशा देखने आया व्यक्ति घर वापस जाना नहीं भूलता। वह तमाशे को तमाशा ही समझता है, उसे असलियत समझकर उसमें खो नहीं जाता। जीवात्मा का घर सतलोक है। मर्त्य-लोक में इसे परमपुरुष परमेश्वर की दासी बनकर रहना चाहिए, माया की चेरी बनकर नहीं। इसके अन्दर घर लौटने की कामना सदा प्रबल रहनी चाहिए। दूसरी बात आप यह कहते

हैं, 'चुभी रही सुत प्रभु चरनन महि।' ²⁴ अर्थात् मैं संसार में हूँ पर मेरी सुरत सदा उस सत्पुरुष के चरण-कमलों में लीन है। यही कारण है कि भाई वीर सिंह ने गुरुमत को सुरत का संन्यास कहा है। यह शरीर को नहीं, मन तथा आत्मा को माया से अलिप्त रखने की युक्ति है।

स्वामी जी महाराज ने इस सम्बन्ध में तीन बड़ी ही सुन्दर बातें कही हैं। आप कहते हैं कि संसार और मित्रों-सम्बन्धियों को त्यागने की आवश्यकता नहीं। इनसे मात्र कर्तव्य-भाव से सम्बन्ध रखना चाहिए, इनके मोह में नहीं फँसना चाहिए। बन्धनकारी जगत् नहीं, जगत् के प्रति हमारा मोह है और दुःख का असल कारण यह अज्ञानजनित मोह ही है:

कार्य मात्र बरतो इन माहीं। बहुत मोह में बहु दुख पाई ॥ ²⁵

आपका दूसरा सुझाव यह है कि सतगुरु के हुक्म में रहो और संसार के प्रति उदासीन रहो। प्रियतम से बिछुड़ी हुई प्रियतमा सबसे मेल-मिलाप रखती है, पर उसका मन किसी वस्तु में नहीं लगता। उसका मन सदा प्रियतम से मिलने के लिए व्याकुल रहता है:

साध गुरू का कहना मानो। रहो उदास जगत में ॥ ²⁶

आपका तीसरा उपदेश यह है कि जगत् को त्यागने की आवश्यकता नहीं, इसे भुलाने की अर्थात् इससे ध्यान हटाने की जरूरत है। जगत् को भुलाना है और नाम को पकड़ना है। आपका भाव यह है कि हमारा लक्ष्य जगत् के पदार्थ नहीं, परमात्मा और उसका नाम होना चाहिए। रहना संसार में है, पर लिव नाम से जोड़कर रखनी है:

गफलत छोड़ भुलाओ जग को। नाम अमल अब घोट पिया ॥ ²⁷

अन्य सन्तों की ही तरह सन्त चरनदास जी भी परमात्मा की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हुए जीने की यही युक्ति सिखलाते हैं कि हमें संसार में रहते हुए संसार से उदासीन और परमात्मा के प्रति सचेत या जागरूक रहना चाहिए। जो परमात्मा के प्रति जागरूक होकर दिन-रात सदा उससे

लिव लगाये रहते हैं, वे भवसागर को पार कर परमात्मा में विलीन हो जाते हैं, पर जो परमात्मा को भुलाकर केवल संसार के प्रति ही सजग रहते हैं, उन्हें भवसागर में भारी दुःख उठाना पड़ता है:

सोये हैं संसार सूँ, जागे हरि की ओर।

तिन कूँ इक रसहीं सदा, नहीं साँझ नहिं भोर ॥

.....

जो जागै हरि भक्ति में, सोई उतरै पार।

जो जागै संसार में, भवसागर में खार ॥ ²⁸

इसलिए सन्त चरनदास जी परमात्मा से यही विनती करते हैं कि हे प्रभु, मुझे सांसारिकता से हटाकर अपने चरणों में निवास दे और संसार में अनाथ बने इस जीव को सनाथ बना ले:

किरपा करी अनाथ पर, तुम हो दीना नाथ।

हाथ जोड़ माँगूँ यही, मम सिर तुम्हरा हाथ ॥ ²⁹

संकलित वाणी

सतगुरु-महिमा

गुरु समान तिहुँ लोक में, और न दीखै कोय ।
नाम लिये पातक नसै, ध्यान किये हरि होय ॥
गुरु ही के परताप सँ, मिटै जगत की ब्याध ।
राग दोष दुख ना रहै, उपजै प्रेम अगाध ॥
गुरु के चरनन में धरो, चित बुध मन हँकार ।
जब कुछ आपा ना रहै, उतरै सबही पार ॥
तुम दाता हम मंगता, श्री सुकदेव दयाल ।
भक्ति दई ब्याधा गई, मेटे जग जंजाल ॥
किसू काम के थे नहीं, कोई न कौड़ी देह ।
गुरु सुकदेव कृपा करी, भई अमोलक देह ॥
को है कोइ न जानता, गिनती में नहिं नाँव ।
गुरु सुकदेव कृपा करी, पुजने लागे पाँव ॥
सीधी पलक न देखते, छूते नाहीं छाँहिं ।
गुरु सुकदेव कृपा करी, चरनोदक ले जाहिं ॥
दूसर के बालक हुते, भक्ति बिना कंगाल ।
गुरु सुकदेव कृपा करी, हरिधन किये निहाल ॥
जा धन कुँ ठग न लगै, धारो सकै न लूट ।
चोर चुराय सकै नहीं, गाँठ गिरै नहिं छूट ॥
बलिहारी गुरु आपने, तन मन सदके जाँव ।
जीव ब्रह्म छिन में कियो, पाई भूली ठाँव ॥
जब सँ गुरु किरपा करी, दरसन दीन्हे मोहिं ।
रोम रोम में वै रमे, चरनदास नहिं कोय ॥

* धारो=लुटेरे ।

† सदके=कुर्बान, न्योछावर ।

जाति बरन कुल मन गया, गया देह अभिमान ।
 अपने मुख सँ क्या कहूँ, जगही करै बखान ॥
 सतगुरु मेरा सूरमा, करै शब्द की चोट ।
 मारै गोला प्रेम का, ढहै भरम का कोट ॥
 मुख सेती बोलन थका, सुनै थका जो कान ।
 पावन सँ फिरवा थका, सतगुरु मारा बान ॥
 मैं मिरगा गुरु पारधी, शब्द लगायो बान ।*
 चरनदास घायल गिरे, तन मन बीधे प्रान ॥
 शब्द बान मोहिं मारिया, लगी कलेजे माहिं ।
 मारि हँसे सुकदेव जी, बाकी छोड़ी नाहिं ॥
 सतगुरु शब्दी तेग है, लागत दो करि देहि ।†
 पीठ फेरि कायर भजै, सूर सनमुख लेहि ॥
 सतगुरु शब्दी सेल है, सहै धमूका साध ।‡
 कायर ऊपर जो चलै, तौ जावै बरबाद ॥
 सतगुरु शब्दी तीर है, तन मन कीयो छेद ।
 बेदरदी समझै नहीं, बिरही पावै भेद ॥
 सतगुरु शब्दी लागिया, नावक का सा तीर ।§
 कसकत है निकसत नहीं, होत प्रेम की पीर ॥
 सतगुरु शब्दी बान है, अँग अँग डारे तोड़ ।
 प्रेम खेत घायल गिरे, टांका लगै न जोड़ ॥
 सतगुरु शब्दी मारिया, पूरा आया वार ।¶
 प्रेमी जूझै खेत में, लगा न राखा तार ॥
 ऐसी मारी खँच कर, लगी वार गई पार ।
 जिनका आपा ना रहा, भये रूप ततसार ॥**

* मिरगा=हिरन; पारधी=शिकारी ।

† तेग=तलवार ।

‡ सेल=भाला ।

§ नावक=गाँसी ।

¶ वार=घाव ।

** ततसार=उसी की तरह ।

सतगुरु के मारे मुए, बहुरि न उपजै आय ।
 चौरासी बंधन छुटैं, हरिपद पहुँचै जाय ॥
 सतगुरु के बचनों मुए, धन्य जिन्हों के भाग ।
 त्रैगुन ते ऊपर गये, जहाँ दोष नहिं राग ॥*
 बचन लगा गुरुदेव का, छुटे राज के ताज ।†
 हीरा मोती नारि सुत, गज घोड़ा अरु बाज ॥‡
 बचन लगा गुरु ज्ञान का, रूखे लागे भोग ।
 इन्द्रकि पदवी लौ उन्हें, चरनदास सब रोग ॥§¹

सतगुरु-भक्ति

गुरु के आगे जाय करि, ऐसे बोलै बोल ।
 कछू कपट राखै नहीं, अरज करै मन खोल ॥
 यह आपा तुम कूँ दिया, जित चाहौ तित राखि ।
 चरनदास द्वारे परो, भावै झिड़कौ लाखि ॥

 अंडा जब आगे गिरै, तब गुरु लेवैं सेइ ।
 करैं बराबर आपनो, सिख को निस्सन्देह ॥
 अपना करि सेवन करैं, तीन भाँति गुरु देव ।
 पंजा पच्छी कुंज मन, कछुवा दृष्टि जु भेव ॥¶
 जो वै बिछुरै घड़ी भी, तौ गंदा होइ जाय ।
 चरनदास यौ कहत हैं, गुरु को राखि रिझाय ॥
 पितु सँ माता सौ गुना, सुत को राखै प्यार ।
 मन सेती सेवन करै, तन सँ डाँट अरु गार ॥**

* त्रैगुन=तीन गुणों का मण्डल ।

† ताज=मुकुट ।

‡ बाज=कर, महसूल ।

§ लौ=तक ।

¶ पंजा...भेव=साधारण चिड़िया अपने अण्डे को पंखों से ढक कर सेती है, कूँज चिड़िया मन यानी ध्यान से और कछुआ दृष्टि से ।

** गार=गाली ।

माता सँ हरि सौ गुना, जिन से सौ गुरुदेव ।
 प्यार करें औगुन हरे, चरनदास सुकदेव ॥
 काँचे भाँडे सँ रहै, ज्यों कुम्हार को नेह ।*
 भीतर सँ रच्छा करै, बाहर चोटै देह ॥
 दृष्टि पड़ै गुरुदेव की, देखत करें निहाल ।
 औरै मति पलटै तबै, कागा होत मराल ॥†
 दया होय गुरुदेव की, भजै मान अरु मैन ॥‡
 भोग बासना सब छुटै, पावै अति ही चैन ॥
 जब सदगुरु किरपा करें, खोलि दिखावै नैन ।
 जग झूठा दीखन लगै, देह परे की सैन ॥§²

महिमा गुरु-सेवा

हरि सेवा कृत सौ बरस, गुरु सेवा पल चार ।
 तौ भी नहीं बराबरी, बेदन कियो बिचार ॥

 हरि रूठै कुछ डर नहीं, तू भी दे छुटकाय ।
 गुरु को राखौ सीस पर, सब बिधि करें सहाय ॥

 कनफूँका गुरु जगत का, राम मिलावन और ।
 सो सतगुरु को जानिये, मुक्ति दिखावन ठौर ॥
 गलिया रे गुरु फिरत हैं, घर घर कंठी देत ॥¶
 और काज उनकूँ नहीं, द्रव्य कमावन हेत ॥
 गुरु मिलते ऐसे कहैं, कछू लाय मोहिं देहु ।
 सतगुरु मिल ऐसे कहैं, नाम धनी का लेहु ॥

* भाँडे=बर्तन ।

† मराल=हंस ।

‡ भजै=भागे; मैन=काम ।

§ सैन=दूर का इशारा जो भ्रम-सा मालूम होता है ।

¶ गलिया रे=गली-गली ।

सतगुरु डंका देत हैं, भक्ति धनी की लेहु ।
 पहिले हम कूँ भेंटही, सीस आपनो देहु ॥
 ऐसा सतगुरु कीजिये, जीवत डारै मारि ।
 जन्म जन्म की बासना, ताकूँ देवै जारि ॥
 भरम निवारन भय हरन, दूर करन संदेह ।
 सोता खोलै प्रेम का, सो सम गुरु करि लेहि ॥
 सतगुरु के लच्छन कहै, ताकूँ ले पहिचान ।
 निरखि परखि करि दीजिये, तन मन धन अरु प्रान ॥
 सतगुरु हूँदा पाइये, नहीं सुहेला होय ।
 सिष भी पूरा कोइ हो, सानी माटी जोय ॥
 जाति बरन कुल आस्रम, मान बड़ाई खोय ।
 जब सतगुरु के पग लगै, साँच सिष्य हूँ सोय ॥³

भक्तों की महिमा

भक्तों की अस्तुति किये, तन मन हिया सिराय ।
 कलि का मैल रहै नहीं, बुधि उज्जल हो जाय ॥
 साधन की सेवा करो, चरनदास चित लाय ।
 जन्म मरन बंधन कटै, जगत ब्याधि छुटि जाय ॥
 भक्तन की पदवी बड़ी, इन्द्रहूँ सँ अधिकाय ।
 तीन लोक के सुख तजे, लीन्हेव हरि अपनाय ॥
 अनन भक्ति निहकाम जो, करै चरन सोइ दास ।
 चार मुक्ति बैकुंठ लों, सब से रहै निरास ॥
 प्रभु अपने मुख सँ कहेव, साधू मेरी देह ।
 उनके चरनन की मुझे, प्यारी लागै खेह ॥
 आठ सिद्धि वे लें नहीं, कनक कामिनी नाहिं ।
 मेरे सँग लागे रहैं, कभी न छोड़ें बाँहिं ॥
 साध हमारी आतमा, सब से प्यारे मोहिं ।
 नारद निरुचै कीजिये, साँच कहत हूँ तोहिं ॥

प्रेमी को रिनिया रहूँ, यही हमारो सूल।
 चारि मुक्ति दइ ब्याज में, दै न सकूँ अब मूल॥
 सर्वस दीन्हो भक्त को, देख हमारो नेह।
 निर्गुन से सर्गुन भयो, धरी पसू की देह॥
 मेरे जन मो में रहैं, मैं भक्तन के माहिं।
 मेरे अरु मम संत के, कुछ भी अंतर नाहिं॥
 साध सोवै तहँ सो रहूँ, भोजन संगहिं जेव।
 जो वह गावै प्रेम सूँ, मैं हूँ ताली देंव॥
 मम भक्ता जित जित फिरै, गोहने लागा जाँव।
 जहाँ तहाँ रच्छा करौं, भक्तबछल मेरो नाँव॥
 भक्त हमारो पग धरै, तहाँ धरूँ मैं हाथ।
 लारे लागो ही फिरूँ, कबहु न छोड़ूँ साथ॥
 मोकों बस कियो जो चहै, भक्तन की करि सेव।
 उन में हूँ कर मैं मिलूँ, करूँ बहुत ही हेव॥
 प्रिथवी पावन होत है, सबही तीरथ आदि।
 चरनदास हरि यौ कहैं, चरन धरैं जहँ साध॥⁴

विरह और प्रेम का अंग

सब मत अधिकी प्रेम बतावैं। जोग जुगत सूँ बड़ा दिखावैं॥
 प्रेमहिं सूँ उपजै बैराग। प्रेमहिं सूँ उपजै मन त्याग॥
 प्रेम भक्ति सूँ उपजै ज्ञान। होय चाँदना मिट अज्ञान॥
 दुरलभ प्रेम जु हाथ न आवै। हरि किरपा कर दें तो पावै॥
 प्रेम प्रीत के बस भगवाना। सकल सास्तर कियो बखाना॥
 भक्त हिये में प्रेम जो जागै। तौ हरि दरसत रहैं जो आगे॥
 सकल सिरोमनि प्रेमहिं जानो। चरनदास निस्चै मन आनो॥
 प्रेम बराबर जोग ना, प्रेम बराबर ज्ञान।
 प्रेम भक्ति बिन साधिबो, सबही थोथा ध्यान॥
 प्रेम छुटावे जक्त सूँ, प्रेम मिलावै राम।
 प्रेम करै गति और हीं, ले पहुँचै हरि धाम॥

प्रेमी जन हरि आप हो, आपा निकसै नाहिं।
 गुरु सुकदेव दिखावई, समझ देखि मन माहिं॥
 हिरदै माहीं प्रेम जो, नैनो झलकै आय।
 सोइ छका हरि रस पगा, वा पग परसो धाय॥
 गद गद बानी कंठ में, आँसू टपकै नैन।
 वह तो बिरहिन राम की, तलफत है दिन रैन॥
 हाय हाय पति कब मिलैं, छाती फाटी जाय।
 ऐसा दिन कब होयगा, दरसन करौं अघाय॥
 बिन दरसन कल न पढ़ै, मनुआँ धरै न धीर।
 चरनदास की राम बिन, कौन मिटावै पीर॥
 पीव बिना तौ जीवना, जग में भारी जान।
 पिया मिलैं तो जीवना, नहीं तो छूटै प्रान॥
 मुख पियरो सुखे अधर, आँखें खरी उदास।
 आह जो निकसै दुख भरी, गहिरे लेत उसास॥
 वह बिरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
 अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजे छेद॥
 अपने बस वह ना रही, फँसी बिरह के जाल।
 चरनदास रोवत रहै, सुमिर सुमिर गुन ख्याल॥
 वा तन को बिरहा लगो, ज्यों घुन लागो दार।
 दिन दिन पीरी होत है, पिया न बूझै सार॥
 वै नहिं बूझैं सार ही, बिरहिन कौन हवाल।
 जब सुधि आवै लाल की, चुभत कलेजे भाल॥
 पीव चहौ कै मत चहौ, वह तौ पी की दास।
 पिय के रंग राती रहै, जग सूँ होय उदास॥
 पी पी करते दिन गया, रैन गई पिय ध्यान।
 बिरहिन के सहजै सधै, भक्ति जोग अरु ज्ञान॥
 बिरहिन एकै राम बिन, और न कोई मीत।
 आठ पहर साठौ घड़ी, पिया मिलन की चीत॥

जाप करै तौ पीव का, ध्यान करै तौ पीव ।
पिव बिरहिन का जीव है, जिव बिरहिन का पीव ॥⁵

इन्द्रियों का अंग

इन्द्रिन के बस मन रहै, मन के बस रहै बुद्ध ।
कहो ध्यान कैसे लगै, ऐसा जहाँ बिरुद्ध ॥
जित जित इन्द्री जात है, तित मन कूँ ले जात ।
बुधि भी संगहि जात है, यह निश्चय करि बात ॥
जित इन्द्री मन हूँ गया, रही कहाँ सँ बुद्धि ।
चरनदास यों कहत हैं, करि देखो तुम सुद्धि ॥
इन्द्री मन के बस करै, मन करै बुधि के संग ।
बुधि राखै हरि पद जहाँ, लागै ध्यान अभंग ॥
इन्द्री मन मिलि होत है, बिषय बासना चाह ।
उपजै जैसे काम हीं, नारी मिलि अरु नाह ॥
इन्द्रिन सँ मन जुदा करि, सुरति निरति करि सोध ।
उपजै ना बिष बासना, चरनदास कर बोध ॥
इन्द्री रोके ते रुकै, और जतन नहिं कोय ।
मन चंचल रिझवार है, रसिक सवादी होय ॥
चलौ करै थिर ना रहै, कोटि जतन करि राख ।
यह जबहीं बस होयगा, इन्द्रिन के रसनाख ॥
न्यारे न्यारे चहत हैं, अपने अपने स्वाद ।
इन पाँचौ में प्रीत है, कछु न बाद बिबाद ॥
दुर्जन के फूटे बिना, तेरी होय न जीत ।
चरनहिदास बिचारि करि, ऐसी कहिये रीत ॥
जुदी जुदी पाँचौ कहूँ, एक एक का भेद ।
जो कोइ इन कूँ बस करै, सबहीं छूटै खेद ॥⁶

आँख

दीपक त्रिया निहारि करि, गिरै पतंग ज्यों जाय ।
कछू हाथ आवै नहीं, उलटो आप जराय ॥
ऐसी इन्द्री आँख की, सो अपनी नहिं होय ।
गुरु सुकदेव बतावई, चरनदास सुन लोय ॥
दरसन कीजै साध का, कै गुरु का कर लोय ।
जहँ तहँ ब्रह्महिं देखिये, दुबिधा दुरमति खोय ॥
बैरी मितर एकसा, एकै रूपक रूप ।
ऐसी होवै दृष्टिहीं, जब समझै मन भूप ॥⁷

कान

मन दै सुनिये हरि कथा, सुनिये हरि जस कान ।
ताहि बिचार जो कीजिये, होय भक्ति को ज्ञान ॥
सुनि सुनि उपजै सुबुधि हीं, लागै हरि को रंग ।
सुनि सुनि उपजै कुबुधि हीं, खोटी उठै तरंग ॥
ऐसी इन्द्री कान की, जाके जुगल सुभाव ।
कथा कीरतन हीं सुनो, करि करि कोटि उपाव ॥
बचन सुनो गुरु साध के, मन को लावो मोर ।
बिषय बासना सँ निकसि, आवै हरि की ओर ॥
सरवन इन्द्री में कहे, दोनों अंग दिखाय ।
जिह्वा इन्द्री कहत हैं, चरनदास चित लाय ॥⁸

जिह्वा

कुटिल जो इन्द्री जीभ की, चाहै खट रस स्वाद ।
या बस होइ औगुन करै, जन्म जाय बरबाद ॥
जिह्वा के जीते बिना, गये जन्म सब हार ।
चरनदास यों कहत हैं, भये जगत में ख्वार ॥

बंसी डारी ताल में, मछरी लागी आय।
जिह्वा कारन जिव दियो, तलफ तलफ मरि जाय॥
तजा न जिह्वा स्वाद कूँ, वा संग दीन्हे प्रान।
जो कोइ ऐसा जगत में, सो अज्ञानी जान॥
या सूँ ले हरि नाम हीं, गुनाबाद हीं भाख।
जो बोले तौ साँच हीं, नाहीं मुख में राख॥
मीठा बचन उचारिये, नवता सबसूँ बोल।
हिरदय माहिं बिचारि करि, जब मुख बाहर खोल॥
बिना स्वाद हीं खाइये, राम भजन के हेत।
चरनदास कहैं सूरमा, ऐसे जीतौ खेत॥
जो बोलै तौ हरि कथा, मौन गहै तौ ध्यान।
चरनदास यह धारना, धारै सो सज्ञान॥⁹

त्वचा

त्वचा सो इन्द्री काम की, नित ही खेलै दाव॥
पसु पंछी सुर नर असुर, फँसे आप करि चाव॥
त्वचा स्वाद सब बस भये, फँदे जगत के माहिं॥
जो कोई निकसो चहै, सो भी निकसै नाहिं॥
धोखे की हथनी लखी, आयो गज ललचाय।
खंदक माहीं रुकि गयो, सीस धुनै पछिताय॥
जंगल में आनन्द सूँ, बहुतै केलि कराय।
अब तौ द्वारे भूप के, परो बंध में आय॥
ऐसे ही ये नर फँदो, देखि कामिनी रूप।
जन्म गँवायो दुख भरो, पड़ो अबिद्या कूप॥
करी न हरि की भक्ति हीं, गुरु सेवा तजि दीन्ह।
सुनी न हरि की गुन कथा, सत संगति नहिं कीन्ह॥

फिरि ऐसो कब होयगो, पावै मानुष देह।
अब तौ चौरासी बिषै, जाय कियो उन ग्रेह॥*
जीतौ इन्द्री त्वचा की, कहिया श्री सुकदेव।
यासे तप ही कीजिये, चरनदास सुन लेव॥¹⁰

नासिका

सुगंध ओर हरखै नहीं, दुर्गन्धै न रिसाय।
ऐसी जीतै नासिका, मन भँवरा ठहराय॥
समझन कूँ तुक एक है, भूलन कूँ तुक लाख।
गुन औगुन इन्द्री कहे, सो तू मन में राख॥
जो इन्द्रिन के बसि भयो, बाँधो नरकै जाय।
चौरासी भरमत फिरै, गर्भ योनि दुख पाय॥
जो इन्द्रिन के बसि भयो, पावै ना आनंद।
बार बार जग माहिं हीं, छूटे ना संबंद॥†
भक्ति माहिं चित ना लगै, सब हीं बिगड़ें काम।
जो इन्द्रिन के बसि भयो, ता को मिलै न राम॥
चरनदास यों कहत हैं, इन्द्री जीतन ठान।
जग भूलै हरि कूँ मिलै, पावै पद निर्बान॥¹¹

पाँच विकारों का अंग

जोग तपस्या भक्ति, ज्ञान बिगाड़न कूँ पाँच।
जीवत दुख दें जक्त में, मुए नरक दें आँच॥
काम क्रोध मोह लोभ ये, और पाँचवाँ गर्ब।
राज करें बसुधा बिषै, इन बस कीन्हे सर्व॥¹²

* ग्रेह=घर।

† संबंद=सम्बन्ध।

काम

यह काम बुरा रे भाई। सब देवै तन बौराई॥
 पंचौं में नाक कटावै। वह जूती मार दिलावै॥
 मुँह काला गधे चढ़ावै। बहु लोग तमासे आवै॥
 झिड़का ज्यों डोले कुत्ता। सब हीं के मन सूँ उता॥
 कोइ नीके मुख नहिं बोलै। सरमिंदा हो जग डोलै॥
 वह जीवत नरक मँझारी। सुन चेतौ नर अरु नारी॥
 काम अंग तजि दीजै। सत संगतिहीं करि लीजै॥
 अस कहैं चरन हीं दासा। हरि भक्तन में कर बासा॥
 तन मन जारै काम हीं, चित कर डावाँडोल।
 धरम सरम सब खोय के, रहै आप हिये खोल॥
 नर नारी सब चेतियो, दीन्हो प्रगट दिखाय।
 पर तिरिया पर पुरुस हो, भोग नरक को जाय॥

 पर नारी कै आपनी, दोनों बुरी बलाय।
 घर बाहर की आग ज्यों, देवै हाथ जलाय॥¹³

क्रोध

क्रोध महा चंडाल है, जानत सब कोय।
 जाके अंग बरनन करूँ, सुनियो सुरत समय॥
 जेहिं घट आवै धूम सूँ, करै बहुत ही ख्वार।
 पति खोवै बुधि कूँ हनै, कहा पुरुस कह नार॥
 वह बुद्धि भ्रष्ट करि डारै। वह मारहिं मार पुकारै॥
 वह सब तन हिंसा छावै। कहिं दया न रहने पावै॥
 वह गुरु सूँ बोलै बेंड़ा। साधौं सूँ डोले ऐंड़ा॥
 वह हरि सूँ नेह छुटावै। वह नरक माहिं ले जावै॥
 वह आतम घाती जानौ। वह महामूढ़ पहिचानौ॥
 सोंटों की मार दिलावै। कबहूँ कै सीस कटावै॥

वह नीच कमीना कहिये। ऐसे सूँ डरता रहिये॥
 वह निकट न आवन दीजै। अरु छिमा अंक भरि लीजै॥
 जब छिमा आय कियो थाना। तब सबही क्रोध हिराना॥
 कहैं गुरु सुकदेव खिलारी। सुन चरनदास उपकारी॥¹⁴

मोह

मोह बड़ा दुख रूप है, ताकूँ मारि निकास।
 प्रीत जगत की छोड़ दे, जब होवै निर्वास॥
 जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों अंबुज सर माहिं।
 रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
 जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
 घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥
 ऐसा हो जो साध हो, लिये रहै बैराग।
 चरन कमल में चित धरै, जग में रहै न पाग॥
 मोह बली सब सूँ अधिक, महिमा कही न जाय।
 जा कूँ बाँधो जग सबै, छूटे ना बौराय॥
 स्वारथ ही के सब सगे, कुटुंब मित्र कुल गोत।
 परमारथ समझावहीं, जो दयाल गुरु होत॥
 परमारथ में दुख मिटे, कलह कल्पना जाय।
 स्वारथ माहीं सुख नहीं, तामें चित न लगाय॥
 स्वारथ में चिन्ता घनी, जो ह्वाँ करिहौं ग्रेह।
 बिना आग की चिता में, जीवत जरि है देह॥
 चिन्ता घट में नागिनी, ताके मुख हैं दोय।
 निस दिन खाये जात है, जान सकत नहिं कोय॥
 जा घट चिन्ता नागिनी, ता मुख जप नहिं होय।
 जो टुक आवै याद भी, उहीं जाय फिरि खोय॥
 चिन्ता ही सूँ लगत है, चरनदास उर आग।
 तहाँ ध्यान हरि चरन कूँ, कैसे ही अब लाग॥

जक्त बासना के बिषै, घर चिन्ता का जान।
जग की आसा छोड़ि कर, हरि सुमिरन ही ठान॥
आसा नदिया में चले, सदा मनोरथ नीर।
परमारथ उपजै बहै, मन नहिं पकरै धीर॥
धीर बिना नहिं ध्यान है, निस्चल जप नहिं होय।
जो चाहै हरि भक्ति कूँ, जक्त बासना खोय॥
जब लग जग सँ प्रीति है, तब लग दुख अपार।
भय भारी चिन्ता घनी, भवन पिछानौदार॥
जग सँ छुटि बाहर परै, उसी समय सब चैन।
उपजै आनंद परम हीं, तहँ कुछ लेन न देन॥
रहै एक हरि भक्ति हीं, बाधा सब छुटि जाहिं।
जबै राम अपनो करै, बेगहिं पकरै बाँहि॥¹⁵

लोभ

लोभ नीच बर्नन करूँ, महा पाप की खानि।
मंत्री जा का झूठ है, बहुत अधर्मी जानि॥
तृस्ना जा की जोय है, सो अंधा करि देय।
घटी बढी सूझै नहीं, नहीं काल का भेय॥
दम्भ मकर छल भगल जो, रहत लोभ के संग।
मुए नरक ले जायँगे, जीवत करै अतंग॥
देहैं धर्म छोड़ाय हो, आन धर्म ले जाय।
हरि गुरु ते बेमुख करै, लालच लोभ लगाय॥
चहूँ देस भरमत फिरै, कलह कल्पना साथ।
लोभ खंभ उठि उठि लगै, दोऊ पसारे हाथ॥
चींटी बाँदर खगन कूँ, लोभ बहुत दुख दीन।
या कूँ तजि हरि कूँ भजै, चरनदास परबीन॥
लोभ घटावै मान कूँ, करै जगत आधीन।
धर्म घटा भिषल करै, करै बुद्धि को हीन॥

लोभ गये ते आवई, महा बली संतोष।
त्याग सत्य कूँ संग ले, कलह निवारन सोक॥
घट आवै संतोष ही, काह चहै जग भोग।
स्वर्ग आदि लौं सुख जिते, सब कूँ जानै रोग॥
संतोषी निर्मल दसा, रहै राम लौ लाय।
आसन ऊपर दृढ़ रहै, इत उत कूँ नहिं जाय॥
काहू से नहिं राखिये, काहू बिधि की चाह।
परम संतोषी हूजिये, रहिये बेपरवाह॥
चाह जगत की दास है, हरि अपना न करै।
चरनदास यों कहत हैं, ब्याधा नाहिं टरै॥¹⁶

अहंकार

अभिमानी चढ़ि कर गिरे, गये बासना माहिं।
चौरासी भरमत भये, कबहीं निकसैं नाहिं॥
अभिमानी मीजे गये, लूट लिये धन बाम।
निरअभिमानी हो चले, पहुँचे हरि के धाम॥
चरनदास यों कहत हैं, सुनियो संत सुजान।
मुक्ति मूल आधीनता, नरक मूल अभिमान॥
मन में लाय बिचार कूँ, दीजै गर्ब निकार।
नान्हापन तब आय हैं, छूटै सकल बिकार॥
रूपवंत गरबावै। कोइ मो सम दृष्टि न आवै॥
तरुनापा गर्बाना। वह अंधरा होवै राना॥
कहै धन मद में परबीना। सब मेरे ही आधीना॥
कहै कुल अभिमानी सूचा। मैं सब जातिन में ऊँचा॥
वह बिद्या गर्ब जो भारी। करै बाद बिबाद अनारी॥
अरु भूप करै अभिमाना। उन आपै हीं कूँ जाना॥
उन काल नहीं पहिचाना। सो मार करै घमसाना॥
गुरु सुकदेव चितावैं। तोहि परगट नैन दिखावैं॥

जम बाँधि पकरि ले जावैं। वै बहुते त्रास दिखावैं॥
 जब कहाँ जाय अभिमाना। मोर नीका सुन यह ताना॥
 फिर डारै नरक मँझारी। सुन चेतौ नर अरु नारी॥
 तौ मद मत्सर तजि दीजै। साधौ के चरन गहीजै॥
 हरि भक्ति करौ चित लाई। जब सकल व्याधि छुटि जाई॥
 करि जात बरन कुल दूरा। हो सतसंगति में पूरा॥
 जब मुक्ति धाम कूँ पावै। फिर गर्भ जोनि नहिं आवै॥
 कहैं गुरु सुकदेव बखानो। यह चरनदास मति आनो॥
 पाँचौ उतरैं भूत जब, है हौ ब्रह्म अरूप।
 आनंद पद को पाइहौ, जित है मुक्ति सरूप॥
 पाँचौ चोर महा दुखदाई। सो या जग में देहिं फँसाई॥
 तन मन कूँ बहु व्याधि लगावैं। कायक बाचक पाप चढ़ावैं॥
 फिर चौरासी माहिं फिरावैं। जठर अगिन में ताहि तपावैं॥
 जन्म मरन भारी दुख पावै। मनुष देहि का सर्वस जावै॥
 तीन लोक में डोलै हाला। सुर पुर मृत्यु और पाताला॥
 कैसे मुक्ति धाम कूँ पावै। जो इन्द्रिन के बस हो जावै॥
 छूटै जब गुरु किरपा करैं। चरनदास के सिर कर धरैं॥¹⁷

सुमिरन का अंग

प्रनऊँ श्री सुकदेव कूँ, बानी कहूँ अगाध।
 महिमा गाऊँ नाम की, सब मिलि सुनियो साध॥
 ज्यों की त्यों ही कहत हूँ, कछू न राखूँ भेद।
 निरचै आवै नाम की, छूटैं सब ही खेद॥
 कई बार जो जग करै, जोग करै चित लाय।
 चरनदास कहैं नाम बिन, सभी अफल हो जाय॥
 आठ धात में गुन नहीं, जो पारस के माहिं।
 तप तीरथ ब्रत साधना, राम नाम सम नाहिं॥

ज्यों सेमर का सेवना, ज्यों लोभी का धर्म।
 अन्न बिना भुस कूटना, नाम बिना यों कर्म॥
 छोड़ै सब ही बासना, हो बैठे निष्काम।
 चरन कमल में चित धरै, सुमिरै रामहिं राम॥
 ऐसा हो जब साध हो, तब रीझै करतार।
 दरसन दे अपना करै, कभी न छोड़ै लार॥
 चार बेद किये व्यास ने, अर्थ बिचार बिचार।
 तामें निकसी भक्ति ही, राम नाम तत सार॥
 जिन कहिया सुकदेव कूँ, सुनिया प्रेम प्रतीत।
 तिन जग में परगट कियो, जैसी चाहिये रीत॥
 ब्रह्म हत्या अरु नारि की, बालक हत्या होय।
 राम नाम जो मन बसै, सब कूँ डारै खोय॥
 ऐसा ही हरि नाम ही, मोहिं राम की सौंहि।
 जाको होवै परख ही, सो समझैह्यां लौंहि॥
 नामहिं ले जल पीजिये, नामहिं लेकर खाह।
 नामहिं लेकर बैठिये, नामहिं ले चल राह॥
 जब लग जागै राम कहु, तन मन सँ यहि चीत।
 चरनदास यों कहत हैं, हरि बिन और न मीत॥
 तेरा तौ कोइ है नहीं, मात पिता सुत नार।
 ताते सुमिरौ राम कूँ, हे मन बारम्बार॥
 जेहि कारन भटकत फिरै, घर घर करत सलाम।
 तेरे तौ वे हैं नहीं, हे मन सुमिरौ राम॥
 जीवत ही स्वारथ लगे, मूए देह जराय।
 हे मन सुमिरौ राम कूँ, धोखे काहि पराय॥
 हाथी घोड़े धन घना, चंद्र मुखी बहु नारि।
 नाम बिना जम लोक में, पावै दुख अपार॥
 जब लग जीवै राम कहु, रामहि सेती नेह।
 जीव मिलैगो राम में, पड़ी रहैगी देह॥

अचरज साधन नाम का, भक्ति जोग का जीव ।
 जैसे दूध जमाय कै, मथि करि काढ़ा घीव ॥

 गगन मंडल में जाप करि, जित है दसवाँ द्वार ।
 चरनदास यों कहत हैं, सो पहुँचै हरिद्वार ॥
 नाम उठाकर नाभि सूँ, गगन माहिं ले जाय ।
 जहाँ होय परकास हीं, सुकदेव दिया बताय ॥
 मन ही मन में जाप करि, दरपन उज्जल होय ।
 दरसन होवै राम का, तिमिर जायँ सब खोय ॥
 सुरत माहिं जो जप करै, तन सूँ न्यारा जौन ।
 मिलै सच्चिदानंद में, गहे रहै जो मौन ॥
 सकल सिरोमनि नाम है, सब धरमन के माहिं ।
 अनन्य भक्त वह जानिये, सुमिरन भूलै नाहिं ॥
 आनि धरम मानै नहीं, आनि देव नहिं ध्यान ।
 ऐसे भक्त अनन्य को, कोई पावै जान ॥
 राम नाम मुख सूँ कहौ, राम नाम सुनि कान ।
 रोम रोम हरि को रटौ, ऐसी गहिये बान ॥
 बिद्या माहीं बाद है, तप के माहीं ऋद्धि ।
 राम नाम में मुक्ति है, जोग माहिं यों सिद्धि ॥
 राम नाम में ये सबै, रिद्धि सिद्ध औ मोछ ।
 ऐसा इष्ट संभारिये, चरनदास कहि सोछ ॥
 जाका कीया सब बना, सात दीप नौ खंड ।
 चरनदास यों कहत हैं, तीन लोक ब्रह्मंड ॥
 तो कारन सब कुछ किया, नाना बिधि सुख दीन्ह ।
 तैं वाकूँ जाना नहीं, नाम न कबहूँ लीन्ह ॥
 अबके औसर फिर बन्यो, पाई मानुख देंहि ।
 चरनदास यों कहत हैं, राम नाम ही लेहि ॥¹⁸

पतिव्रता का अंग

पतिव्रता वहि जानिये, आज्ञा करै न भंग ।
 पिय अपने के रंग रतै, और न सोहै ढंग ॥
 अपने पिय कूँ सेइये, आन पुरुष तजि देह ।
 पर घर नेह निवारिये, रहिये अपने गेह ॥
 अज्ञाकारी पीव की, रहै पिया के संग ।
 तन मन सूँ सेवा करै, और न दूजो रंग ॥
 रंग होय तौ पीव को, आन पुरुष बिषरूप ।
 छाँह बुरी पर घरन की, अपनी भली जु धूप ॥
 अपने घर का दुख भला, पर घर का सुख छार ।
 ऐसे जानै कुल बंधू, सो सतवंती नार ॥
 पति की ओर निहारिये, औरन सूँ क्या काम ।
 सबै देवता छोड़ि कै, जपिये हरि का नाम ॥
 खसम तुम्हारो राम है, इत उत रुख मत मारि ।
 चरनदास यों कहत हैं, यही धारना धारि ॥
 यह सिर नवै तो राम कूँ, नाहीं गिरियो टूट ।
 आन देव नहिं परसिये, यह तन जावो छूट ॥
 पतिव्रता कूँ ब्रत गहो, बिभिचारिन अंग टार ।
 पति पावै सब दुख नसैं, पावै सुख अपार ॥
 जब तू जानै पीव हीं, वह अपनो करि लेहि ।
 परम धाम में राखि कर, बाँह पकरि सुख देहि ॥
 यही सिखापन देत हूँ, धारो हिरदय माहिं ।
 ऐसा पौधा बोइयो, ताकी बैठै छाँहिं ॥
 सतबादी सत सूँ रहो, सत हीं मुख सूँ बोल ।
 एक ओर हरि नाम रख, एक ओर जग तोल ॥
 सोई सोहागिन नारि, पिया मन भावई ।
 अपने घर को छोड़ि, न पर घर जावई ॥

अपने पिय का भेद, न काहू दीजिये।
 तन मन सुरति लगाय, के सेवा कीजिये॥
 पति की अज्ञा चाल पाल पिय को कहो।
 लाज लिये कुलवंत जतन हीं सँ रहो॥
 धनि धनि हैं जग माहिं पुरुष बहु हित धरै।
 सब सँ नायक होय जो सिर बर को करै॥
 पिय कूँ चाहो रूप सिंगार बनाइये।
 पतिव्रता कुल दोय में सोभा पाइये॥
 नौधा बस्तर पहिरि दया रंग लाल है।
 भूखन बस्तर धारि बिचित्र बाल है॥
 रंग महल निर्दोष वहाँ झिलमिल नूर है।
 निरगुन सेज बिछाय सभी करि दूर भय॥
 मंदिर दीपक बाल बिन बाती घीव की।
 सुघर चतुर गुन रासि लाड़िली पीव की॥
 कहैं गुरु सुकदेव यों बालम मोहिये।
 चरनदास ले सीख जो प्रेम समोइये॥¹⁹

शील का अंग

अब मैं गाऊँ शील कूँ, ऐ हो सन्त सुजान।
 नर नारी सब ही सुनो, दे दे चित बुधि कान॥
 रूप गुणी कुलवंत जो, अरु होवे धनवन्त।
 शील बिना शोभा नहीं, भिष्टै नरक पड़न्त॥
 शील बिना जो तप करै, करै शील बिन दान।
 योगयुक्ति करै शील बिन, सो कहिये अज्ञान॥
 शील बड़ो ही योग है, जो करि जानै कोय।
 शीलविहीनो चरणदास, कबहूँ मुक्त न होय॥
 सब शुभ लक्षण तो विषे, शील न आया एक।
 जप तप निष्फल जाहिंगे, चरणहिं दास विवेक॥

पूजा संयम नेम जो, यज्ञ करै चित लाय।
 चरणदास कहैं शील बिन, सभी अकारथ जाय॥
 सोइ सती सोइ शूरमा, सोइ दाता अधिकाय।
 शील लिये नित ही रहै, तो निष्फल नहिं जाय॥
 शील अंग ऊँचो अधिक, उन्तीसों के बीच।
 जा घट शील न आइया, सो घट कहिये नीच॥
 शील न उपजे खेत में, शील न हाट बिकाय।
 जो हो पूरा टेक का, लेवे अँग उपजाय॥
 शील बिना नरकै परै, शील बिना यम दण्ड।
 शील बिना भरमत फिरै, सात द्वीप नौ खण्ड॥
 शील बिना भटकत फिरै, चौरासी के माहिं।
 पहिले होवे प्रेत ही, यामें संशय नाहिं॥
 सब तजि सेवो शील कूँ, राम नाम लौ लाय।
 जीवत शोभा जगत में, मुये मुक्ति है जाय॥
 जाको शील सुभाव है, ताकी दूर बलाय।
 ताकी कीरति जगत में, सुन हो कान लगाय॥
 शील रहेते सब रहैं, जेते हैं शुभ अंग।
 ज्यों राजा के रहे ते, रहै फौज को संग॥
 सत्य गया तो क्या रहा, शील गया सब झाड़।
 भक्ति खेत कैसे बचै, टूट गई जब बाड़॥
 ज्वानी शील न राखिया, बिगड़ गई सब देह।
 अब पछितावा क्या करे, मुख पर उड़िया खेह॥
 शील गये शोभा घटे, या दुनिया के माहिं।
 कूकर ज्यों झिड़क्यो फिरै, कहीं भी आदर नाहिं॥
 शील गये गुरु सँ फिरै, हरि सों बेमुख होय।
 चरणदास कहाँ लौं कहैं, सर्वस डारै खोय॥
 धिक जीवन संसार में, जाको शील नशाय।
 जग में फिटफिट होत है, मुये यातना पाय॥

शील कसैला आँवला, और बड़ों के बोल।
 पाछे देवे स्वाद वे, चरणदास कहि खोल॥
 शील निरोगा नीब सा, औगुण डारे खोय।
 पहिले करुवा दुख लगे, पाछे गुण सुख होय॥
 लाख यही उपदेश है, एक शील कूँ राख।
 जन्म सुधारो हरि मिलो, चरणदास की साख॥
 शीलवंत के चरण का, जो चरणोदक लेय।
 रोग दोष मिटि जायँ सब, रहै न यम का भेय॥
 आठ अंग सूं शील ही, जा घट माहीं होय।
 चरणदास यों कहत हैं, दुर्लभ दर्शन सोय॥
 शीलवंत दर्शन बड़े, देखत पातक जाय।
 वचन सुनै मन शुद्ध हो, खोटी दृष्टि सिराय॥
 शील सरोवर न्हाय करि, करो राम की सेव।
 या सम तीरथ और ना, कहिया गुरु शुकदेव॥²⁰

चुने हुए दोहे

गुरु कहैं सो कीजिये, करैं सो कीजै नाहिं।
 चरनदास की सीख सुन, यही राख मन माहिं॥
 कथा सुने ब्रत हूँ किये, तीरथ किये अघाय।
 गुरुमुख के हूए बिना, जप तप निष्फल जाय॥
 दुखी न काहूँ कूँ करै, दुख सुख निकट न जाय।
 सम दृष्टी धीरज सदा, गुन सात्विक कूँ पाय॥
 भँवर गुफा मंडल अखँड, तिरबेनी जहँ न्हान।
 नित परबी जहँ होत है, करै पाप की हान॥
 कैवल हंस दल सातवाँ, सीस मध्य हीं बास।
 तहाँ देवता सतगुरु, पूरी करै जो आस॥
 जग का कहा न मानिये, सतगुरु से ले बुद्धि।
 ता कूँ हिय में राखिये, करो सिताबी सुद्धि॥
 जिन कूँ मन बिरकत सदा, रहैं जहाँ चित होय।*
 घर बाहर दोउ एक सा, डारी दुबिधा खोय॥
 कै घर में कै बाहरे, जो चित आवै नाम।
 दोनों होयँ बराबरी, कै जंगल कै ग्राम॥
 जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों अम्बुज सर माहिं।†
 रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
 अब के चूके चूक है, फिर पछितावा होय।
 जो तुम जक्त न छोड़ि हौ, जन्म जायगो खोय॥
 छोड़ जगत की बासना, यही जु छुटन उपाव।
 हे मन ऐसी धारिये, अब हीं नीको दाँव॥

* बिरकत=विरक्त।

† अम्बुज=कमल; सर=तालाब।

जग माँहीं न्यारे रहो, लगे रहो हरि ध्यान।
 प्रथवी पर देही रहै, परमेसुर में प्रान॥
 ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति रहै पिय माहिं*
 ऐसे जन जग में रहैं, हरि कूँ भूलैं नाहिं॥
 ज्यों किरपिन बहु दाम हीं, गाड़ि जिमीं के नीच†
 सदा वाहि तकतै रहै, सुरति रहै ता बीच॥
 तन छूटे हो सरप हीं, जा बैठे वा ठौर‡
 जहाँ आस तहँ बास है, कहूँ न भरमै और॥
 जग त्यागो बैराग लै, निस्चै मन कूँ लाव।
 आठ पहर साठो घरी, सुमिरन सुरति लगाव॥
 सब सँ रखु निरबैरता, गहो दीनता ध्यान।
 अंत मुक्ति पद पाइ हौ, जग में होय न हानि॥
 चरनदास यों कहत हैं, बड़ी दीनता जान।
 औरन की तो क्या चलै, लगै न माया बान॥
 दया नम्रता दीनता, छिमा सील संतोष।
 इन कूँ लै सुमिरन करै, निस्चै पावै मोख§
 ये सब लच्छन राम में, परगट दीखैं मोहिं।
 जो वै आवैं तुझ बिषे, प्यार करैं हरि तोहिं॥
 मिटते सँ मत प्रीत करि, रहते सँ करि नेह।
 झूठे कूँ तजि दीजिये, साँचे में करि गेह॥¶
 ब्रह्म सिंध की लहर है, ता में न्हान सँजोय।
 कलिमल सब छुटि जायँगे, पातक रहै न कोय॥

* पीहर=मायका।

† किरपिन=कंजूस।

‡ सरप=साँप।

§ मोख=मुक्ति।

¶ गेह=घर।

अरसठ तीरथ तोहि बिषे, बाहर क्यों भटकाय।
 चरनदास यों कहत हैं, उलटा हो घट आय॥
 भरमत भरमत आइया, पाई मानुख देह।
 ऐसो औसर फिर कहाँ, नाम सिताबी लेह॥
 करै तपस्या नाम बिन, जोग जज्ञ अरु दान।
 चरनदास यों कहत हैं, सब हीं थोथे जान॥
 अधिकी ऊँचा नाम है, सब करनी का जीव।
 अष्टादस अरु चारि का, मथि कर काढ़ा घीव*
 खाते पीते नाम ले, बैठे चलते सोय।
 सदा पबितर नाम है, करै ऊजला तोय॥
 नीचन कूँ ऊँचा करै, ऊँचन कूँ करै देव।
 देवन कूँ हरि हीं करै, रहै न दूजा भेव॥
 चारौ जुग में देखि ले, जिन जपिया जिन पाव।
 टेक पकरि आगे धसे, परा न पीछे पाँव॥
 जैसी गति उनकी भई, गावत साध पुरान।
 वैसी तेरी होयगी, यह निस्चै करि जान॥
 बाजीगर बाजी रची, सब गति पूरन साज।
 किये तमासे बहुत हीं, तोहिं दिखावन काज॥
 देखि देखि देखत रहो, अस्तुति मुख सँ भाखि।
 वा की चतुराई सबै, लै करि मन में राखि॥
 वैसा तौ रंगरेज ना, वैसा छीपी नाहिं।
 वैसा कारीगर नहीं, या दुनिया के माहिं॥
 अजब अजब अचरज किये, अद्भुत अधिक अपार।
 जल थल पवन अकास में, देखो दृष्टि उघार॥

* अष्टादस=अठारह पुराण; चारि=चार वेद।

सृष्टि बाग माली रची, भाँति भाँति गुलजार।
 रीझि रीझि सिर दीजिये, ए ही निरखि बहार॥
 देखि होय परसन्न हीं, तू वा कूँ गुन मान।
 चरनदास जो बुद्धि है, अधिक सुघरता जान॥
 बहुत प्यार तो पै करै, तू नहिं जानत सार।
 वाहि भुलाये हीं फिरै, नेक न करै सँभार॥
 राम बिसारो आदि सुँ, लियो द्रव्य अरु नार।
 याही तें भरमत फिरो, तन धरि बारम्बार॥
 गई सो गई अब राखि ले, ए हो मूढ़ अयान।
 निःकेवल हरि कूँ रटो, सीख गुरु की मान॥
 सोवन में नहिं खोइये, जन्म पदारथ पाय।
 चरनदास है जागिये, आलस सकल गँवाय॥
 सोवन हीं में हानि है, जागन में बहु लाभ।
 बुद्धि उपज हीं होत है, मुख पर चढ़ै जु आभ*॥
 दिन को हरि सुमिरन करो, रैन जागि कर ध्यान।
 भूख राखि भोजन करो, तजि सोवन की बान॥
 चारि पहर नहिं जगि सकै, आधि रात सुँ जाग।
 ध्यान करो जप हीं करो, भजन करन कूँ लाग॥
 जो नहिं सरधा दो पहर, पिछले पहेरे चेत।
 उठ बैठो रटना रटो, प्रभु सुँ लावहु हेत॥
 जागै ना पिछले पहर, ता के मुखड़े धूल।
 सुमिरै ना करतार कूँ, सभी गवाँवै मूल॥
 जागै ना पिछले पहर, करै न आतम ध्यान।
 ते नर नरकै जायँगे, बहुत सहैं जम सान॥†

* आभ=आब, रौनक।

† सान=दण्ड।

जागै ना पिछले पहर, करै न गुरुमत जाप।
 मुँह फारे सोवत रहैं, ताकूँ लागै पाप॥
 पिछले पहेरे जाग करि, भजन करै चित लाय।
 चरनदास वा जीव की, निस्चै गति है जाय॥
 पिछले पहेरे जाग करि, भरि भरि अमृत पीव।
 बिषै जक्त की ना रहै, अमर होय कर जीव॥
 जन्म छुटै मरना छुटै, आवा गवन छुटि जाय।
 एक पहर की रात सुँ, बैठा हो गुन गाय॥
 पहिले पहेरे सब जगैं, दूजे भोगी मान॥
 तीजे पहेरे चोर ही, चौथे जोगी जान॥
 मरजादा की यह कही, क्या बिरक्त परमान।
 आठ पहर साठौं घरी, जागै हरि के ध्यान॥
 जो कोई बिरही नाम के, तिन कूँ कैसी नींद।
 सस्तर लागा नेह का, गया हिये को बँध॥
 तिन से जग सहजै छुटा, कहा रंक कहा भूप।
 चले गये घर छोड़ि कै, धरि बिरक्त का रूप॥
 जिनको मन बिरक्त सदा, रहो जहाँ चित होय।
 घर बाहर दोउ एक सा, डारी दुबिधा खोय॥
 सोये हैं संसार सुँ, जागे हरि की ओर।
 तिन कूँ इक रसहीं सदा, नहीं साँझ नहिं भोर॥
 उनकूँ नींद न आवई, राम मिलन की चीत।
 सोवैं ना सुख सेज पै, तजि के हरि सुँ मीत॥
 कैसे वे हरि सुँ मिले, जिन के ऊँचे भाग।
 कैसे वे हरि त्याग के, रहे जक्त सुँ लाग॥
 सोवन जागन भेद की, को इक जानत बात।
 साधू जन जागत तहाँ, जहाँ सबन की रात॥

जो जागै हरि भक्ति में, सोई उतरै पार।
 जो जागै संसार में, भवसागर में ख्वार॥
 कै जागत हूका भरा, कै जागा बस काम।
 कै जागा जग टहल में, लागि रहा धन धाम॥
 ऐसे जनम गँवाय दे, महा मूढ़ अज्ञान।
 चौरासी में फिर चले, मन का कहा जु मान॥
 सतगुरु सरनै आय करि, कहा न मानै एक।
 ते नर बहु दुख पाइ हैं, तिन कूँ सुख नहिं नेक॥
 सतगुरु सरना ना लगे, किया न हरि का खोज।
 जो खर कूकर सूकरा, अरु जंगल का रोझ॥
 पेट भरे भर सोइया, ते नर पसू समान।
 पर नारी कै आपनी, तिनका नाहीं ज्ञान॥
 जैसा तैसा खाय करि, पेट भरे भरि लेह।
 पड़ कर सोवे भोर लों, सो सूकर की देह॥
 हरि चरचा बिन जो बकै, सो कूकर की भूँस।
 कहि रनजित वह साँझ लों, खाय धूँस ही धूँस॥
 जो पावै सोई चरै, करै नहीं पहिचान।
 पीठ लदै हरि ना जपै, ताकूँ खर ही जान॥
 रोझ जान वा देह कूँ, ता कूँ नहीं बिचार।
 फिरै बिना मरजाद ही, बहुता करै अहार॥
 बहुता किये अहार ही, मैली रही जो बुद्धि।
 हरि के निर्मल नाम को, कैसे आवै सुद्धि॥
 सूच्छम भोजन खाइये, रहिये ना परि सोय।
 ऐसी मानुख देह कूँ, भक्ति बिना मत खोय॥
 जनम चलो ही जात है, ज्यों कूँवे सैलाव।
 दौरत मृग की छाँह को, नेक नहीं ठहराव॥

या सिगरो उपदेस ही, मैं आपन कूँ कीन।
 मो मन कूँ आपा घना, कहीं होय आधीन॥
 सतगुरु से माँगूँ यही, मोहिं गरीबी देहु।
 दूर बड़प्पन कीजिये, नान्हा हीं कर लेहु॥
 आदि पुरुष किरपा करौ, सब औगुन छुटि जाहिं।
 साध होन लच्छन मिलैं, चरन कमल की छाँहिं॥
 तुम्हरी सक्ति अपार है, लीला को नहिं अंत।
 चरनदास यों कहत हैं, ऐसे तुम भगवंत॥
 तुम्हरी कहा अस्तुति करूँ, मो पै कही न जाय।
 इतनी सक्ति न जीभ को, महिमा कहै बनाय॥
 किरपा करी अनाथ पर, तुम हो दीना नाथ।
 हाथ जोड़ माँगूँ यही, मम सिर तुम्हरा हाथ॥
 हिय हुलसो आनंद भयो, रोम रोम भयो चैन।
 भये पबित्त कान ये, सुनि सुनि तुम्हरे बैन॥
 गुरु ब्रह्मा गुरु बिस्नु, गुरु देवन के देवा।
 सर्व सिद्धि फल देव, गुरु तुम मुक्ति करेवा॥
 गुरु केवट तुम होय, करो भवसागर पारी।
 जीव ब्रह्म करि देत, हरो तुम ब्याधा सारी॥
 श्री सुकदेव दयाल गुरु, चरनदास के सीस पर।
 किरपा करि अपनो कियो, सबहीं बिधि सँहाथ धरि॥
 आदि पुरुष परमात्मा, तुम्हें नवाऊँ माथ।
 चरनन पास निवास दे, कीजै मोहिं सनाथ॥
 तुम्हरी भक्ति न छोड़ूँ, तन मन सिर क्यों न जाव।
 तुम साहब मैं दास हूँ, भलो बनो है दाव॥
 आपै भजन करैं नहीं, औरै मने करैं।
 चरनदास वै दुष्ट नर, भ्रम भ्रम नरक परैं॥

औरन कूँ उपदेस करि, भजन करै निष्काम।
 चरनदास वै साध जन, पहुँचै हरि के धाम॥
 भक्ति पदारथ उदय सँ, होय सभी कल्याण।
 पढ़ै सुनै सेवन करै, पावै पद निर्बान॥
 भक्ति पदारथ मैं कही, कछु इक भेद बखान।
 जो कोइ समझै प्रीति सँ, छूटे जम दुख सान॥
 सुन्न सहर हम बसत हैं, अनहद है कुल देव।
 अजपा गोत बिचारि ले, चरनदास यहि भेव॥
 दीद सुनीद जहाँ नहीं, तहाँ न हाल न काल।
 जौहर जिसम इसम नहीं, चरनदास नहिं खाल॥²¹

विविध शब्द

1 हो आँखियाँ गुरु दर्शन की प्यासी।
 इकटक लागी पंथ निहारूँ तन सँ भई उदासी॥
 रैन दिना मोहि चैन नहीं है चिन्ता अधिक सतावै।
 तरफत रहूँ कलपना भारी निश्चल बुधि नहिं आवै॥
 तन गयो सूक हूक अति लागी हिरदय पावक बाढ़ी*
 खिन में लेटी खिन में बैठी घर अँगना खिन ठाढ़ी॥
 भीतर बाहर संग सहेली बात नहीं समझावै।
 चरणदास शुकदेव पियारे नैनन ना दर्शावै॥²²

2 अनहद शब्द अपार दूर सँ दूर है।
 चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है॥
 निःअच्छर है ताहि और निःकर्म है।
 परमात्म तेहि मानि वही परब्रह्म है॥
 याके कीने ध्यान होत है ब्रह्म हीं।
 धारै तेज अपार जाहि सब भर्म हीं॥
 वा पटतर कोइ नाहिं जो यों हीं जानिये।†
 चाँद सूर्य अरु सृष्टि के माहिं पिछानिये॥
 या को छोड़ै नाहिं सदा रहै लीन हीं।
 यही जो अनहद सार जानि परबीन हीं॥
 यों जिव आत्म जान जो अनहद लीन हो।
 सो परमात्म होय जीवता जाय खो॥
 ध्यानी को मन लीन होय अनहद सुनै।
 आप अनाहद होय बासना सब भुनै॥

* हूक=शूल का दर्द, हृदय का सन्ताप।

† पटतर=बराबर।

पाप पुन्य छुटि जायँ दोऊ फल ना रहँ ।
होय परम कल्याण जो तिरगुन ना गहँ ॥*²³

- 3 अब जग फंद छुटावो जी हौं तो चरणकमल को चरो ।
परो रहूँ दरबार तिहारे संतन माहिं बसेरो ॥
बिना कामना करूँ चाकरी आठों पहरे नेरो ।
मनसब-भक्ति कृपा करि दीजै मोहि यही बहुतेरो ॥†
खानेजाद कदीमी कहियो तुही आसरो मेरो ॥‡
झिड़क बिड़ारो तऊ न छाँड़ौं सेवा सुमिरण तेरो ॥
काहू और आन देवन सों रह्यो नहीं उरझेरो ।
जैसे राखो त्योंहीं रहहूँ कर लीजो सुरझेरो ॥
तेरे घर बिन कहूँ न न मेरो ठौर ठिकानो डेरो ।
मोसे पतित दीन को हरिजी तुमही करो निबेरो ॥
गुरु शुकदेव दया करि मोकूँ ओर तिहारी फेरो ।
चरणदास को शरणें राखो यही इनाम घनेरो ॥²⁴

- 4 अब तुम करो सहाय हमारी ।
मन के रोग होय गये दीरघ तन के बड़े विकारी ॥
तुम सो बैद और को दूसर जाहि दिखाऊँ नारी ॥
सजीवनमूल अमर हो जासों सो है दया तुम्हारी ॥
क्रिया कर्म की औषधि जेती रोग बढ़ावनहारी ॥
दीजै चूरण ज्ञान भक्ति को मेटो सकल व्यथारी ॥
जन के काज पयादे धावत चरणकमल पर वारी ॥
मैं भयो दास अधीन तुम्हारो मेरी करो सँभारी ॥

* तिरगुन=सत, रज और तम अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश ।

† मनसब-भक्ति=भक्ति का पद ।

‡ खानेजाद=दासी-पुत्र; कदीमी=पुरातन, पुराना, सदा से ।

जो मोहि कुटिल कुचील जानिकै मेरी सुरति बिसारी ।*
चरणदास है शुकदेव तेरो दुष्ट हँसैंगे भारी ॥²⁵

- 5 अब तू सुमिरण कर मन मेरे ।
अगले पिछले अब के कीये, पाप कटैं सब तेरे ॥
यम के दंड दहन पावक की, चौरासी दुख पेरे ।
भर्म कर्म सबही कटि जैहँ, जगत् व्याध उरझेरे ॥
पैहै शक्ति मुक्ति गति आनंद, अमरहिलोक बसेरो ।
जन्मै मरै न योनी आवै, या जग करै न फेरो ॥
सुमिरण साधन माहिं शिरोमणि, जो सुमिरण करि जानै ।
काम क्रोध मद पाप जरावै, हरि बिन और न मानै ॥
गुरु शुकदेव दियो है सुमिरण, बिन जिह्वा करि लीजै ।
चरणदास कहै घेरि घेरि करि अर्ध ऊर्ध मन दीजै ॥²⁶

- 6 अब मैं सतगुरु शरणें आयो ॥
बिन रसना बिन अक्षर बाणी ऐसोहि जाप सुनायो ॥
काम क्रोध मद पाप जराये त्रैबिधि ताप नशायो ।
नागिनि पाँच मुई सँग ममता दृष्टि सँ काल डरायो ॥
किरिया कर्म अचार भुलाना ना तीरथ मग धायो ।
समझो सहज बचन सुनि गुरु के भर्म को बोझ बगायो ॥
ज्यों ज्यों जपूँ गरक हों वामें वह मो माहिं समायो ।
जग झूठो झूठो तन मेरो यों आपा नहिं पायो ॥
वाकूँ जपै जन्म सोइ जीतै सौहम् शुद्ध बतायो ।
चरणदास शुकदेव दया सों सागर लहर समायो ॥²⁷

* कुचील=अपवित्र ।

7 अब हम ज्ञान गुरु से पाया।
 दुबिधा खोय एकता दरशी, निश्चल हो घर आया॥
 हिरदा शुद्ध हुआ बुधि निर्मल, चाह रही नहिं कोई।
 ना कछु सुनूं न परसूं बूझूं, उलटि पलटि सब खोई॥
 समझ भई जब आनंद पाये, आतम आतम सूझा।
 सूधा भया सकल मन मेरा, नेक न कहूं अरुझा॥
 मैं सबहुन में सब मोहूं में, साँच यही करि जाना।
 यही वही है वही यही है, दूजा भाव मिटाना॥
 शुकदेवा ने सब सुख दीन्हे, तिरपत होय अघाया।
 चरणदास निकसा नहिं रंचक, परमातम दरशाया॥*²⁸

8 अर्ज सुनौ जगदीश गुसाई।
 ग्रह नक्षत्र अरु देव बिसारे चरणकमल की आयो छाँई॥
 सत बिश्वास यही हिय धारो तोहि न भूलों एक घरी।
 इत उत से मन खँचि लियो है काहू से कछु नाहिं सरी॥
 अब चाहो सो करो प्रभु तुमही द्वार तुम्हारे सुरति अरी।
 भावैं नरक स्वर्ग पहुँचावो भावैं राखो निकट हरी॥
 अपनी चाह रही नहिं कोई जबसूँ तुम्हरी आस धरी।
 आन भरोसो छाँड़ि दियो है सकल विकल सब छार करी॥
 यह आपा तुमही को दीयो मेरी मो में कुछ न रही।
 आदि पुरुष शुकदेव सुनो जी चरणदास यों टेरि कही॥²⁹

9 अरे नर क्या भूतन की सेवा।
 दृष्टि न आवै मुख नहिं बोलैं, ना लेवा ना देवा॥
 जेहि कारण घी ज्योति जलावै, बहु पकवान बनावै।
 सो खर्चे तू अधिक चाव सों, वह स्वप्ने नहिं खावै॥

* चरणदास...दरशाया=चरनदास का आपा नहीं रहा वरन् परमात्मा में अभेद हो गया।

रात जगावै भोपा गावै, झूठे मूँड़ हिलावै*।
 कुटुंब सहित तोहि पैर परावै, मिथ्या वचन सुनावैं॥
 ताहि भरोसे जन्म गवाँवै, जीवत मरत न साथा।
 बड़ भागन नर देही पाई, खोवे अपने हाथा॥
 चारि वरण में मैली बुधि का, नीच ऊँच क्यों न होई।
 जो कोइ झूठी आशा राखै, अगति जायगा सोई॥
 ताते सत विश्वास टेक गहु, भक्ति करौ हरि केरी।
 चरणदास शुकदेव कहत हैं, होय मुक्ति गति तेरी॥³⁰

10 रे नर जन्म पदारथ खोया रे।
 बीती अवधि काल जब आया, शीस पकरि कै रोया रे॥
 अब क्या होय कहा बनि आवै, माहिं अविद्या सोया रे।
 साधु संग गुरु सेव न चीन्ही, तत्त्व ज्ञान नहिं जोया रे॥†
 आगे से हरि भक्ति न कीन्ही, रसना राम न पोया रे।
 चौरासी यम दंड न छूटै, आवागमन का दोया रे॥‡
 जो कछु किया सोई अब पावो, वही लुनौ जो बोया रे॥§
 साहिब साँचा न्याव चुकावै, ज्यों का त्योहीं होया रे॥
 कहूँ पुकारे सब सुनि लीजो, चेति जाव नर लोया रे।
 कहैं शुकदेव चरणहीदासा, यह मैदान यह गोया रे॥¶³¹

11 अरे नर पर नारी मत तक रे।
 जिन जिन ओर तको डायन की, बहुतन कूँ गइ भख रे॥**

* भोपा=देवी-पूजा में जो गीत गाते हैं।

† जोया=ढूँढ़ा।

‡ दोया=डोरा।

§ लुनौ=काटो।

¶ गोया=गेंद।

** ओर=तरफ़।

दूध आक को पात कटैया, झाल अगिन की जानो।*
 सिंह मुछारे बिष कारे को, ऐसे ताहि पिछानो॥
 खानि नरक की अति दुखदाई, चौरासी भरमावै।
 जनम जनम कूँ दाग लगावै, हरि गुरु तुरत छुटावै॥
 जग में फिरि फिरि महिमा खोवै, राखै तन मन मैला।
 चरनदास सुकदेव चितावै, सुमिरौ राम सुहेला॥³²

- 12 अरे नर हरि का हेत न जाना।
 उपजाया सुमिरण के काजे, तैं कछु औरैं ठाना॥
 गर्भ माहिं जिन रक्षा कीन्ही, ह्वाँ खाने को दीन्हा।
 जठर अग्न सों राखि लियो है, अंग सम्पूर्ण कीन्हा॥
 बाहर लाय बहुत सुध लीन्ही, दशन बिना पय प्यायो।
 दाँत भये भोजन बहु भाँती, हित सों तोहि खिलायो॥
 और दिये सुख नाना विधि के, समझि देख मन माहीं।
 भूलो फिरत महा गर्वाये, तू कछु जानत नाहीं॥
 तव कारण सब कछु प्रभु कीन्हो, तू कीन्हा जग काजा।
 जग व्यौहार पगो ही बोलै, तोहि न आवै लाजा॥
 अजहूँ चेत उलट हरि सों ही, जन्म सुफल करि भाई।
 चरणदास सुकदेव कहैं यों, सुमिरण है सुखदाई॥³³

- 13 अरे मन करो ऐसो जाप।
 कटैं संकट कोटि तेरे मिटैं सगरे पाप॥
 चेत चेतन खोज करले देख आपा आप।
 काग सों जब हंस होवै नाम के परताप॥
 ध्यान आत्म सुरति राखो छुटै त्रैगुण ताप।
 सुरति माला सुमिरि हिरदै छाँड़ सकल संताप॥

* आक=मदार; कटैया=भटकटैया जो एक काँटेदार झाड़ी होती है।

परा भक्ति अगाध अद्भुत विमल अरु निष्काम।
 चरणदास सुकदेव कहिया बसै निजपुर धाम॥³⁴

- 14 अवधू ऐसी मदिरा पीजै।
 बैठि गुफा में यह जग बिसरै, चंद सूर सम कीजै॥
 जहाँ कलाल चढ़ाई भाठी, ब्रह्म ज्वाल परजारी।
 भरि भरि प्याला देत कलाली, बाढ़ै भक्ति खुमारी॥
 माँता हो करि ज्ञान खड्ग लै, काम क्रोध को मारै।*
 घूमत रहै गहै मन चंचल, दुविधा सकल बिड़ारै॥
 जो चाखै यह प्रेम सुधारस, निज पुर पहुँचै सोई।
 अमर होय अमरा पद पावै, आवागमन न होई॥
 गुरु सुकदेव किया मतवारा, तीनि लोक तृण बूझा।
 चरणदास रणजीत भये जब, आनंद आनंद सूझा॥³⁵

- 15 आत्म ज्ञान बिना नहिं मुक्ता। बेद भेद करि देखा जोय॥
 बह्मा सेस महेस पूज करि। बस वह लोक रहत नहिं सोय॥
 जल पाहन अरु भूत भवानी। पूजि पूजि भरमा सब कोय॥
 चरनदास तत बिरला जानै। आवा गवन दुख बहुरि न होय॥³⁶

- 16 आदि पुरुष अविगत अविनाशी, नाना कौतुक लावै रे।
 आपहि आप और नहिं कोई, बहुतक रूप बनावै रे॥
 आपहि मोहनलाल ग्वाल हो, मुरली आनि बजावै रे।
 आपहि ब्रज की बनिता हो करि, वन को दौरी आवै रे॥
 आपहि गोपी कान्ह विराजै, आपहि रास रचावै रे।
 अन्तर्ध्यान होय फिर आपहि, आपहि ढूँढ़न धावै रे॥

* माँता=मस्त।

आपहि व्याकुल अप देखन कूँ, लीला प्रेम बनावै रे।
परगट होय सबन सुख देवै, आपहि रंग बढ़ावै रे॥
भोर भये जब खेल मिटावै, आप आप रह जावै रे।
कबहूँ एक अनेक कभूँ हूँ, विधि निषेध गति भावै रे॥
सत चित आनंद रूप सदा ही, शुकदेव हो समझावै रे।
चरणदास हो समझि समझि करि, आपहि आनंद पावै रे॥³⁷

17 आरति करत हँसै मन मेरो। वार पार कछु दिखै न तेरो॥
अमर अडोल निःईक्षण भेखा। त्रैगुण रहित रूप नहिं रेखा॥^{*}
चेतन आनंद नित निरधारा। निराकार निर्लिप्त नियारा॥
निराकार आकार विवरजित। निरगुण अरु सरगुण तेरी गति॥
हाथ पाँव अरु शीश घनेरे। कैसे आरति करूँ प्रभु मेरे॥
सोहं बाती घीव अखण्डा। एकहि ज्योति बलै ब्रह्मण्डा॥
तुही थाल तुहि आरति साजै। तुहि घंटा तुहि झालर बाजै॥
चरणदास शुकदेव लखायो। सुरति थकी पै पार न पायो॥³⁸

18 आरती रमता राम की कीजै। अन्तरध्यान निरखि सुख लीजै।
चेतन चौकी सत को आसन। मगन रूप तकिया धरि दीजै॥
सोऽहं थाल खैंचि मन धरिया। सुरत निरत दोउ बाती बरिया।
योग युगति सँ आरति साजी। अनहद घंट आप सँ बाजी॥
सुमति साँझ की बिरिया आई। पाँच पचीस मिलि आरति गाई।
चरणदास शुकदेव को चरो। घट घट दर्शै साहब मेरो॥³⁹

19 इन नैनन निराकार लहा।
कहन सुनन सँ कौन पतीजै, जान अजान हो सहज रहा॥
जित देखो तित अलख निरंजन, अमर अडोल अबोल महा।
ज्योति जगत बिच झिलमिल झलकै, अगम अगोचर पूरि रहा॥

* निःईक्षण=इन्द्रियातीत।

अलख लखा जब बेगम हूवा, भर्म कोट जब तुरत ढहा।
सर्वमयी सब ऊपर राजै, शून्य स्वरूपी ठोस ठहा॥
जीवन्मुक्त भया मन मेरा, निर्भय निर्गुण ज्ञान गहा।
गुरु शुकदेव करी जब किरपा, चरणदास सुख सिन्धु बहा॥⁴⁰

20 ऐसी आरति करि हुलसावै। दे परिक्रमा शीस नवावै॥
तन को थाल अरु मन को चौमुख। ज्ञान ध्यान की बाती लावै॥^{*}
भक्ति भाव को घी भरि तामें। जगमग जगमग ज्योति जगावै॥
अर्ध ऊर्ध्व हित सँ करि फेरै। रचना रचै फूल बर्षावै॥
सुरति मृदंग अरु निरत तँबूरा। झँगड़ झँगड़ झाँझ बजावै॥
ताल वीण मुहचंग शंख ध्वनि। प्रेम मगन है हरि गुण गावै॥
सुबरन कलशा जल को राखै। धूपरु अगर सुगन्ध धरावै॥
या बिधि सों शुकदेव श्याम की। गाय आरती को फल पावै॥
युगलकिशोर निरखि नैनन सों। चरणदास सखि बलि बलि जावै॥⁴¹

21 कछु तुम सुधि राखो वा दिन की।
जा दिन तेरी देह छुटैगी, ठौर बसोगे बन की॥
जिनके संग बहुत सुख कीन्हे, मुख ढकि होय हैं न्यारे।
यम को त्रास होय बहुभाँती, कौन छुटावनहारे॥
देहरी लौं तेरी नारि चलैगी, बड़ी पौरि लौं माई।
मरघट लौं सब बीर भतीजे, हंस अकेलो जाई॥
द्रव्य गड़े अरु महल खड़े ही, पूत रहैं घर माहीं।
जिनके काज पचे दिन राती, सो सँग चालत नाहीं॥
देव पितर तेरे काम न आवैं, जिन की सेवा लावे।
चरणदास शुकदेव कहत हैं, हरि बिन मुक्ति न पावे॥⁴²

22 करनी की गति और है कथनी की औरै।
बिन करनी कथनी कथैं बक बादी बौरै॥

* चौमुख=चार बत्ती वाला दीपक।

करनी बिन कथनी इसी ज्यों ससि बिन रजनी ।
 बिन सस्तर ज्यों सूरमा भूषन बिन सजनी ॥
 ज्यों पंडित कथि कथि भले बैराग सुनावै ।
 आप कुटुंब के फँद पड़े नाहीं सुरझावैं ॥
 बाँझ झुलावै पालना बालक नहिं माहीं ।
 बस्तु बिहीना जानिये जहँ करनी नाहीं ॥
 बहु डिंभी करनी बिना कथि कथि करि मूए ।*
 संतों कथि करनी करि हरि के सम हूए ॥
 कहैं गुरु सुकदेव जी चरनदास बिचारौ ।
 करनी रहनी दृढ़ गहौ थोथी कथनी डारौ ॥⁴³

23 करते अनहद ध्यान के, ब्रह्म रूप हो जाय ।
 चरनदास यों कहत हैं, बाधा सब मिटि जाय ॥
 गगन मध्य जो कैवल है, बाजत अनहद तूर ।
 दल हजार को कमल है, पहुँचै गुरु मत सूर ॥
 गगन मंडल के कमल में, सतगुरु ध्यान निहार ।
 चरनदास सुकदेव परस के, मेटै सकल बिकार ॥⁴⁴

24 कर्म करि निष्कर्म होवै, फेरि कर्म न कीजिये ।
 भूलि कै कोई कर्म साधै, उलटि कर मन दीजिये ॥
 कर्म त्यागै जगै आतम, यह निश्चय करि जानिये ।
 जब निर्भय पद सुलभ पावै, साँच हिय में आनिये ॥
 साँच हिय में राखि अवधू, नाम निर्गुण नित जपो ।
 अग्नि इन्द्री कर्म लकड़ी, पंच अग्नी अस तपो ॥
 जैसे टूट गहना खोज मेटे, होय सोना अतिसुखी ।
 ऐसे योग भक्तिवैराग सेती, कर्म काटै गुरुमुखी ॥
 जासों मिटै आपा आप सहजै, ब्रह्मविद्या ठानिये ।
 गुरु सुकदेव युक्ति भाषैं, चरणदास पिछानिये ॥⁴⁵

* बहु डिंभी=बहुत-से दम्भी ।

25 कोई जानै संत सुजान, उलटे भेद कूँ ॥
 वृक्ष चढ़ो माली के ऊपर, धरती चढ़ी अकास ।
 नारि पुरुष विपरीत भये हैं, देखत आवै हास ॥
 बैल चढ़ो शंकर के ऊपर, हंस ब्रह्मा के शीस ।
 सिंह चढ़ो देवी के ऊपर, गुरु ही की बखशीस ॥
 नाव चढ़ी केवट के ऊपर, सुत की गोदी माय ।
 जो तू भेदी अमर नगर को, तो तू अर्थ बताय ॥
 चरणदास सुकदेव सहाई, अब कहा करि है काल ।
 बाँबी उलटि सर्प में पैठी, जब सँ भये निहाल ॥*⁴⁶

* मध्यकाल के कबीर, पलटू आदि अनेक सन्तों की भाँति सन्त चरनदास जी ने भी इस उलट-बासी में परमार्थ के गूढ़ भेद का रहस्यमय ढंग से वर्णन किया है ।

मनुष्य की आत्मा उसके मन के अधीन होती है । मन जो चाहता है उससे करवाता है, जिधर चाहे उसे उधर मोड़ लेता है, वैसे ही जैसे एक सवार अपनी सवारी को । पुराणों में बैल को शंकर का, हंस को ब्रह्मा का तथा सिंह को दुर्गा का वाहन बताया गया है । आत्मा भी मन के लिए, बस, एक वाहन ही है । वह एक नाव है जिसे मन केवट बनकर घाट-घाट घुमाता फिरता है । यदि सन्त-सतगुरु की कृपा प्राप्त हो जाए, उनसे नाम की बख्शीश मिल जाए तो स्थिति उलट जाती है । तब मन आत्मा के अधीन हो जाता है । आत्मा इसे अपना वाहन, अपनी सवारी बना लेती है । वह जब चाहती है, इस पर सवार होकर धरती पर विचर लेती है, अपना सांसारिक काम-काज कर लेती है; और जब चाहती है इसे इसके मूल-स्थान पर छोड़कर नाम या शब्द के सहारे आन्तरिक मण्डलों में गमन करती है, धरती की न रहकर गगन-विहारी हो जाती है ।

पूरे गुरु की कृपा प्राप्त करके आत्मा-रूपी स्त्री मन-रूपी पुरुष की दासी नहीं रहती, मन उसका दास बन जाता है । जब तक मनुष्य सतगुरु से नामदान प्राप्त करके गुरुमुख नहीं बनता, तब तक वह मनमुख ही रहता है, उसकी आत्मा माया से लिप्त रहती है, वह एक बच्चे की तरह माया-रूपी माता की गोद में खेलती रहती है । परन्तु मनुष्य के गुरुमुख बन जाने पर स्वयं माया उसकी आत्मा के लिए एक शिशु या खिलौना बनकर रह जाती है । नाम का अभ्यास करने से आत्मा का कायाकल्प हो जाता है, गुरुमुख बनने पर कुछ भी पहले जैसा नहीं रह जाता, सबकुछ उलट जाता है । रूहानी दुनिया में माली वृक्ष पर नहीं चढ़ता, वृक्ष माली पर चढ़ता है, साँप बाँबी में नहीं घुसता, बाँबी साँप में घुसती है, क्योंकि वहाँ मन का आत्मा पर नहीं, बल्कि आत्मा का मन पर प्रभुत्व होता है । रूहानी दुनिया के इन रहस्यों को केवल को सन्त सुजान ही जानता है और इनका पता उसी से चलता है ।

- 26 कोई दिन जीवै तो कर गुजरान।
 कहर गरूरी छाँड़ दिवाने, तजो अकस की बान ॥
 चुगुली चोरी अरु परनिन्दा, झूठ कपट अरु कान।
 इनको डारि गहै जत सत को, सोई अधिक सयान ॥
 हरि हरि सुमिरो क्षण नहिं बिसरो, गुरु सेवा मन ठानि।
 साधुन की संगति कर निशि दिन, आवै ना कुछ हानि ॥
 मुड़ो कुमारग चलो सुमारग, पावै निज पुर बास।
 गुरु शुकदेव चितावैं तोको, समझ चरणहीदास ॥⁴⁷
- 27 गगनमँडल में आरति कीजै। उत्तम साज सकल सजि लीजै ॥^{*}
 सुखमन अमृत कुम्भ धरावै। मनसा मालिनि फूल चढ़ावै ॥[†]
 घीव अखण्डा सोहं बाती। त्रिकुटी ज्योति बलै दिन राती ॥
 पवन साधना थाल करीजै। तामें चौमुख मन धरि दीजै ॥
 रवि शशि हाथ गहो तिहि माहीं। खिन दहिनो खिन बायें लाई ॥
 सहस कमल सिंहासन राजै। अनहद झालर नित ही बाजै ॥
 इहि विधि आरति साँची सेवा। परमपुरुष देवन को देवा ॥
 चरणदास शुकदेव बतावैं। ऐसी आरति पार लगावैं ॥⁴⁸
- 28 गुरुदेव हमारे आवो जी।
 बहुत दिनों से लगो उमाहो आनंद मंगल लावोजी ॥[‡]
 पलकन पंथ बुहारूँ तेरो नैनन परि पग धारोजी।
 बाट तिहारी निशिदिन देखूँ हमरी ओर निहारोजी ॥
 करौँ उछाह बहुत मन सेती आंगन चौक पुराबोंजी।
 करूँ आरती तन मन वारूँ बारबार बलि जावों जी ॥
 दे परिक्रमा शीश नवाऊँ सुनि सुनि वचन अघाऊँ जी।
 गुरु शुकदेव चरणहीदासा दर्शन माहिं समाऊँ जी ॥⁴⁹

* साज=सामग्री।

† सुखमन=सुषुम्ना नाड़ी।

‡ उमाहो=उमंग।

- 29 गुरु बिन कौन दुबोवनहारा।
 ब्रह्म समुंद में जो कोई बूड़ो, छुटि गये सकल विकारा ॥
 सिंधु अथाह अगाध अचल है, जाको वार न पारा।
 वाकी लहर मित्त वाही में, कौन तरै को तारा ॥
 त्रैगुण रहित सदा ही चेतन, ना काहूँ उनहारा ॥^{*}
 निराकार आकार न कोई, निर्मल अति निरधारा ॥
 अक्रिय अलख अरूप अनादी, तिमिर नहीं उजियारा।
 तामें अण्ड दिपत ऐसे करि, ज्यों जल मध्ये तारा ॥[†]
 काल-ज्वाल भै-भूती नाहीं, तहाँ नहीं भ्रम भारा।
 चरणदास शुकदेव दया सों, बूड़ि गये ही पारा ॥⁵⁰
- 30 गुरु बिन मेरे और न कोय। जग के नाते सब दिये खोय ॥
 गुरु ही मात पिता अरु बीर। गुरु ही सम्पति जीव शरीर ॥
 गुरु ही जाति वरण कुल गोत। जहाँ तहाँ गुरु संगी होत ॥
 गुरु ही तीरथ बरत हमार। दीन्हे और धरम सब डार ॥
 गुरु ही नाम जपौँ दिन रैन। गुरु को ध्यान परम सुख दैन ॥
 गुरु के चरणकमल कर वास। और न राखूँ कोई आस ॥
 जो कुछ चाहैं गुरु ही करैं। भावैं छाँह धूप लै धरैं ॥
 आदिपुरुष गुरु ही कूँ जानूँ। गुरु ही मुक्तीरूप पिछानूँ ॥
 चरणदास के गुरु शुकदेव। और न दूजा लागै लेव ॥⁵¹
- 31 गुरु बिन वह घर कौन दिखावै।
 जेहिं घर अग्नि जलै जल माहीं यह अचरज दरसावै ॥
 काम धेनु जहँ ठाढ़ी सोहैं नैन हाथ बिन दुहना।
 घाये दूधा थोड़ा देवै भूखे देवै दूना ॥
 पीवैं जन जगदीस पियारे गुरुगम बहुत अघावैं।
 मूरख कायर और अजोगी सो ये नेक न पावैं ॥

* उनहारा=समानता।

† दिपत=प्रकाशित।

अमृत अँचवै वा पद पद पहुँचै महा तेज को धारै।
 होय अमर निस्चल है बैठै आवा गवन निवारै॥
 भेद छिपावै तौ फल पावै काहू से नहिं कहिये।
 वह अद्भुत है ठौर अनूठी बड़ भागन सूँ लहिये॥
 या साधन के बहु रखवारे ऋषि मुनि देवत जोगी।
 करन न देवैं बुधि हरि लेवैं होय न गोरस भोगी॥
 लोभी हलके को नहिं दीजै कहैं सुकदेव गोसाईं।
 चरनदास त्यागी बैरागी ताहि देहु गहि बाँहीं॥⁵²

32 घट में खेलि ले मन खेला।

सकल पदारथ घट ही माहीं, हरि सों होय जु मेला॥
 घट में देवल घट में जोती, घट में तीरथ सारे।
 बेगहि आव उलटि घट माहीं, बीतै परबी न्हारे॥*
 घट में मानसरोवर सूभर, मोती और मराला।†
 घट में ऊँचा ध्यान शब्द का, सोहं सोहं माला॥
 घट में बिन सूरज उजियारा, राति दिना नहिं सूझै।
 अमृत भोजन भोग लगत है, बिरला जन कोइ बूझै॥
 घट में पापी घट में धर्मी, घट में तपसी योगी।
 गुण अवगुण सब घट ही माहीं, घट में वैद्य रु रोगी॥
 रामभक्ति घट ही में उपजै, घट में प्रेम प्रकासा।
 शुकदेव कहैं चौथा पद घट में, पहुँचै चरणहिदासा॥⁵³

33 चहुँदिशि झिलमिल झलक निहारी।

आगे पीछे दहिने बायें, तल ऊपर उजियारी॥
 दृष्टि पलट त्रिकुटी हो देखै, आसन पद्म लगावै।
 संयम साधै दृढ़ आराधै, जब ऐसी सिधि पावै॥

* बीतै=बीतती है; परबी=पर्व का दिन।

† मराला=हंस।

बिन दामिनि चमकार बहुत ही, सीप बिना लर मोती।
 दीपमालिका बहु दरशावैं, जगमग जगमग ज्योती॥
 ध्यान फलै तब नभ के माहीं, पूरण हो गति सारी।
 चन्द घने सूरज अणु की, ज्यों सूभर भरिया भारी॥*
 यह तो ध्यान प्रत्यक्ष बताया, श्रद्धा होय तो कीजै।
 कहि शुकदेव चरणहीदासा, सो हम सों सुनि लीजै॥⁵⁴

34 जग में दो तारण को नीका।

एक तो ध्यान गुरु का कीजै दूजे नाम धनी का॥
 कोटि भाँति करि निश्चय कीया संशय रहा न कोई।
 शास्त्र वेद पुराण टटोले जिनमें निकसा सोई॥
 इनही के पीछे सब जानो योग यज्ञ तप दाना।
 नौ विधि नौधा नेम प्रेम सब भक्ति भाव अरु ज्ञाना॥
 और सबै मत ऐसे मानो अन्न बिना भुस जैसे।
 कूटत कूटत बहुतै कूटा भूख गई नहिं तैसे॥
 थोथा धर्म वही पहिचानो जामें ये दो नाहीं।
 चरणदास शुकदेव कहत हैं समझि देखि मन माहीं॥⁵⁵

35 जहाँ आतम देव अभेव सेव कबहुँ न करावै।

इच्छा दुई न द्रोह कर्म नहिं भर्म सतावै॥
 जहँ जाप ताप नहिं आप तहाँ नहिं रूप न रेखा।
 जासु जाति नहिं पाँति नारि नहिं पुरुष बिसेखा॥
 पार ब्रह्म पूरन सदा है अखंड नहिं खंडिता॥
 भन चरनदास ताड़ी लगै सो सुन्न सिखर में मंडिता॥⁵⁶

* अणु की=अनेक; सूभर=बालू के कण जो धूप में चमकते हैं।

36 जहाँ काल नहिं ज्वाल भर्म नहिं तिमिर उजारा ।
जहाँ राग नहिं द्वेस जहाँ नहिं कर्म अचारा ॥
जहाँ काम नहिं क्रोध लोभ नहिं मोह न रेसा ।
जहाँ मित्र नहिं सत्रु जहाँ नहिं देस बिदेसा ॥
चरनदास इक ब्रह्म है और न दूजो कोइ तहाँ ।
भया जीव सँ ब्रह्म जब जोग जुक्ति पहुँचै जहाँ ॥⁵⁷

37 जहाँ चंद नहिं सूर जहाँ नहिं जगमग तारे ।
जहाँ नहीं त्रैदेव त्रिगुन माया नहिं लारे ॥
जहाँ बेद नहिं भेद जहाँ नहिं जोग जज्ञ तप ।
जहाँ पवन नहिं धरनि अगिन नहिं जहाँ गगन अप ॥^{*}
जहाँ रात नहिं दिवस है पाप पुन्य नहिं ब्यापई ।
आदि अंत अरु मध्य है कहैं चरनदास ब्रह्म आप ही ॥⁵⁸

38 जिन्हैं हरि भक्ति पियारी हो ।
मात पिता सहजै छुटै, छुटै सुत अरु नारी हो ॥
लोक भोग फीके लगैं, सम अस्तुति गारी हो ।
हानि लाभ नहिं चाहिये, सब आशा डारी हो ॥
जग सों मुख मोड़े रहैं, करैं ध्यान मुरारी हो ।
जित मनुवाँ लागो रहै, भइ घट उजियारी हो ॥
गुरु शुकदेव बताइया, प्रेमी गति भारी हो ।
चरणदास चारों वेद सों, औरै कछु न्यारी हो ॥⁵⁹

39 जो जन अनहद ध्यान धरै ।
पाँचौं निर्बल चञ्चल थाकै, जीवत ही जु मरै ॥
शोधै मूलबन्ध दै राखै, आसन सिद्ध करै ।
त्रिकुटी सुरति लाय ठहरावै, कुम्भक पवन भरै ॥

* अप=पानी ।

घन गरजै अरु बिजुली चमकै, कौतुक गगन धरै ।
बहुत भाँति जहाँ बाजन बाजैं, सुनि सुनि सन्ध अरै ॥^{*}
सहज सहज में हो परकाशा, बाधा सकल हरै ।
जग की आस बास सब छूटै, ममता मोह जरै ॥
शून्य शिखर पर आपा बिसरै, काल सों नाहिं डरै ।
चरणदास शुकदेव कहत हैं, सब गुण ज्ञान गरै ॥⁶⁰

40 जो नर हरि धन सों चित लावै ।
जैसे तैसे टोटा नहीं लाभ सवाया पावै ॥
मन करि कोठी नाम खजानो भक्तिदुकान लगावै ।
पूरा सतगुरु साझी करिकै संगति वणिज चलावै ॥
हुंडी ध्यान सुरति लै पहुँचै प्रेम नगर के माहीं ।
सीधा साहूकारा साँचा हेर फेर कछु नाहीं ॥
जित सौदागर सबही सुखिया गुरु शुकदेव बसाये ।
चरणहिदास विलमि रहे हवाई जूनीपन्थ न आये ॥[†] ⁶¹

41 तरसैं मेरे नैन, हेली राम मिलन कब होयगो ।
पिय दर्शन बिन क्यों जिऊँ री, अरी हेली कैसे पाऊँ चैन ॥
तीर्थ बर्त बहुतै किये री, अरी हेली चितदै सुने पुरान ।
बाट निहारत ही रहूँ री, छाँड़ि दई कुल कान ॥
लगी उमाहे ही रहूँ री, अरी हेली सुधि नहिं लीनी आय ।
यह यौवन योंही चलो री, चालो जन्म सिराय ॥
बिरहा दल साजे रहै री, अरी हेली छिन छिन में दुख देह ।
मन लालन के वश परो, भई भाख सी देह ॥[‡]
गुरु शुकदेव कृपा करो जी, अरी हेली दीजै बिरह छुटाय ।
चरणदास पिय सँ मिलै, शरण तुम्हारी धाय ॥⁶²

* सन्ध=निष्ठावान साधक ।

† जूनीपन्थ=पुनर्जन्म का रास्ता ।

‡ लालन=प्रीतम; भाख=भट्टा, पजावा ।

42 तू सदा सोहागिनि नारी है।
 पिय के संग मिली मद पीवै, ताते लागत प्यारी है॥
 भँवरगुफा में भवन बनायो, बिन घृत ज्योती जारी है।
 सुषमन सेज महा सुखदायी, भोगत भोग दुलारी है॥
 वश कियो कंथा चलै न पंथा, टोना डारो भारी है।
 आठ पहर तुम्हरे रँग राचो, हमको मिलै न वारी है॥
 पति मनमानी सो पटरानी, सोई रूप उज्यारी है।
 हम चारों जो सौति तुम्हारी, तुम गुण आगे हारी हैं॥
 चरणहिदास भई तोहि सेवै, लगी रहैं नित लारी हैं।
 शुकदेवा शिर छत्र हमारो, सो वश भयो तुम्हारी है॥⁶³

43 तेरे बहुत रूप बहु बानी।
 तूही एक अनेक भयो है, जिन जानी जिन जानी॥
 रवि शशि विष्णु महेश्वर तूही, तूही चतुर बिनानी॥
 ऋषि मुनि देवत सिद्ध तूही है, तूही है ब्रह्मज्ञानी॥
 तुव बिन दूजो और न पइये, गावत वेद पुरानी॥
 कोऊ कहै माया है दूजी, तो वह कित सों आनी॥
 तू आकाश पवन अरु पावक, तू धरती तू पानी॥
 तीनों गुण तोही सों निकसे, तोही माहिं समानी॥
 दश अवतार तूही धरि आयो, तू इष्टी तू ध्यानी॥
 तूही रास तुहि रास खिलइया, तू ठाकुर ठकुरानी॥
 तूही गुरु शुकदेव बिराजै, चरणदास सिख मानी॥
 गुप्त प्रकट सब तूही तूहै, अद्भुत लीला ठानी॥⁶⁴

44 त्रिकुटी में तीरथ अगम तिरबेनी जेहिं नाम।
 न्हाय जोग की जुक्ति सँ पूरन हों सब काम॥
 रनजीत कहैं जहँ न्हाइये त्रिकुटी तीरथ धाम।
 नित परबी जहँ होत है भजन करौ निःकाम॥

जा तीरथ को पवन न लागै। जा तीरथ में जन अनुरागै॥
 जा तीरथ में पवन अनेका। पूरे गुरु सँ मिलि मिलि देखा॥
 वा तीरथ में जो कोइ न्हावै। भवसागर में बहुरि न आवै॥
 जहाँ न चंद्र सूर नहिं तारे। गुरुगम पहुँचै अति मतवारे॥
 जा तीरथ का बँधा जो नीर। उज्जल निरमल गहिर गँभीर॥
 ब्रह्मा बिस्नु जहाँ त्रय देवा। जोग जुक्ति में लावैं सेवा॥
 बारह मास दामिनी दमकै। सोन पटीला जुगनू झमकै॥^{*}
 रनजीत मीत बास जहँ कीजै। नित अस्नान महा सुख लीजै॥^{† 65}

45 थोथे सुमिरण कहा सरे।
 मन के रोग शोक नहिं खोये, हिंसा डूबे अकस जरे॥
 नारी सुत सँ मोह कियो है, नेक न हरि के प्रेम अरे।
 कुल नाते परिवार सँभारे, साधुन की नहिं टहल करे॥
 माला तिलक सुधारि सँवारे, राखत छल बल मकर घने॥
 अन्तर और निरन्तर औरै, सिंह गऊ मुख रहत बने॥
 ऐसी भक्ति मुक्ति नहिं पावै, करम लगे अरु नरक परे।
 यम के दण्ड दहन पावक की, जनम मरण यों नाहिं टरे॥
 लक्षण प्रेम सहित जप कीजै, भीतर बाहर उघर नचे।
 चरणदास शुकदेव कहत हैं। हरि रीझैं जग व्याधि बचे॥⁶⁶

46 दम का नहीं भरोसा रे, करि ले चलने का सामान।
 तन पिंजरे सों निकसि जायगो, पल में पक्षी प्रान॥
 चलते फिरते सोवत जागत, करत खान अरु पान॥
 क्षण क्षण क्षण क्षण आयु घटत है, होत देह की हान॥
 माल मुल्क अरु सुख सम्पति में, क्यों हूवा गलतान॥
 देखत देखत बिनशि जायगो, मत करि मान गुमान॥

* दामिनी=बिजली।

† रनजीत=सन्त चरनदास जी इस नाम से भी पुकारे जाते थे।

कोई रहन न पावै जग में, यह तू निश्चय जान।
अजहूँ समुझि छाँड़ि कुटिलाई, मूरख नर अज्ञान॥
टेरि चितावैं ज्ञान बतावैं, गीता वेद पुरान।
चरणदास शुकदेव कहत हैं, रामनाम उर आन॥⁶⁷

47 दुनिया मगन भये धन धाम।
लालच मोह कुटुंब के पागे, बिसरि गये हरिनाम॥
एक घरी छुटकारो नाहीं, बाँध रहे आठों याम।
पाँच प्रहर धंधे में माते, तीन प्रहर सँग बाम॥
फूले फिरत महा गर्वाये, पवन भरे ये चाम।
दीप कलश ज्यों विनशि जायगो, या तन को यहि काम॥
साधु संग गुरुसेव न कीन्ही, सुमिरे ना श्रीराम।
चरणदास शुकदेव कहत हैं, कैसे पावै ठाम॥⁶⁸

48 निरन्तर अटल समाधि लगाई।
ऐसी लगी टरै नहिं कबहूँ, करणी आश छुटाई॥
काको जप तप ध्यान कौन को, कौन करै अब पूजा।
कियो विचार नेक नहिं निकसै, हरि बिन और न दूजा॥
मुद्रा पाँच सहजगति साधी, आलस आसन सोई।
सब रस ब्रह्म मूल जब शोधा, आप विसर्जन होई॥
भूलो बन्ध मुक्ति गति साधन, ज्ञान विवेक भुलाना।
आतम अरु परमातम भूला, मन भयो तत गलताना॥
अचल समाधि अन्त नहिं ताको, गुरु शुकदेव बताई।
चरणदास को खोज न पड़ये, सागर लहरि समाई॥⁶⁹

49 पग तब होवैं सुद्ध साधु के पग को ध्यावै।
हस्त सुद्ध तब होयँ दोऊ कर सीस नवावै॥
नैन सुद्ध तब होयँ साध के दर्सन पावै।
रसन सुद्ध तब होय राम गुन मुख सूँ गावै॥

भन चरनदास सब सुद्ध होय जब चरन परस गुरदेव के।
वै आतम तत्व बिचार दें कर दरसन अलख अभेव के॥^{* 70}

50 पतित उधारण बिरद तुम्हारो।[†]
जो यह बात साँच है हरिजी तो तुम हमको पार उतारो॥
बालपने अरु तरुण अवस्था और बुढ़ापे माहीं।
हम से भई सभी तुम जानो तुमसे नेकहु छानी नाहीं॥
अनगिन पाप किये मनमाने नखशिख अवगुण धारी।
हिरि फिरिकै सुनि शरणै आयो अब तुमको है लाज हमारी॥
शुभ करमन को मारग छूटो आलस निद्रा घेरो।
एकहि बात भली बनि आई जग में कहायो तेरो चेतो॥
दीनदयाल गुपाल विश्वंभर श्रीशुकदेव गुसाई।
जैसे और पतित घन तारे चरणदास की गहिये बाहीं॥⁷¹

51 प्रभुजी शरण तिहारी मैं आयो।
जो कोइ शरण तिहारी नाहीं भरमि भरमि दुख पायो॥
औरन के मन देवी देवा मेरे मन तुहि भायो।
जबसों सुरति सँभारी जग में और न शीस नवायो॥
नरपति सुरपति आस तिहारी यह सुनिकरि मैं धायो।
तीरथ बरत सकल फल त्यागे चरणकमल चित लायो॥
नारदमुनि अरु शिव ब्रह्मादिक तेरोहि ध्यान लगायो।
आदि अनादि युगादि तेरो यश वेद पुराणन गायो॥
अब क्यों न बाँह गहो हरि मेरी तुम काहे विसरायो।
चरणदास कहै करता तूही गुरु शुकदेव बतायो॥⁷²

* अभेव=जिसका भेद न मिले।

† बिरद=कीर्ति।

52 प्रेम नगर के माहिं होरी होय रही ।
जब सों खेली हम हूँ चित दै आपन हूँ को खोय रही ॥
बहुतन कुल अरु लाज गँवाई रहो न कोई काम ।
नाचि उठैं कभी गावन लागैं भूले तन धन धाम ॥
बहुतन की मति रंग रंगी है जिन् को लागो प्रेम ।
बहुतन को अपनी सुधि नाही कौन करै अस नेम ॥
बहुतन की गदगद ही बानी नैनन नीर ढराय ।
बहुतन की बौरापन लागी ह्वाँ की कही न जाय ॥
प्रेमी की गति प्रेमी जानै जाके लागी होय ।
चरनदास उस नेह नगर की सुकदेवा कहि सोय ॥⁷³

53 ब्राह्मन सो जो ब्रह्म पिछानै । बाहर जाता भीतर आनै ॥
पाँचौ बस करि झूठ न भाखै । दया जनेऊ हिरदे राखै ॥
आतम बिद्या पढ़ै पढ़ावै । परमात्म का ध्यान लगावै ॥
काम क्रोध मद लोभ न होई । चरन दास कहैं ब्राह्मन सोई ॥⁷⁴

54 भाई रे समझ जग ब्यौहार ।
जब ताई तेरे धन पराक्रम, करैं सब ही प्यार ॥
अपने सुख को सबहि चाहैं, मित्र सुत अरु नारि ।
इन्हौं तौ अपवश कियो है, मोह बेड़ी डारि ॥^{*}
सबन तोको भय दिखायो, लाज लकुटी मार ॥[†]
बाजीगर के बांदरा ज्यों, फिरत घर घर द्वार ॥
जबै तोको बिपति आवै, जरा कोर बिकार ।
तबै तोसूँ लाज मानैं, करैं ना तेरी सार ॥
इनकी संगति सदा दुःख है, समझ मूढ़ गवार ।
हरि प्रियतम को सुमिरि ले, कहै चरणदास पुकार ॥⁷⁵

* अपवश=अपने वश में ।

† लकुटी=लाठी ।

55 भाई रे स्वपन यह संसार ।
देह स्वपना जन्म स्वपना, स्वपन कुल ब्योहार ॥
माय स्वपना बाप स्वपना, स्वपन सुत अरु नारि ।
लाज स्वपना जाति स्वपना, स्वपन अस्तुति गारि ॥
योग स्वपना भोग स्वपना, किये वेद निषेद ॥^{*}
स्वपन सो जो होय मिटि है, स्वपन सुख अरु खेद ॥
बन्ध स्वपना मुक्ति स्वपना, स्वपन ज्ञान विचार ।
स्वपन है सो बिनशि जैहै, रहैगो ततसार ॥
चरणदास स्वपना ब्रह्म साँचो, एकरस नित जान ।
सत्य स्वपना झूठ स्वपना, कहा कहूँ निर्वान ॥⁷⁶

56 मन में दीरघ भये विकारा ।
सतगुरु साहब बैद मिले बिनु, कटै न रोग अपारा ॥
त्रै गुण के त्रै दोष पगा है, काम क्रोध ज्वर जारा ॥[†]
तृष्णा वायु उठी उर अन्तर, डोलत द्वारहि द्वारा ॥
विषय वासना पित कफ लागो, इन्द्रिन के सुख सारा ॥
सत्संगति रस कड़वा लागे, करत न अङ्गीकारा ॥
सतपुरुषन को कहा न मानै, शील क्षमा नहिं धारा ।
रसना स्वाद तजौ नहिं मूरख, आपनपा न सँभारा ॥
चरणदास शुकदेव मिले जब, औषध ज्ञान विचारा ।
तन मन को सब रोग मिटायो, आवागमन निवारा ॥⁷⁷

57 माला फेरी कहा भयो ॥
अन्तर के मन को नहिं फेरा, पाप करत सब जन्म गयो ॥
परनिन्दा परनारि न भूलो, खोट कपट की ओर नयो ।
काम क्रोध मद लोभ न खोये, ह्वै रह्यौ मूरख मोह मयो ॥

* निषेद=निषेध ।

† पगा=भरा है ।

दुनियाँ साँच समझ घर कीन्हो, धन जोरन को परन लयो।
 दया धर्म दोउ मारग छोड़े, मँगतन को नहिं दान दयो॥
 गुरु सों झूठ भगल साधन सों, हरि को नाहीं नेह जयो।*
 चरणदास शुकदेव कहत हैं, कैसे कहियो मुक्त हयो॥† 78

58 मैं कोइ अजब हूँ मेरा अजब तमाशा जोर।
 मेरेहि पिण्ड खण्ड ब्रह्मण्डा, मैं पूरण सब ठौर॥
 मैं ब्रह्मा मैं विष्णु महादेव, मैं कमला मैं गौर।‡
 मैं रवि चन्द्र इन्द्र इन्द्राणी, मैं गरजत घनघोर॥
 मैं गुण तीन पाँच तत मैं हीं, मैं दश-दिशि चहुँओर।§
 मैं निहरूप रूप धरि नाना, निशि दिन करत किलोर॥
 मैं गुप्ता मैं मुक्ता परगट, मैं ही भर्म झकोर।
 चरणदास मो बिन नहिं रंचक, दूजा कोई और॥79

59 मो कूँ कछु न चहिये राम।
 तुम बिन सबहीं फीके लागैं, नाना सुख धन धाम॥
 आठ सिद्धि नौ निद्धि आपनी, और जनन को दीजै।
 मैं तौ चरो जन्म जन्म को, निज करि अपनो कीजै॥
 स्वर्ग फलन की मोहिं न आसा, ना बैकुंठ न मोच्छहिं चाहूँ।
 चरन कमल के राखौ पासा, यहि उर माहिं उमाहूँ॥
 भक्ति न छोड़ूँ मुक्ति न माँगूँ, सुन सुकदेव मुरारी।
 चरनदास की यही टेक है, तजूँ न गैल तुम्हारी॥80

60 मोको भय अति वाही दिन को।
 जब यह पक्षी माया लोभी, त्यागै पिंजरा तन को॥

* जयो=जाना।

† हयो=होगी।

‡ कमला=लक्ष्मी; गौर=पार्वती।

§ दश-दिशि=दस दिशाएँ - पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, पृथ्वी, आकाश।

सुत दारा के मोह फँसो है, लोभ लगे है धन को।
 काम क्रोध को काँपा-खायो, भयो अधीन सबन को॥*
 पाँच पहर धन्धे में खोया, नाम न लेत भजन को।
 तीन पहर नारी संग मातो, मानत सुख इन्द्रिन को॥
 आपन को ऊँचो करि जानै, करि अभिमान बरन को।†
 सत संगति के निकट न आवै, जो है ठाट तरन को॥
 यम किंकर जब आनि गहँगे, तब ना धीर धरन को।
 गुरु शुकदेव सहाय करैंगे, आसरो दास चरन को॥81

61 यह अवसर फिर नाहिं हेली, राम भजन करि लीजिये।
 यह तन क्षण क्षण जात है री, अरी हेली ज्यों तरुवर की छाँह॥
 पिछले दिन सब खो दिये री, अरी हेली कियो न हरि सों सीर।
 रहे सो ऐसो जानिले, ज्यों अंजलि को नीर॥
 बचै सो लाहा लीजिये री, अरी हेली सतसंगति के माहिं।‡
 हिलमिल हरियश गाइये, दृढ़ता जी की बाहिं॥
 जन्म सुफल जब होयगो री, अरी हेली कुल पारायण होय।
 एकरु सौ पीढ़ी तरैं, रसना हरिगुण पोय॥
 यही स्मृति यहि वेद है री, अरी हेली यहि साधन को भेव।
 चरणदास हिय में धरो, कहिया गुरु शुकदेव॥82

62 राखो जी लाज गरीब निवाज।
 तुम बिन हमरे कौन सँवारे सबही बिगरेँ काज॥
 भक्तवच्छल हरि नाम कहावो पतित उधारणहार।
 करो मनोरथ पूरण जन के शीतल दृष्टि निहार॥

* काँपा=लासा जिससे चिड़ियाँ फँसती हैं।

† बरन=जाति-पौति।

‡ लाहा=लाभ।

तुम जहाज मैं काग तिहारो तुम तजि अनत न जाऊँ।
जो तुम हरि जी मारि निकासो और ठौर नहिं पाऊँ॥
चरणदास प्रभु शरण तिहारी जानत सब संसार।
मेरी हँसी सो हँसी तिहारी तुमहूँ देखि विचार॥⁸³

63 रामगुण कोई न जाने हो।

शेश महेश गणेश अरु ब्रह्मा रहे थकाने हो॥
सुरति निरति बुधि गम नहीं सब देव लुभाने हो।
सनकादिक नारदहू हारे कौन बखाने हो॥
योगी जंगम ऋषी मुनी तपसी सुर ज्ञाने हो।
ध्यान लगावें अन्त न पावें गये हिराने हो॥
पशू मनुष कहा कहि सकै बिषय रस लपटाने हो।
चरणदास शुकदेव दया यह बात पिछाने हो॥⁸⁴

64 रामा रामा जी, सुनिलीजै बिनती मेरी। मैं शरण गही है तेरी॥
तैं बहुतै पतित उधारे। भव जल सुँ पार उतारे॥
हौं सब को नाम न जानूँ। अब कोई कोइ भक्त बखानूँ॥
अँबरीष सुदामा नामा। सो पहुँचाये निजधामा॥
ध्रुव पाँच बरष को बाला। तैं दरशन दियो गोपाला॥
प्रह्लाद टेक तुम राखी। यों जानत हैं सब साखी॥
शबरी के फल तुम खाये। त्रयलोचन के घर आये॥
पण्डवन की करी सहाई। द्रौपदी की लाज बचाई॥
गणिकाहू पार लगाई। करमा की खिचरी खाई॥
मीराँ तुम्हरे रँगभीनी। नरसी की हुँडी लीनी॥
धन्ना को खेत जमायो। तैं साग बिदुर घर पायो॥
कबिरा के बालद लाये। सब काज किये मनभाये॥*

* बालद=सामग्रियों से युक्त बैलों का समुदाय।

सदना से सैना नाई। तैं बहुत किये मुकताई॥
ग्राह सुँ गज जाय छुटायो। तैं मोकूँ क्यों बिसरायो॥
सनकादिक ब्रह्मा ध्यावैं। तेरा शेष आदि यश गावैं॥
तेरा वेद पार नहिं पाया। जिन नेति नेति बतलाया॥
मैं काम क्रोध ने घेरा। ममता की उर उरझेरा॥
मोह लोभ के फन्दे परिया। तेरा नाम बिसरि दुख भरिया॥
अब तुम ही करो निबेरा। मोहि जानि चरण को चेरा॥
मैं पापी महा सन्तापी। अपराधी बहुत कलापी॥
तुम छाँड़ि कासु पै जाऊँ। यह दुख कौने समझाऊँ॥
शुकदेव गुरु मैं पाया। जिन तेराहि नाम बताया॥
चरणदास आपनो कीजै। मोहिं भक्तिदान वर दीजै॥⁸⁵

65 वह अक्षर कोई बिरला पावै।

जा अक्षर के लाग न बिन्दी, सतगुरु सैनहिं सैन बतावै॥
क्षर ही नाद वेद अरु पंडित, क्षर ज्ञानी अज्ञानी॥
बावन अक्षर क्षर ही जानौ, क्षर ही चारों बानी॥
ब्रह्मा शेष महेश्वर क्षर ही, क्षर ही त्रैगुण माया॥
क्षर ही सहित लिये अवतारा, क्षर ह्वौ तक जहाँ काया॥
पाँचों मुद्रा योग युक्ति क्षर, क्षर ही लगै समाधा॥
आठों सिद्धि मुक्तिफल क्षर ही, क्षर ही तन मन साधा॥
रवि शशि तारा मण्डल क्षर ही, क्षर ही धरणि अकासा॥
क्षर ही नीर पवन अरु पावक, नरक स्वर्ग क्षर वासा॥
क्षर ही उतपति परलय क्षर ही, क्षर ही जाननहारा॥
चरणदास शुकदेव बतावैं, निह अक्षर है सबसों न्यारा॥⁸⁶

66 वह वैरागी जानिये जाके राग न दोष।*
निर्बन्ध है जग में फिरै चाहै सिद्धि न मोक्ष॥
पाँचन को एकै करै अनहद में रोक।
त्रैगुण ते ऊपर बसै जहाँ हर्ष न शोक॥
मन मूँडै तन साधि के बाधा सब डार।†
तत्त्व तिलक माथे दिपै शोभा अपरम्पार॥‡
माला श्वास उसास की हिरदय अस्थान।
अलख पुरुष सों नेहरा त्रिकुटी मध्य ध्यान॥
काम क्रोध मोह लोभ ना यही नेम अचार।
शुकदेव कही चरणदास सों करै ब्रह्मविचार॥⁸⁷

67 वा पद राम सों करि नेह।
विष की बूंद न पड़ये जित ह्वाँ, बरषत अमृत मेह॥
चमकत बिजुली गरजत गगना, बाजत अनहद घोर।
यह मन थकित गलित जित पाँचों, मिटिहैं निशि अरु भोर॥
जाग्रत मिटि है स्वप्नो मिटि है, मिटिहु सुषोपति जाय।
षट ऋतु पड़ये नाहिंन अवधू, एकहि रस दर्शाय॥
बिनही जोते बिनही बोये, उपजत खेत है धीर।
लागत अचरज फल महा मुक्ता, बिनही सींचे नीर॥
राजा गुरु शुकदेव न बाँटैं, सबहि करें बकसीस।
चरणदास रास सब पावै, मिलि है बिस्वेबीस॥⁸⁸

68 सखी री हिलमिल रहिया पीव।
पुष्प मध्य ज्यों गंध विराजै, पिंड माहिं यों जीव॥
जैसे अगनि काष्ठ के अन्तर, लाली है मेहँदीव।
माटी में भाँडे हैं तैसे, दूध मध्य ज्यों घीव॥[§]

* दोष=द्वेष।

† मूँडै=रोके।

‡ दिपै=चमकता है।

§ घीव=ज्ञान का दीपक।

शुकदेवा गुरु तिमिर नशायो, ज्ञान दियो कर दीव।
चरणदास कहैं परगट दरशो, अमर अखंडित सीव॥^{* 89}

69 सतगुरु अक्षर मोहिं पढ़ायो।
लेखन लिखा न स्याही सेती, ना वह कागज मध्य चढ़ायो॥
ना लग मात न माथे बिन्दी, अरुण पीत नहिं काला।
एँड़ा बेंड़ा टेढ़ा नाहीं, ना वह आल जँजाला॥
ताको देखि थकी सब करणी, सबही साधन भागे।
सिद्धें भईं भोर के तारे, मुक्ति न दीखै आगे॥
जाके पढ़े पढ़न सब छूटै, आशा पोथी फारी।
मैं तो भया करम का हीना, कहै सरस्वति ठाढ़ी॥
गुरु शुकदेव पढ़ायो अक्षर, अगम देश चटशाला।†
चरणदास जब पण्डित हूये, धारि तिलक अरु माला॥⁹⁰

70 सतगुरु निज पुर धाम बसाये।
जित के गये अमर है बैठे भवजल बहुरि न आये॥
जोगी जोग जुक्ति करि हारे ध्यानी ध्यान लगावै।
हरि जन गुरु की दया बिना यों दृष्टि नहीं दरसावै॥
पंडित मुंडित चुँडित दूँदैं पढ़ि सुनि बेद पुरानै।
जा सँ वै सब पायो चाहैं सो तौ नेति बखानै॥
जंगम जती तपी सन्यासी सब हीं वा दिसि धावैं।
सुरति निरति की गम जहँ नाहीं वै कहो कैसे पावैं॥
देस अटपटा बेगम नगरी निगुरे राह न पाया।
चरनदास सुकदेव गुरु ने किरपा करि पहुँचाया॥⁹¹

* सीव=स्वामी।

† चटशाला=पाठशाला।

71 सतगुरु भवसागर डर भारी।
काम क्रोध मद लोभ भँवर जित, लरजत नाव हमारी॥
तृष्णा लहर उठत दिन राती, लागत अति झकझोरा।
ममता पवन अधिक डरपावै, काँपत है मन मोरा॥
और महा डर नाना विधि के, क्षण क्षण में दुख पाऊँ।
अन्तरयामी विनती सुनिये, यह मैं अरज सुनाऊँ॥
गुरु शुकदेव सहाय करो अब, धीरज रहा न कोई।
चरणदास को पार उतारो, शरण तुम्हारी सोई॥⁹²

72 सन्त समान नहीं कोई शूरा।
मोह सहित सब सेना मारी, ऐसो साँवत पूरा*॥
क्षमा कि ढाल गही कर अपने, बाँधे सत तरवारा।
कर्म भर्म के दल को पेलै, पल पल बारंबारा॥
सुरत को तीर हृदय को तरकस, ध्यान कमान बनावै।
प्रेम हाथ मुँ खँचन लागे, चोट निशाने लावै॥
बुद्धि विवेक कटारी बाँधे, वचन विलास की बरछी।
सतपुरुषो कहियरे बेधै, कहि कहि बतियाँ तिरछी॥
चित में चाव चौगुनो उनके, सुन सुन अनहद तूरा।
अगम पंथ सों पग न डिगावै, होय जाय चकचूरा॥
मन हुलास आस धरि पीकी, सुन्न खेत में धावै।
चरणदास शुकदेव कहत हैं, अमरलोक पद पावै॥⁹³

73 सब जग पाँच तत्त्व का उपासी।
तुरियातीत सबन सों न्यारा, अविनाशी निर्वासी॥
कोई पूजै देवल मूर्ति, सो पृथ्वी तत्त्व जानौं।
कोई न्हावै पूजै तीरथ, सो जल को तत्त्व मानौं॥

* साँवत=श्रेष्ठ वीर।

अग्निहोत्र अरु सूरज पूजा, सो पावक तत्त्व देखा।
पवन खँचि कुंभक को राखै, वायु तत्त्व को लेखा॥
कोई तत्त्व आकाश को पूजै, ताको ब्रह्म बतावै।
जो सब के देखन में आवै, सो क्यों अलख कहावै॥
परमतत्त्व पाँचों से आगे, गुरु शुकदेव बखानै।
चरणदास निश्चय मन आनो, बिरला जन कोई जानै॥⁹⁴

74 समझौ रे भाई लोगो, समझौ रे हम कहत पुकारैं।
अरे ह्याँ नहिं रहना, करना अन्त पयाना॥
मोह कुटुंब के औसर खोयो, हरि की सुधि बिसराई।
दिन धन्धे में रैन नौद में, ऐसे आयु गवाई॥
आठ पहर की साठौं घरियाँ, सो तैं बिरथा खोई।
क्षण इक हरि को नाम न लीन्हो, कुशल कहाँ ते होई॥
बालक था जब खेलत डोला, तरुण भया मदमाता।
वृद्ध भये चिन्ता अति उपजी, दुख में कछु न सुहाता॥
भूलो कहा चेत नर मूरख, काल खड़ो शर साँधे।
बिष को तीर खँचि कै मारै, आय अचानक बाँधे॥
झूठे जग से नेह छोड़ करि, साँचो नाम उचारो।
चरणदास शुकदेव कहत हैं, अपनो भलो बिचारो॥⁹⁵

75 सहजगति ज्ञान समाधि लगाई।
रूप नाम जहाँ किरिया छूटी, हूँ मैं रहन न पाई॥
बिन आसन बिन संयम साधन, परमात्म सुधि पाई।
शिव शक्ती मिलि एक भये हैं, मन माया न हिराई॥
मगन रहौं दुख सुख दोउ मेटे, चाह अचाह मिटाई।
जीवन मरण एक सो लागै, जबते आप गवाई॥
मैं नाहीं नख शिख हरि राजैं, आदि अन्त मध्याई।
शङ्का कर्म कौन को लागै, काकी होय मुकताई॥

सकल आपदा व्याधि ठरी सब, दुई कहाँ मो माहीं।
सब हमहीं रामा नहिं पईये, सब रामा हम नाहीं॥
नित आनन्द काल भय नाहीं, गुरु शुकदेव समाधी।
चरणदास निज रूप समाने, यह तो समझ अगाधी॥⁹⁶

76 साधो जो पकरी सो पकरी।

अब तो टेक गही सुमिरण की, ज्यों हारिल की लकरी॥^{*}
ज्यों शूरा ने शस्तर लीन्हो, ज्यों बनिये ने तखरी।[†]
ज्यों सतवंती लियो सिंधौरा, तार गह्यो ज्यों मकरी॥
ज्यों कामी कूँ तिरिया प्यारी, ज्यों किरपण कूँ दमरी।[‡]
ऐसे हम कूँ राम पियारे, ज्यों बालक कूँ ममरी॥[§]
ज्यों दीपक कूँ तेल पियारो, ज्यों पावक कूँ समरी॥[¶]
ज्यों मछली कूँ नीर पियारो, बिछुरे देखै यमरी॥
साधों के संग हरि गुण गाऊँ, ताते जीवन हमरी।
चरणदास शुकदेव दृढ़ायो, और छुटी सब गमरी॥⁹⁷

77 साधो निन्दक मित्र हमारा।

निन्दक को निकटे ही राखौं, होन न देऊँ न्यारा॥
पाछे निन्दा करि अघ धोवै, सुनि मन मिटै विकारा॥
जैसे सोना ताय अग्नि में, निर्मल करै सोनारा॥
घन अहरन कस हीरा निबटै, कीमत लाख हजार।
ऐसे जाँचत दुष्ट सन्त को, करन जगत उजियारा॥

* अब...लकरी=एक चिड़िया जो लकड़ी को इतनी मजबूती से पकड़ती है कि मरने पर भी नहीं छोड़ती।

† तखरी=तराजू।

‡ किरपण=कंजूस।

§ ममरी=ममता।

¶ समरी=सेमर की रूई, हवा।

योग यज्ञ जप पाप कटन हित, करै सकल संसारा।
बिन करणी मम कर्म कठिन सब, मेटै निन्दक प्यारा॥
सुखी रहौ निन्दक जग माहीं, रोग न हो तन सारा॥
हमरी निन्दा करनेवाला, उतरै भव जल पारा॥
निन्दक के चरणों की अस्तुति, भाषौं बारंबारा॥
चरणदास कहै सुनियो साधौ, निन्दक साधक भारा॥⁹⁸

78 साधौ भक्ति नफा करि लीजै, दिन दिन काया छीजै॥
मकर तजै तो मथुरा मन में कपट तजै तो कासी।
और तीर्थ सबही जग न्हाया नाहिं छुटी यम फाँसी॥
भाल तले तिरबेणी राजै बिरला जन कोइ न्हावै।
सुगरा होय सो नित उठि परसै निगुरा जान न पावै॥
काया मन्दिर में हरि कहिये वेद पुराण बतावै॥
इत उत भूले लोग फिरत हैं धोखे को सिर नावै॥
यंतर टोना मूँड हलावन ताकूँ साँच न मानो।
तजिकै सार असार गह्यो है तापर भयो सयानो॥
चरणदास शुकदेव कहत हैं निज करि मूल गहीजै॥
पारब्रह्म जिन सृष्टि उपाई ता ओरी चित दीजै॥⁹⁹

79 साधो भर्मा यह संसारा।

गतमति लोक बड़ाई उरझे, कैसे हो छुटकारा॥
भर्म पड़े नाना विधि सेती, तीरथ बर्त अचारा।
देह कर्म अभिमानी भूले, छूँछ पकरि तत डारा॥^{*}
योगी योग युक्ति करि हारे, पण्डित वेद पुराना।
षट दर्शन पग आप पुजावैं, पहिरि पहिरि रँगबाना॥

* छूँछ...डारा=सार छोड़ कर असार को पकड़ लिया।

जानत नाहिं आप हम को हैं, को है वह भगवाना।
को यह जगत कौन गति लागै, समझै ना अज्ञाना॥
जा कारण तुम इत उत डोलो, ताको पावत नाहीं।
चरणदास शुकदेव बतायो, हरि नारायण माहीं॥¹⁰⁰

80 साधो समुझो अलख अरूपा।

गुप्त सों गुप्त प्रकट सों परगट, ऐसो है निजरूपा॥
भीजै नहीं नीर सों वह तत, ताहि शस्त्र नहिं काटै।
छोटा मोटा होय न कबहुँ, नहीं घटै नहिं बाढ़ै॥
पवन कभी नहिं सोखै ताको, पावक तेज न जाँरै।
शीत उष्ण दुख सुख नहिं पहुँचै, ना वह मरै न मारै॥
इकरस चेतन अचरज दरशै, जा सम तुल नहिं कोई।
ता पटतर कोइ दृष्टि न आवै, वही वही पुनि वोई॥
भीतर बाहर पूरि रह्यो है, अण्ड पिण्ड सों न्यारा।
शुकदेवा गुरु भेद बतायो, चरणहिदासा वारा॥¹⁰¹

81 सो नैंना मोरे तुरिया ततपद अटके।

सुरति निरति की गम नहिं सजनी, जहाँ मिलन को लटके॥
भूलो जगत बकत कछु औरै, वेद पुराणन ठटके।*
प्रीति रीति की सार न जानै, डोलत भटके भटके॥
किरिया कर्म भर्म उरझरे, ये माया के झटके।
ज्ञान ध्यान दोउ पहुँचत नाहीं, राम रहीमा फटके॥
जग कुल रीति लोक मर्यादा, मानत नाहीं हटके।
चरणदास शुकदेव दया सों, त्रैगुण तजिके सटके॥¹⁰²

* ठटके=थक गये।

82 हमारे गुरु मारग बतलाया हो।

आन देव की सेवा त्यागी, अज अविनाशी ध्याया हो॥*
हरि पूरण परसो निश्चय सों, छाँड़ी झूठी माया हो।
इकरस आतम नित ही जानो, क्षणभंगी है काया हो॥
चाहैं मुक्ति करें तन किरिया, भर्म अधिक भर्माया हो।
बो करि पेड़ बबूल शूल के, आम कहो किन पाया हो॥
अपना खोज किया नहिं कबहुँ, जल पाहन भटकाया हो।
जैसे फल सेवत सेमर को, कीर अधिक पछिताया हो॥†
ज्ञान पदारथ कठिन महानिधि, बिन भेदी किन पाया हो।
चरणदास घट सोहं सोहं, तामें उलट समाया हो॥¹⁰³

83 हमारे गुरु हरि नगर दिखाया हो।

उलटी बाट घाट जहाँ नाहीं, निजपुर बास बसाया हो॥
चन्द न सूर गगन नहिं तारे, राति दिवस नहिं पाया हो।
नहीं तिमिर जहाँ चाँदनि नाहीं, नहीं धूप नहिं छाया हो॥
मन सों अगम सुगम नहिं बुधि सों, अनभय अन्त न लाया हो।‡
और कहो कैसे करि पावै, निगम नेति जेहि गाया हो॥
है प्रत्यक्ष उदय सूरज ज्यों, संपुट नाहिं छिपाया हो।
बिन गुरुगम के अंजन आँजे, दृष्टि नहीं दरशाया हो॥
जनक जहाँ शुकदेव विराजै, चरणदास मिलि धाया हो।
जग की व्याधि लगन नहिं पाई, किरपा करि पहुँचाया हो॥¹⁰⁴

84 हमारे चरण कमल को ध्यान।

मूरख जगत भरमता डोले चाहत जल असनान॥

* अज=अजन्म।

† कीर=तोला।

‡ अनभय=अनुभव।

सब तीरथ वाही सों प्रकटे गंगा आदिक जान।
जिन सेवन सब पातक नाशैं नित होवै कल्याण॥
साकत गिरही बानेधारी हैं सब ही अज्ञान।*
हरि सो हीरा छाँड़ दियो है पूजें काच पखान॥†
हरिचरणन की महिमा जानैं हैं वे सन्त सुजान।
भौंदू नर माया के चरे इनको कहा पहिचान॥
चरणदास शुकदेव गुरु ने दीन्हों अंजन ज्ञान।
साँचो प्रीतम सूझ परो है बिसरि गयो सब आन॥¹⁰⁵

85 हमारे नैना दरस पियासा हो।

तन गयो सूखि हाय हिय बाढ़ी, जीवत हूँ वहि आसा हो॥
बिछुरन थारो मरण हमारो, मुख में चलैं न गासा हो।
नींद न आवै रैन बिहावै, तारे गिनत अकासा हो॥
भये कठोर दरद नहीं जानो, तुम कूँ नैंक न साँसा हो।‡
हमारी गति दिन दिन औरैं ही, विरह वियोग उदासा हो॥
शुकदेव पियारे मत रह न्यारे, आनि करो उर बासा हो।
रणजीता अपनो करि जानो, निज करि चरणनदासा हो॥¹⁰⁶

86 हमारे राम भक्ति धन भारी।

राज न डाँड़ै चोर न चौरै लूटि सकै नहीं धारी॥
प्रभु पैसे अरु राम रुपइये मुहर मुहब्बत हरि की।
हीरा ज्ञान युक्ति के मोती कहा कमी ह्याँ जर की॥§
सोना शील भँडार भरे हैं रूपा रूप अपारा।
ऐसी दौलत सतगुरु दीन्हों जाका सकल पसारा॥

* साकत=शक्ति के उपासक।

† पखान=पत्थर।

‡ साँसा=चिन्ता।

§ जर=रुपया, धन।

बाँटों बहुत घटै नहिं कबहूँ दिन दिन ड्यौढ़ी ड्यौढ़ी।
चोखा माल द्रव्य अति नीका, बट्टा लगै न कौड़ी॥
साह गुरु शुकदेव बिराजै चरणदास बन जोटा।*
मिलि मिलि रंक भूप हो बैठे कबहूँ न आवै टोटा॥†¹⁰⁷

87 हरि को सकल निरंतर पाया।

माटी भाँड़े खाँड़ खिलौने, ज्यों तरुवर में छाया॥
ज्यों कंचन में भूषण राजै, मूरत दर्पण माहीं।
पुतली खम्भ खम्भ में पुतली, दुतिया तो कछु नाहीं॥
ज्यों लोहे में जौहर परगट, सूतहि तानै बानै।‡
ऐसे राम सकल घट माहीं, बिन सतगुरु नहिं जानै॥
मेहँदी में रंग गन्ध फूलन में, ऐसे ब्रह्म माया।
जल में पाला पाले में जल, चरणदास दरशाया॥¹⁰⁸

88 हरि बिन कौन तुम्हारो मीता।

कुटुंब सँघाती स्वारथ लागे, तेरी काहूँको नहिं चीता॥
तैं प्रभु ओरी सों मुख मोड़ा, झूठे लोगन सों हित कीता॥
अरु तैं अपनी आँखों देखा, कई बार दुख सुख हो बीता॥
सम्पति में सबही घिरि आवैं, विपति परे अधिकी दुख दीता॥
मूठी बाँध जनम नर लायो, हाथ पसारि चलैगो रीता॥
धरि धरि स्वांग फिरै तिन कारण, कपि ज्यों नाचत ताता धीता॥
मुये न संगी होहिं तिहारे, बाँध जलावैं देह पलीता॥
गुरु सेवा सतसग न कीन्ही, कनक कामिनी सों करि प्रीता॥
चरणदास शुकदेव कहत हैं, मरत मरत हरिनाम न लीता॥¹⁰⁹

* जोटा=व्यापारी, साथी।

† रंक=गरीब।

‡ जौहर=फ़ौलाद में विशेष प्रकार की रेखाएँ।

89 हे जग के करतार, तेरी कहा अस्तुति कीजै।
 तूही एक अनेक भयो है अपनी इच्छाधार॥
 तूही सिरजै तूही पालै तूही करै संहार।
 जित देखूँ तित तूही तूहै तेरा रूप अपार॥
 तूही राम नारायण तूही तूही कृष्णमुरार।
 साधों की रक्षा के कारण युग युग ले औतार॥
 तूही आदि अरु मध्य तुही है अन्त तेरा उजियार।
 दानव देव तुही सँ प्रकटे तीन लोक विस्तार॥
 जल थल में व्यापक है तूही घटघट बोलनहार।
 तो बिन और कौन है ऐसो जासों करों पुकार॥
 तूही चतुर शिरोमणि है प्रभु तूही पतित उधार।
 चरणदास शुकदेव तुही है जीवन प्राणअधार॥¹¹⁰

90 है कोइ जानै भेद हमारा।

सब हम में हम सबके माहीं, मैं व्यापक मैं न्यारा॥
 हम अडोल हम डोलत निशिदिन, हम सूक्ष्म हम भारा।
 हमहीं निर्गुण हमहीं सर्गुण, हमहीं दश अवतारा॥
 हमहीं एक बहुत हो खेलैं, हमहीं सकल पसारा।
 हमहीं ज्ञान ध्यान पुनि हमहीं, हमहीं धारणहारा॥
 हमहीं आदि अन्त पुनि हमहीं, हमहीं रूप अपारा।
 महाराज हम वार पार हैं, हमहीं जग उजियारा॥
 हमहीं गुरु शुकदेव विराजैं, हमहिं तरैं हम तारा।
 चरणदास घट हमहीं बोलैं, समझै समझनवारा॥¹¹¹

91 हो अविगत जो जानै सोइ जानै।

सब की दृष्टि परै अविनाशी, कोइ कोइ जन पहिचानै॥

रेख जहाँ नहिं खिंच सकै रे, ठहरै ना ह्वै राई।
 चित्र चितेरा ना सकै रे, पुस्तक लिखा न जाई॥
 श्वेत श्याम नहिं राता पीरा, हरी भाँति नहिं होई।*
 अतिअसूँघ अदृष्ट अकथ है, कहि सुनि सकै न कोई॥
 सर्व समय अरु सब देशन में, सर्व अंग सब माहीं।
 कटे जलै भीजै नहिं छीजै, हलै चलै वह नाहीं॥
 नहिं गाढ़ा नहिं झीना कहिये, नहिं सूक्ष्म नहिं भारी।
 बाला तरुणा बूढ़ा नाहीं, ना वह पुरुष न नारी॥
 नहीं दूर नहिं निकट हमारे, नहीं प्रकट नहिं गूझै।†
 ज्ञान आँख की पलक उघारो, जब देखो रे सूझै॥
 वासों उतपति परलय होई, वह दोऊ ते न्यारा।
 चरणदास शुकदेव दया सों, सोई तत्त्व निहारा॥¹¹²

* राता=लाल रंग का।

† गूझै=छिपा हुआ, अदृश्य।